UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178983

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—787—13-6-75—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H84 P29S Accession No. P.G.H6004

Author पाठक, आनन्दस्वरूप.

Title साहित्य और भाषाविज्ञान.

This book should be returned on or before the date last marked below.

साहित्य और भाषाशास्त्र

★

डा० आनन्द स्वरूप पाठक
एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत); पी-एच. डी , साहित्यरत्न, साहित्याचार्य

★

प्रकाशक :
शिक्षा ग्रन्थागार, मथुरा.

सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन
प्रकाशक-शिक्षा ग्रन्थागार, मथुरा.
मूल्य ४०) रुपया
मुद्रक सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

पुरोवाक्

साहित्य और भाषाशास्त्र नामक यह ग्रन्थ विविध भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य से सम्बन्धित लेखों का अनबद्य संग्रह है। इसकी रचनाएं मूलतः बाबू वृन्दावनदास अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुकी हैं। विद्वान लेखकों द्वारा लिखित इन निबन्धों में प्रतिपादित विषय सर्वथा नवीन तथा अछूते हैं। अतः मेरे सुझाव पर बाद में यह निश्चय किया गया कि इस उच्चकोटि की साहित्यिक और चिन्तन प्रधान सामग्री को स्वतन्त्र रूप में हिन्दी जगत के सामने प्रस्तुत किया जाय ताकि रुचि रखने वाले पाठकों एवं विद्वानों को यह सहज उपलब्ध हो सके। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी का प्रतिफल है।

—डा० आनन्द स्वरूप पाठक

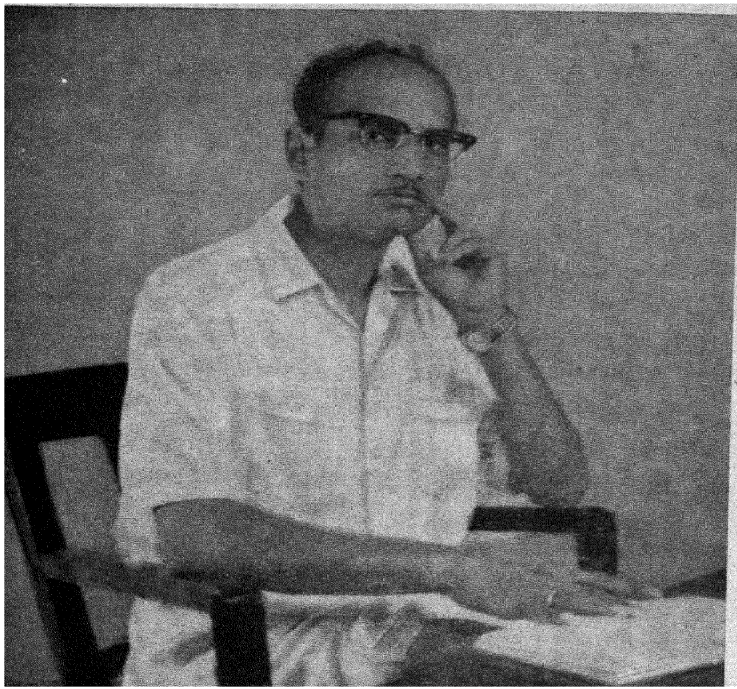
साहित्य और भाषाशास्त्र

अनुक्रमणिका

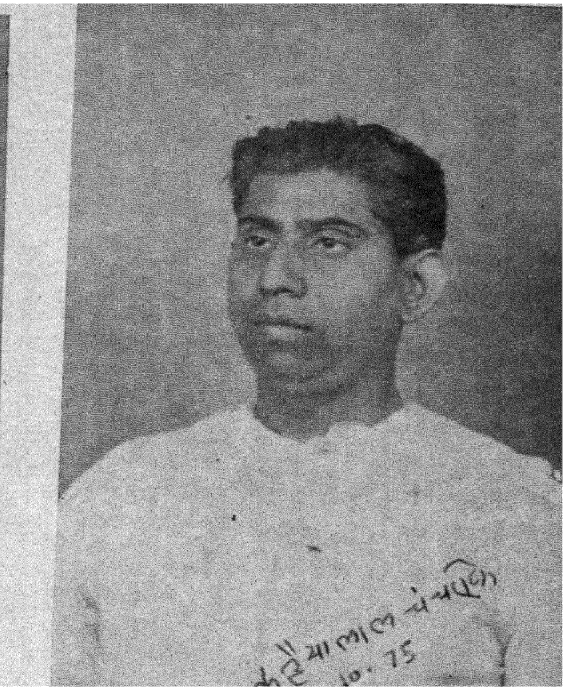
१. सुन्दर की व्युत्पत्ति और पर्याय : : डा० रामदत्त भारद्वाज : : २०१
२. हिन्दी आचार्यत्व : : डा० विजयपालसिंह : : २०८
३. संघरक्षित और उनका सुबोधालंकार : : डा० ब्रह्म मित्र अवस्थी : : २२०
४. 'चित्रालंकार' साहित्य की अनुपम कृति कंकण-बन्ध-रामायण' : : डा० रुद्रदेव त्रिपाठी : : २२६
५. नाट्य-शास्त्र की पूर्ववर्ती परम्परा : : डा० ब्रजबल्लभ मिश्र : : २३०
६. रामायण-सौन्दर्य : : डा० पाण्डुरंग राव : : २३४
७. संस्कृत-साहित्य में नारी-चित्रण : : डा० (श्रीमती) तुलसी मिश्र . : २३८
८. हिन्दी और तेलगु का आदिकालीन साहित्य : : डा० जी० सुन्दर रेड्डी : : २४३
९. मलयालम का भक्ति-साहित्य : : डा० एन० ई० विश्वनाथ अय्यर : : २४८
१०. तेलुगु के प्रमुख गीतिकार कवि : : डा० के० रामनाथन् : : २५२
११. तिरुमल-तिरुपति और श्री वल्लभाचार्य : : डा० एम० संगमेशम् : : २५७
१२. भारती और भारतेन्दु : : डा० चन्द्रकान्त मुदालियर : : २६२
१३. प्रेम-भक्ति के वातायन से कबीर : : डा० कुसुम श्रीवास्तव : : २६५
१४. तुलसी की विनय-पत्रिका में भक्ति के विविध भाव : : डा० (श्रीमती) माधुरी मिश्र : : २७०
१५. तुलसी और ब्राह्मणवाद : : डा० उदयभान मिश्र : : २७४
१६. रीतिकालीन साहित्य का भौगोलिक विस्तार : : डा० वै० वेंकट रमण राव : : २७९
१७. रीतिकालीन हिन्दी का शावत-साहित्य और आचार्य कुलपति मिश्र : : डा० विष्णुदत्त 'राकेश' : : २८७
१८. रीतिकालीन वीरकाव्य 'दिग्विजय' : : प्रो० नर्मदा प्रसाद गुप्त : : २९४
१९. बोधीदास कृत जोगवसिष्ठ कथा . डा० सुधाकर मिश्र : : ३००
२०. भक्त कवि भीखजन : : डा० कन्हैयालाल सहल : : ३०५
२१. गोस्वामी राधाचरण : प्रामाणिक रचनाएँ : : डा० केदारदत्त तत्राड़ी : : ३०७
२२. हिन्दी रंगमंच को पं० नारायण प्रसाद जी 'बेताब' की देन : : डा० विद्यावती लक्ष्मणराव नम्र : : ३१०
२३. कामायनी में चतुर्युगीन मानव-विकास का इतिहास : : डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना : : ३१६
२४. प्रेमचन्द का यथार्थवाद और मनोविश्लेषण शास्त्र : : डा० गिरिवरधारीसिंह : : ३२०
२५. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यास की भूमिका : : डा० रणवीर रांग्रा : : ३२५
२६. प्रकृतिवादी यथार्थवाद : : डा० श्यामनारायण शुक्ल : : ३३०
२७. तमिल प्रदेश के लोक-जीवन में कृष्णभक्ति : : डा० पी० जयरामन : : ३३५
२८. कविवर 'उपाध्याय', 'गुप्त' एवं 'प्रसाद' का ब्रजभाषा-काव्य : : कु० नरेश अरोड़ा : : ३४०

२९. बीसलदेव रास में लोकतत्व : : डा० इन्द्रपाल सिंह 'इन्द्र' : : ३४४
३०. कबीर : व्यक्तित्व और कृतित्व : : श्री सुरेशचन्द्र मिश्र : : ३५१
३१. हास्य और व्यंग का स्वरूप : : डा० गिरिराज शरण अग्रवाल : : ३५५
३२. उपसर्ग अनुशीलन : : डा० आनन्द स्वरूप पाठक : : ३६३
३३. कश्मीरी भाषा और लिपि : : डा० कृष्णा रैना : : ३६९
३४. कारक और विभक्ति की संकल्पना : : डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन' : : ३७५
३५. गीति काव्य का प्रथम कवि 'उमापति' : : डा० केशवदेव शर्मा : : ३८४
३६. कवयित्री ताजकृत 'बीबी-बांदी का झगड़ा' : : श्री क्षेत्रपाल शर्मा : : ३८७
३७. प्रेमयोगिनीं मीरा : : कु० लक्ष्मी मिश्रा : : ३८९
३८. ब्रजभाषा : माधुर्य का ध्वनितात्विक आधार : : डा० चन्द्रभान रावत : : ३९४
३९. ब्रज-गौरव : : ग्वालकवि : : डा० भगवानसहाय पचौरी : : ४२४
४०. भारतीय आर्यभाषाओं में अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करने की परम्परा : : डा० श्रीपति शर्मा जोशी : : ४३५
४१. ब्रजभाषा के विविध सोपान : डा० आनन्द स्वरूप पाठक : : ४४०
४२. खुसरो का जनकाव्य : : श्री महावीर सिंह शर्मा : : ४४६

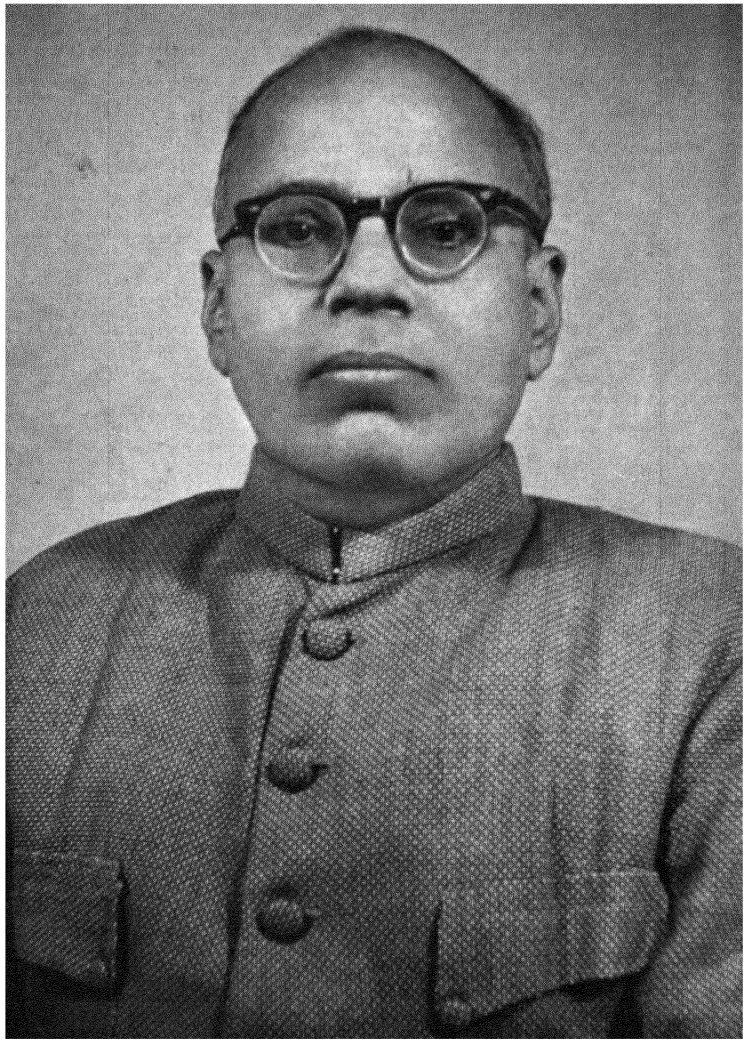
सम्पादक द्वय



डा० आनन्द स्वरूप पाठक



श्री कन्हैयालाल चंचरीक



साहित्य वारिधि बाबू वृन्दावनदासजी

सुन्दर की व्युत्पत्ति और पर्याय

डा० रामदत्त भारद्वाज
एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, डी० लिट०

व्युत्पत्ति

संस्कृत भाषा का सुन्दर शब्द, हो सकता है, 'सु' और 'नर' के संयोग से बना हो, जैसा कि कुछ भाषा-विज्ञानी समझते हैं। इस संयोग से 'सुनर' शब्द का निर्माण होता है, किन्तु उक्त दोनों शब्द के बीच में दकार के आगम से 'सुन्दर' शब्द उसी प्रकार बना प्रतीत होता है, जिस प्रकार 'वा' और 'नर' के संयोग से 'वानर' और दकार के आगम से तथा वकार के बकार में परिवर्तित होने से 'बन्दर'। 'सुनर' शब्द वेद में उपलब्ध है, यथा :

यो वाधते ददाति सूनरं वसु स धत्ते अक्षिति श्रवः।
तस्मा इलां सुवीरामा यजामहे सुप्रतूतिमनेहसम्॥ ऋ० १-४०-४

'बन्दर' शब्द हिन्दी का है और बहु-प्रयुक्त है। संस्कृत में 'वानर' शब्द का प्रयोग होता है; विकल्पित नर को वानर कहा जाता है—वा विकल्पितो नरः, और इसकी निरुक्ति दूसरे प्रकार भी है, जो वन में उत्पन्न फलों को लाए—वानं वने भवं फलादिकं राति। वैयाकरण इस 'वानर' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं—वान+√रा+क। किन्तु 'सुनर' शब्द यद्यपि व्याकरण-साध्य है तथापि उसका प्रयोग यदि है तो विरल है; 'सुन्दर' शब्द ही अधिक प्रयुक्त है। व्याकरण के पण्डित 'सुन्दर' की व्युत्पत्ति किंचित भिन्नता से करते हैं। कुछ कोशकार उसे सु+√उन्द्+अरन् का योग मानते हैं, जिसके अनुसार इस शब्द का अर्थ है 'वह जो नेत्र को सुख दे', क्योंकि उन्द् धातु का अर्थ है भिगोना अथवा तर करना और 'सु' का अर्थ है : भले प्रकार। दूसरे उसे सु+ √दृ+अप् का योग मानते हैं, और अर्थ करते हैं 'वह जो हृदय को प्रेरित अथवा व्यथित करता है', क्योंकि इस प्रकरण में 'सु' धातु का अर्थ है दबा कर रस निकालना, और 'दृ' धातु का अर्थ है वध करना। किन्तु तीसरे उसे सु (उपसर्ग) +दृ (धातु) +अप् प्रत्यय से निष्पन्न कर उसका अर्थ करते हैं 'वह जो हृदय को भले प्रकार चालित या द्रवित करे', क्योंकि 'सु' उपसर्ग का अर्थ है अतिशय, 'दृ' अकर्मक धातु का अर्थ है आदर करना। सुन्दर की ये सभी व्युत्पत्तियाँ और अर्थ समुचित प्रतीत होते हैं, जैसा कि आगे चल कर हम देखेंगे।

'सुन्दर' शब्द से निर्मित तीन संज्ञाएँ हैं—त्व प्रत्यय के योग से सुन्दरत्व, ता के योग से सुन्दरता और ब्यञ् के योग से सौन्दर्य। ये तीनों एक ही अर्थ के द्योतक हैं। इनके अनेक पर्याय हैं, जिनकी कुछ चर्चा अभीष्ट है।

सुन्दर के पर्याय हैं : अंगना, अच्छा, अनवद्य, अनुपम, अनुपमेय, अनूठा, अभिजात, अभिराम, अलबेला, अवदात, कंचन, कमनीय, कल, कलित, कान्त, कान्तिमान्, चाक्षुष्य, चारु, चित्ताकर्षक, चंग (चंगा), छबीला, दर्शनीय, दिव्य, दृश्यमान, निक्त, प्रिय, प्रियदर्शी, बाँका, भद्र, भव्य, मंजु, मंजुल, मनोज्ञ, मनमोहन, मनभावन,

मनोरम, मनोहर, मनहरण, मनरोचन, मधुर, रतिमान्, रमणीक, रमणीय, रम्य, रुचिर, रूपमय, रूपमान्, रूपवन्त, रूपवान्, रूपी, रूपमान्, फबीला, बान (वर्ण), ललाम, ललित, सरस, सुजात, सुचारु, सुरूप, सुष्ठु, सुठि, सुठार, सुठारु, सुठौना, सुडौल सुढर, सुढार, सुढारु, सुदेश, सुदेह, सुन्नर, सुमुख, सुमेरु, सुरंग, सुवर्ण, सुरोचि, सुवेश, सुशोभन, स्वच्छ, स्वरूपवान्, हृदयग्राही हृदयबेधी, हृदयहारी, हिरण्य।

'सुन्दरता' के समानार्थक शब्द हैं : सुन्दरत्व, सौन्दर्य, अनूठापन, अच्छापन, अनोखापन, अलबेलापन, अपूर्वता, कान्ति, चारुता, छवि, छबीलापन, दिव्यता, दीप्ति, धज, लावण्य, लुनाई, निकाई, निकामता, भव्यता, मधुरता, माधुर्य, मधुरिमा, माधुरी, मनोहरता, लालित्य, ललामता, रुचिरता, रूप, रुचिरता, शोभा, श्री, लक्ष्मी, सुषमा, सुरूपता, सौष्ठव, सौम्यता, सुघटन, सुघड़ाई, सुडौलता, सुभगता। कुछ अरबी-फारसी के शब्द हैं : हुस्न, रौनक, खूबसूरती, नफ़ासत, शान (सजावट), आब।

रूप के पर्याय हैं : आकार, आकृति, गढ़न, गठन, ढाँचा, बनाव, बानक, वेश, संघटन।

'कुरूप' के पर्याय हैं : अदर्शनीय, अनगढ़, अनरूप, अपरूप, अभद्र, कदाकार, कुडौल, कुमुख, कुदर्शी, थूल (स्थूल, मोटा, भारी, भद्दा), घोंघा, निरूप, बूचा, बेडौल, बेढंग (रचना बनावट), बेढब (बनावट, गढ़न) बेतुका (वि+तुक), भद्दा, सामंजस्य-रहित, भदेसिल, भोंडा, मछन्दर, विरूप, विलोम, विहंगम।

कुरूपता के पर्याय हैं : अनरूपता, कदर्थ (निकम्मा), कदाकारिता (कद्+आकार), भद्दापन, भोंडापन, विरूपता।

उपर्युक्त पर्यायों का कुछ विवेचन 'सौन्दर्य' की परिभाषा के निमित्त हितकर होगा; ऐसी सम्भावना है, अतः अभीष्ट है। 'अंगना' की निरुक्ति है : प्रशस्तानि अंगानि यस्याः सा, अर्थात् अच्छे अंगों वाली। इस शब्द से ध्वनित होता है कि सौन्दर्य का निवास अंगसौष्ठव एवं अनुपात में रहता है। 'अच्छा' शब्द संस्कृत के 'अच्छ' से निर्मित है, जिसका अर्थ है निर्मल (जिससे यह ध्वनित होता है कि सौन्दर्य में मल या मलीनता का अभाव होता है), अथवा वह स्फटिक की भाँति चमकदार है। वैयाकरण इसे छो धातु और क प्रत्यय से व्युत्पन्न मानते है। 'छो' का अर्थ है काटना, अतएव 'अच्छ' का अर्थ हुआ अच्छा कटा या तराशा हुआ, अर्थात् वह जिसके शरीर की आकृति मे स्पृहणीय कटाव हो। अनवद्य=नञ्+अवद्य=निर्दोष, निष्कलंक, अभर्त्सनीय। 'अनुपम' 'अनुपमित' और 'अनुपमेय' ये तीनों शब्द 'मा' धातु से निष्पन्न हैं, जिसका अर्थ है नापना। इस प्रकार इन तीनों शब्दों से ऐसे व्यक्ति का अभिप्राय है, जिसे मापा न जा सके अर्थात् जिसके जोड़ का कोई और न हो : नास्ति उपमा यस्य। इनका प्रयोग प्रायः सौष्ठव-परक होता है। 'अनूठा' इस शब्द को कोषकारों ने संस्कृत के अनुत्थ से व्युत्पन्न बताया; और अनोखा, विचित्र, विलक्षण, अद्भुत आदि शब्दों का पर्याय माना है। 'अभिजात' शब्द 'अभि' उपसर्ग, 'जन्' धातु और 'क्त' प्रत्यय से निर्मित है और इसका अर्थ है, वह जो कुलीन हो। खाते-पीते कुल में जो उत्पन्न होते हैं; वे प्रायः स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और रंग-रूप से स्पृहणीय होते हैं। 'अभिराम' शब्द अभि उपसर्ग, रम् धातु और घञ् प्रत्यय से बना है। रम् का अर्थ है प्रसन्न होना, खेलना, क्रीड़ा करना, मैथुन करना, बना रहना, टिकना। अतएव अभिराम का अर्थ है : हर्षपूर्ण, मधुर, प्रिय, रम्य, मनोहर, सुन्दर। इससे ध्वनित होता है कि सौन्दर्य में हर्ष और प्रियता का समावेश होता है। 'अलबेला' का अर्थ है : बाँका, बनाठना, छैला, अनोखा, अनूठा, अल्हड़, मनमौजी। इससे ध्वनित होता है कि सौन्दर्य में वेशभूषा तथा हाव-भाव की वक्रता रहती है।

'अभिराम' अभि उपसर्ग, रम् धातु और घञ् प्रत्यय से निर्मित है। 'अभि' का अर्थ है अधिक, और 'राम' का है मधुर अथवा सुन्दर। अतएव अभिराम का अर्थ है अत्यन्त मधुर, मनोहर, प्रिय, रम्य, अनुकूल अथवा सुन्दर।

'अवदात' शब्द 'अव' उपसर्ग, दै धातु और क्त प्रत्यय के योग से बना है। 'अव' का अर्थ है : फैलाव, विस्तार, शोधन, शुद्धता, निर्मलता। 'दै' धातु का अर्थ है पवित्र करना। अतएव 'अवदात' का अर्थ है स्वच्छ, सुन्दर।

'कमन' और 'कमनीय' दोनों शब्द 'कम्' धातु से निष्पन्न हैं, पहले में 'ल्युं' प्रत्यय है तो दूसरे में 'अनीयर्'। 'कम्' का अर्थ है चाहना। अतएव उक्त दोनों सुन्दरवाची शब्दों में क्रमशः चाहना और चाहे-जाना अथवा स्पृहा और स्पृहणीयता की भावभूमि है। आंग्ल भाषा में कम्ली (Comely) द्रष्टव्य है।

'कल' और 'कलित' दोनों शब्द 'कल्' धातु से बने हैं, जिसका अर्थ है : आवाज़ करना, गिनती करना। अतएव कल के पर्याय हैं : अस्पष्ट, मधुर, धीमा-कोमल, निर्बल; और कलित का अर्थ है गृहीत, गणित, चुना हुआ। इससे यह प्रतीति होती है कि सौन्दर्य में उग्रता नहीं होती और वह बहुतों में से चुना हुआ अतएव असाधारण होता है।

'कान्त' शब्द कन् धातु और क्त प्रत्यय से निर्मित है। कन् का अर्थ है चमकना, शोभित होना। इस प्रकार यह प्रतीति होती है कि सौन्दर्य में कान्ति अथवा चमक का कुछ न कुछ पुट होता है।

कोमल =कु (धातु)+कलच+मुट्। इसका अर्थ है धीमा, नरम, मुलायम, मंद, प्रिय, मधुर, मनोहर।

'चाक्षुष्य' अथवा 'चाक्षुष' शब्द चक्षु से बने हैं। इनका अर्थ है दर्शनीय, देखने अथवा देखे जाने योग्य। इस शब्द से यह संकेत मिलता है कि सौन्दर्य का विशेष सम्बन्ध चक्षु नामक इन्द्रिय से है।

'चारु' शब्द चर् धातु और उण् प्रत्यय से बना है। इसका शब्दार्थ है वह जो चित्त में चले, विचरण करे : चरति चित्ते। इससे ध्वनित है कि सौन्दर्य के कारण चित्त चंचल हो उठता है। ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग यज्ञ के लिए हुआ है : प्रति त्यं चारु मध्वरं गोक्षथाय प्रहूयसे, (१-१९-१)।

'चित्ताकर्षक' इस शब्द का अर्थ सुस्पष्ट है, सौन्दर्यपूर्ण वस्तु द्रष्टा के चित्त को आकृष्ट करती है।

'चंगा' शब्द, हिन्दी शब्दसागर के अनुसार, संस्कृत के चंग शब्द से निर्मित है; जिसका अर्थ है : स्वस्थ सुन्दर, भला।

'छबीला' छवि से निर्मित है, अतः कान्ति का द्योतक है। छवि छो+किन्। छो धातु का अर्थ है काटना। छवि का प्रभाव द्रष्टा पर काटने का सा तीव्र होता है। यह शब्द शारीरिक कटाव का द्योतक होने के कारण अंग संघटन अथवा सुडौलता का पर्याय भी है।

'दृश्य' शब्द दृश् धातु और क्यप् प्रत्यय से बना है। इसका अर्थ है दिखलाई पड़ने वाला। इस प्रकार 'दर्शनीय' दृश् धातु और अनीयर प्रत्यय से बना है। इसका अर्थ है देखने-दिखाने योग्य। तुलसीदास ने राम-सौन्दर्य के लिए लिखा था : अवसि देखिये देखन जोगू। दृश्यमान का अर्थ है : जो दिखाई पड़ रहा हो। अतएव स्पष्टतः सौन्दर्य का निकट सम्बन्ध नेत्र के व्यापार देखने-दिखाने से है।

'दिव्य' शब्द दिव् धातु और यत् प्रत्यय से बना है। दिव् का अर्थ है चमकना। अतएव दिव्य के पर्याय हैं : चमकीला, कान्त।

हिन्दी के 'निकाई' और 'नीक' शब्द सुन्दरता वाचक हैं। हिन्दी शब्द सागर ने 'नीक' को सस्कृत के निक्त से व्युत्पन्न किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि निक्त से हिन्दी में नीक और अँगरेजी का 'नीट' बना, जिनका अर्थ है स्वच्छ।

हिन्दी का 'बाँका' संस्कृत के वंक अथवा वक्र से निष्पन्न है। ये शब्द टेढ़ापन सूचित करते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति से अभिव्यक्ति-सौन्दर्य की वृद्धि होती है।

पेश=रूप। यह पिश् धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है संघटन करना, प्रकाश करना। पेशल और सुपेशी सुन्दरता द्योतक है।

प्रशस्त=प्र+शस+क्त। इसका अर्थ है वह जो प्रशंसा करने योग्य है सौन्दर्य अथवा अन्य किसी गुण के कारण।

प्रिय और प्रियदर्शी। इन दोनों शब्दों में प्रसन्नता की भावना है, पहले में साधारणतः और दूसरे में दर्शन के कारण; क्योंकि प्रिय शब्द प्री धातु और क प्रत्यय से बना है और संस्कृत के 'प्री' तथा आँग्ल भाषा के 'प्लीज़' का अर्थ है प्रसन्न करना, तृप्त करना।

भद्र शब्द भन्द धातु और रक् प्रत्यय से निष्पन्न है। पंचतंत्र में इसका प्रयोग सौन्दर्य-परक हुआ है। इससे व्युत्पन्न हिन्दी शब्द 'भला' है; और इसी अर्थ में इसका बहुल प्रयोग होता है। ऋग्वेद के कुछ उद्धरण हैं: भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजवाः (१-८९-८), भद्रं भद्रं न आ भरेषमूर्ज शतक्रतो (८-९३-२८), भद्रं मनः वृत्रतूर्ये (८-१९-२०)। उक्त वेद में एक और मंत्र है :

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी निहिताधि वाचि॥ १०-७१-२

इसमें यास्क ने भद्र की निरुक्ति इस प्रकार की है : भद्र=भग। भग क्यों? यह प्राणियों का भजने योग्य है, या प्राणी उसे भजते हैं (भजनीयं भूतानाम्), अथवा (वे प्राणी) उसकी ओर भागते हैं (अभिद्रवणीयम्) अथवा रमण (रति) देता है (भवद्रमयतिइतिवा), अथवा सुकृतीजन उसके भाजन होते हैं (भाजनाद् वा) (४-२-१०)। इससे प्रतीत होता है कि 'भद्र' में कोई आकर्षण है, जिसके कारण प्राणी उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं।

'भव्य' शब्द भू धातु और यत प्रत्यय से निर्मित है; जिसका अर्थ है विद्यमान, आगे होने वाला, बहुत करके होने वाला, शुभ तथा सुन्दर।

मंजु, मंजुल और मंजिमान्। मंजु में मंज् धातु तथा कु प्रत्यय है। मंजु में लच् के योग से मंजुल और मंजु में इमनिच् प्रत्यय से मंजिमा शब्द बने हैं। मंज् धातु का अर्थ है दीप्त करना।

मधुर शब्द मधु और रा तथा क के (अथवा मधु और र के) संयोग से बना है, जिसका अर्थ है मिष्ट।

'मन' के योग से अनेक सुन्दरता वाचक शब्दों का निर्माण हुआ है। मनोज्ञ और मनोज्ञा शब्द 'मनस्' और 'ज्ञा' के योग से; मनस् और मोहन के योग से मनोमोहन; मनस् हृ और अच् के योग से मनोहर; मनस् और हरण के योग से मनहरण बने हैं। इसी प्रकार मनरोचन में मनस् और रोचन का योग है और मनोरम में मनस् और रम् का। इन शब्दों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि सौन्दर्य की अनभूति में मन का

विशेष स्थान है, यों मानसिक क्रिया तो मानव के प्रत्येक व्यवहार में प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान रहती है। सौन्दर्य से मन का हरण होता है, उसमें मन् रमता है। वह मन को अनुकूल प्रतीत होता है अथवा अच्छा लगता है, जैसा कि मनोरोचन शब्द से संकेतित है। 'मनोभावन' (मनस्+भू+णिच्+ल्यु) शब्द से संकेत मिलता है कि सौन्दर्य मन को प्रभावित करता है और 'मनोमोहन' (मनस+मुह+णिच्+ल्यु) अथवा 'मनोमोहक' शब्द यह संकेत करता है कि सौन्दर्य मन को मोहने वाला, माया में डालने वाला, परेशान अथवा व्याकुल करने वाला है।

रतिमान् और रतिवन्त ये दोनों शब्द रति से निर्मित हैं; और रति स्वयं रम् धातु और क्तिन् प्रत्यय से निर्मित है। ये दोनों शब्द रतिपति कामदेव के सूचक हैं, जो प्रेम और सौन्दर्य का देवता है।

रम्य, रमणीय और रमणीक इन तीनों शब्दों में रम् धातु है। इनमें से प्रथम में यत् और दूसरे में अनीयर प्रत्यय है। रम् धातु का अर्थ है, प्रसन्न होना, खेलना, मैथुन करना, टिकना। सौन्दर्य के प्रभाव के कारण प्रसन्नता, मिथुनता अथवा चित्त-विराम होता है। वृहदारण्यक उपनिषद् का वाक्य है : रमिति प्राणो वै रं प्राणे होमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि इ वा अस्मिन् भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद (५-१२), अर्थात् रम् निश्चय रूप से, जीवन है क्योंकि इस संसार में सब जीव जीवन में रमते हैं, निश्चय ही वास्तव में सब जीव उसमें प्रविष्ट होते हैं। मुक्तिकोपनिषद् में लिखा है : अयोध्या नगरे रम्ये ॥१-१॥ छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है : तद्य इह रमणीय-चरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् (५-१०-७), अर्थात् उनमें से जो इस संसार में रमणीय आचरण वाले हैं वे शीघ्र ही रमणीय (ब्राह्मणादि उत्तम) योनि को प्राप्त होते हैं। रम्य शब्द भी 'सुन्दर' का पर्याय है, यथा : सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम् (अभिज्ञान शाकुन्तलम् १-२०), अर्थात् शैवलिनी से आवृत होने पर कमल सुन्दर लगता है।

रण, रण्व और रण्य शब्दों का वैदिक प्रयोग सुन्दरता-परक रमणीय का पर्याय है, यथा ऋग्वेद (३-४७-१) में लिखा है : मरुत्वां इन्द्र वृषभो रणाय। यहाँ निरुक्त (४-२-९) में रणाय=रमणीयाय, संग्रामाय। क्षेत्रं न रण्वम्=रमणीय क्षेत्र, ऋग्वेद १०-३३-६। ऋग्वेद (८-७७-११) में लिखा है : उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋद्रपै चिद्रदूविधा। यहाँ निरुक्त (६-६-३३) में वारकाचार्य के अनुसार, रण्यौ= रमणीयौ संग्रामौ।

रुचिर, रुचक और रुचि, रोचन ये चारों शब्द रुच् धातु से निष्पन्न हैं, जिसका अर्थ है आभा या दीप्ति प्रदान करना—रुच दीप्तौ। ऋग्वेद में इसका प्रयोग स्वर्ग के विशेषण के रूप में हुआ है : ये नाकस्याधि रोचने दिवि दैवास आसते ॥१-१९-६॥

रूपमय, रूपमान्, रूपवन्त, रूपवान्, तथा रूपी ये पाँचों शब्द रूप से निष्पन्न तथा सुन्दरता के द्योतक हैं। रूप की चर्चा आगे की जायगी।

रूरा, रूरो, इन दोनों की निरुक्ति का आधार है 'रूढ़' अर्थात् प्रशस्त।

ललाम और ललित भी सौन्दर्य द्योतक हैं। इनके स्त्रीलिंग हैं ललामी और ललिता। ललित की भाववाचक संज्ञा है लालित्य। संस्कृत वैयाकरण ललाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं : लड् धातु+क्विप् प्रत्यय, तम् अर्पति (=आप्नोति)। लड् का अर्थ है विलास, उसे जो प्राप्त करता है वह है ललाम। ललाम= लड्+क्विप्+अम्+अण्। डकार का लकार हो गया। लड् से लडह शब्द बनता है जिसका अर्थ है सुन्दर,

और लड्डू अर्थात् मोदक भी। ललित अथवा इसका स्त्रीलिंग ललिता लल् धातु और क्त प्रत्यय से निर्मित है। 'लल' का अर्थ है खेलना, चाहना।

लावण्य=लवण+ष्यञ्। लवण और लवणा सौन्दर्य द्योतक भी हैं। नमक का रंग श्वेत होता है और स्वाद से लोकप्रिय है। जिस प्रकार माधुर्य उसी प्रकार लावण्य भी सौन्दर्य का पर्याय है। आंग्ल भाषा में सैलाइन ब्यूटि (Saline beauty) और फारसी में सुन्दर के लिए हैं 'नमकीन' नमकीनियत (मलाहत), मलीहुतब्बा (नमकीन मिज़ाज़ वाला)। हिन्दी में सलोना का प्रयोग सर्व-विदित है।

सूठ, सूठि, सुठार (सुडौल) सुठारु, सुठौना ये शब्द संस्कृत के सुष्ठु से व्युत्पन्न हैं, जिसकी निरुक्ति है : सु+स्था धातु+कु। इससे विदित होता है कि सौन्दर्य के प्रभाव से द्रष्टा का चित्त स्थिर होता है। इस निमित्त स्था और रम् दोनों धातु एक से हैं।

सुन्नर शब्द को 'सुनर' से अथवा सुन्दर के दकार के लोप से व्युत्पन्न किया जा सकता है।

सु उपसर्ग के योग से अनेक शब्दों का निर्माण हुआ है, यथा : सुकुमार=कोमल, सुजात=सु+जात, सुचारु=सु+चारु, सुरूप=सु+रूप, सुडौल=सु+डौल, सुन्दर आकार का, सुढर=सुडौल, सुढंग=सुघड़, सुदर्शन=देखने में सुन्दर। सुदेश=सु+देश (अंग), सुदेह=सु+देह (=शरीर), सुमुख=सु+मुख, सुमेरु=सु+मेरु अर्थात् अच्छे मेरुदण्डवाला अथवा हिरण्य वर्ण, सुरंग=सु+रंग (अच्छे रंग का), सुवर्ण=सु+वर्ण, अर्थात् अच्छे वर्ण का, अभिजात, हिरण्यवर्ण; सुरोचि=सु+रुचि=सुरुचि, सुवेश=सु+वेश, अर्थात् अच्छा वेशधारी, सुशोभन=सु+शोभन=अत्यन्त शोभायुक्त, स्वच्छ=सु+अच्छ=बहुत अच्छा, निर्मल; सुघड़ाई=सुघड़=सुघट=सुडौलपन, सुघटन=सु+घटन। सुभद्र और सुभद्रा दोनों सु उपसर्ग और भद्र (=भग) के योग से बने हैं, और सुन्दरता द्योतक हैं।

सुषमा=सुषम+टाप्। सुपम=सु+सम=सुन्दर (सम्), अथवा सुष्ठु समं सर्वयस्मात्, अर्थात् वह जिसके आकार-प्रकार में सममात्रा (सिमिट्रि) अथवा समंजन हो। सकार का षकार हो गया है। अतएव सुषमा का अर्थ है परम शोभा, अत्यन्त सुन्दरता।

सौभाग्य=सुभगा+ष्यञ्=सौन्दर्य। सुभग=सु+भग। भग=ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज वचन हैं : षाड्गुण्य में तेज और ऐश्वर्य के समावेश के कारण सौभाग्य का अर्थ सौन्दर्य है, जो समुचित है। ऋग्वेद (३-१६-६) में अग्नि के लिए सुभग विशेषण है।

सुवासा का अर्थ है अच्छे वस्त्रोंवाली। सु+वासस। वासस=कपड़ा, वस्त्र। वासस=वस्+असुन्।

'सौम्य' अथवा 'सौम्या' भी सुन्दर का पर्याय है, जसा कि उसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट है। सौम्य=सोम+य+अण्। सोम का अर्थ है चन्द्रमा, अतएव सौम्य का अर्थ है चन्द्रमा-सा। वदन की उपमा प्रायः चन्द्र से दी जाती है, उसकी आकृति एवं कान्ति एवं वर्ण के कारण।

श्री और लक्ष्मी ये दोनों भगवान् विष्णु की पत्नियाँ हैं, जैसा कि यजुर्वेद का मंत्र है :

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहो रात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्याचम्।
इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण॥ ३१-२२

यों तो श्री और लक्ष्मी दोनों का अर्थ सौन्दर्य है, तथापि उक्त मंत्र में भाष्यकारों के द्वारा श्री का अर्थ सम्पत्ति और लक्ष्मी का सौन्दर्य किया गया है।

हृदयग्राही, हृदय-वेधी, हृदय-हारी इन तीनों सौन्दर्य-द्योतक शब्दों से प्रतीत होता है कि सौन्दर्य हृदय को पकड़ लेता है, विद्ध करता अथवा हर लेता है।

हिरण्य स्वर्णवाचक है, और हिरण्मय तथा हिरण्यय इन दोनों शब्दों का अर्थ है सुनहला। ऋग्वेद में 'हिरण्य' का प्रयोग उदाहरणतः इस प्रकार है : हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्, (१०-१२१-१), इन्द्रोवज्रो हिरण्यय (१-७-२)। यास्काचार्य निरुक्त (२-३-१०) में ऊहापोह करते हैं : हिरण्य यह नाम क्यों? (शिल्पी द्वारा भूषणों के रूप में) विस्तृत करने के लिए हरण करते हैं अथवा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के प्रति (व्यापार में) हरण किया जाता है, अथवा हित और रमण होता है (हितं रमणं भवतीति वा), अथवा प्रेप्सा या प्रकृष्ट प्राप्त करने की इच्छा के अर्थ में हृङ् धातु से (हर्यते वास्यात् प्रेप्सा कर्मणः)। दुर्भिक्ष आदि के समय हिरण्य से हित होता है और उसे लेकर चूहे को भी रति होती है। हर्यते स्वप्रभया दीप्यत इति सुबोधिनीकारः। अतएव हिरण्य वह वस्तु है जो अपनी कान्ति से चमकता है, और जिसे लेने की इच्छा लोग करते हैं।

इस प्रकार विचार करने पर हिरण्य को सौन्दर्य का प्रतीक मानना उचित प्रतीत होता है।

रूप की व्युत्पत्ति वैयाकरणों के अनुसार रूप् धातु और अच् प्रत्यय से है। रूप् का अर्थ है बनाना, गढ़ना, रंगमंच पर रूप धरना। अतएव रूप का अर्थ है आकृति, आकार, सौन्दर्य।

सौन्दर्य की चर्चा पूर्व और पश्चिम दोनों में हुई है। सुन्दर व्यक्तियों और वस्तुओं का वर्णन होता रहा है। प्राकृतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी उपलब्ध है। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराणों में विशेषतः संस्कृत-हिन्दी के काव्यों में प्रचुरता से प्राप्त है।

किन्तु कदाचित् सौन्दर्य के स्वरूप के सम्बन्ध में जितना क्रमबद्ध मनन पश्चिम में हुआ है, उतना पूर्व में नहीं। पश्चिम में सौन्दर्य की मीमांसा शास्त्र के रूप में हुई है, यों जैसा कि कहा जा चुका है, पूर्व में सौन्दर्य के वर्णन बाहुल्य का तनिक भी अभाव नहीं।

सौन्दर्य के दो पक्ष हैं . ग्रहण और सर्जन अथवा अनुभूति और अभिव्यक्ति। सौन्दर्य क्या है? उसका क्या आधार है? उसमें कितने तत्व होते हैं? उसके कितने भेद हैं? सौन्दर्य का निवास कहाँ है—मन में या वस्तु में? हमारे मन पर सौन्दर्य का क्या प्रभाव पड़ता है? सत्य से और शिव से सौन्दर्य का क्या सम्बन्ध है, ऐसे प्रश्न सौन्दर्यानुभूति परक हैं। किसी सुन्दर व्यक्ति-वस्तु की अनुभूति कर उसकी अनुपस्थिति मे, स्थापत्य, शिल्प अथवा चित्र के द्वारा, उसका पुर्नानिर्माण तो सौन्दर्य-सर्जन का है अर्थात् सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का विषय है। अभिव्यक्ति विशेष किस प्रकार सम्पन्न हो, तन्निमित्त हमारे पास क्या साधन हों और उस अभिव्यक्ति कौशल के लिए हमें किन नियमों का अनुसरण करना चाहिए? व्यक्ति और समाज के लिए ऐसी अभिव्यक्ति का क्या उपयोग है? ऐसी अभिव्यक्ति निमित्त योग्यता की क्या रूपरेखा और सीमा है? ऐसे प्रश्न सौन्दर्याभिव्यक्ति-परक हैं।

हिन्दी आचार्यत्व

डा० विजयपाल सिंह
एम० ए०, पी-एच० डी०

संस्कृत काव्य की सुदीर्घ परम्परा किसी न किसी रूप में १८वी शताब्दी तक चलती रही। इस परम्परा के साथ-साथ इस स्रोत से निःसृत संस्कृत काव्य-शास्त्र के पृष्ठाधार पर अवलंबित, पर अपनी निजी 'भाषा' तथा युगीन परिवेश की सीमाओं से निबद्ध और प्रभावित, हिन्दी काव्य-शास्त्र की परम्परा भी चली। सामान्य रूप से १६वी शती में ही इसका सूत्रपात हो गया था और सत्रहवीं तथा अठारहवीं शती में प्रबल और पुष्ट होती हुई यह परम्परा १९वी शती तक चली आई। एकाध देशी भाषा ही इतनी दीर्घ काव्यशास्त्र की परम्परा का गर्व कर सकती है। यद्यपि हिन्दी के आचार्य का उपजीव्य संस्कृत काव्यशास्त्र ही था, तथापि उनकी अपनी विचित्रताएँ और विशेषताएँ भी थीं। उसको अपनी निजी सीमाओं के भीतर कार्य करना था और युग की प्रवृत्ति और माँग को संपुष्ट करना था। 'आचार्यत्व' का रूप इन तत्त्वों के आधार पर निर्धारित हुआ।

संस्कृत भाषा के प्रति देशी भाषा की मृदु क्रान्ति हुई। अपने समय में प्राकृत और अपभ्रंश ने साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत के समान ही लोकप्रियता और प्रतिष्ठा प्राप्त की। प्रेमकाव्य, गीत रचना, मुक्तक रचना और चरित काव्य के क्षेत्र में प्राकृतों और अपभ्रंश की उपयुक्तता दृढ़ता से स्वीकार की गई। "यदि हम संस्कृत साहित्य की ओर दृष्टि फेरें, तो देखेंगे कि आठवीं शताब्दी के बाद का संस्कृत साहित्य उत्तरोत्तर पंडितों की चीज बनता गया। इस साहित्य में लोक-जीवन से हटे हुए एक कल्पित जीवन और कल्पित संसार का आभास मिलता है"।[1] अपभ्रंश की विकसित परम्परा में अब्दुल रहमान, स्वयंभू तथा विद्यापति ने 'भाषा' को दृढ़ता से पकड़ा। स्वयंभू ने 'देशीभाषा उभय तडुज्जल' कहकर उसकी जीवनाभा की घोषणा की। विद्यापति ने 'देसिल बयणा सब जन मिट्ठ' कहकर उसके माधुर्य में अपना विश्वास प्रकट किया। स्वयंभू ने अपनी भाषा नीति के सम्बन्ध में कहा :

"सामाण भास छुड मावि हउ, छुडु आगमजुत्ति किणि घडडउ।
छुडु होंति सुहाइय-बयणाइं, गामेल्ल भास परिहरणाइं।
एहु सज्जण लोयउ किउ बिनउ, जं अबुहु पवरिसिउ अप्पणउ।"[2]

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १०।

२. इसका रूपांतर राहुल जी ने इस प्रकार दिया है :

सामान्य भाष यदि ना गढ़ऊं, यदि आगम युक्ति किछू गढ़
यदि होंइ सुभाषित बचनाई, ग्रामीण भाष परिहरणा
एहु सज्जन लोगहँ का विनऊँ, जो अबुधि प्रदर्शेउ आपन

—हिन्दी काव्यधारा, पृ० २४-२

सामान्य भाषा के ग्राम्य रूप को स्वयंभू अपनाना चाहता है।

तुलसी तक आते-आते इस लोकभाषा का स्वरूप और इसकी कांति विशद हो गई। इस कांति ने जहाँ शास्त्रीय संस्कृत भाषा के प्रासाद को डगमगा दिया और 'भाषा' को दृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित किया; वहाँ शास्त्रीय काव्य नियोजन के स्थान पर लोकप्रवृत्ति से पुष्ट काव्य की स्थापना हुई। 'का भासा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच' कहकर तुलसी ने भाव की प्रतिष्ठा की, इससे काव्य रूप से सम्बद्ध शास्त्र की उपेक्षा हुई। उन्होंने 'रघुनाथ गाथा' को भाषा निबद्ध किया। उन्होंने अपनी 'भाषा भणिति' की सफलता के लिए शिव-पार्वती से प्रार्थना की :

सपनेहुँ साँचेहुँ मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ।[1]

तुलसी ने भी काव्य शास्त्र के विधि-विधान की ओर उपेक्षा भाव प्रदर्शित किया :

कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा।
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥[2]

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तुलसी इस सब शास्त्रीय विधान से सामान्यतः भी परिचित नहीं थे, या इस विधान का प्रयोग उन्होंने नही किया; बल्कि इसका तात्पर्य यही है कि इन सभी काव्यांगों के शास्त्रीय संविधान को भाव की अपेक्षा कम महत्व देते थे। वैसे मानस रूपक में इनकी स्थिति भी बताई गई है : 'उपमा वीचि विलास मनोरम', 'पुरइनि सघन चारु चौपाई', 'छंद सोरठा सुन्दर दोहा', 'अरथ अनूप सुभाव सुभासा', 'धुनि अवरेब कबिब गुन जाती', 'नवरस जपतप जोग बिरागा।' इस सूची में प्रायः सभी काव्यांग आ जाते हैं। स्वयंभू ने भी इनके प्रयोग की बात कही है।[3]

महाकाव्य के क्षेत्र में भाषा और महाकाव्य की इस लोकभूमिका पर केशव झुँझला रहे थे : केशव कवियों के उस आभिजात्य वर्ग के प्रतिनिधि थे, जो संस्कृत भाषा और उसके काव्य शास्त्र के समर्थक थे। पर युग की प्रवृत्ति के दबाव की विवशता थी कि केशव को भी 'भाषा' अपनानी पड़ी,[4] पर काव्य शास्त्र को दृढ़ता से पकड़े रखा। यह महाकाव्य या प्रबंध के क्षेत्र की स्थिति थी।

---

१. बालकाण्ड, दोहा १५।

२. वही, दोहा ८-९ के बीच।

३. सम्बद्ध पंक्तियों का रूपांतर राहुल जी ने इस प्रकार दिया है :

अक्षर-बास-जलोध मनोहर, सुअलंकार छंद मत्स्योधर।
दीर्घ समास प्रवाहहिं बंकित, संस्कृत प्राकृत पुलिनालंकृत॥
—हिन्दी काव्यधारा, पृ० २८।

४. **भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।**
ते भाषा कविता करी, जड़मति केसवदास॥—कविप्रिया

जहाँ तक मुक्तक और गीतों का प्रश्न था, उनकी भी 'भाषा' और 'भाव शवलता' की ओर प्रवृत्ति स्वाभाविक थी। एक ओर 'संधा' भाषा सिद्ध-सेवित थी। इसके साथ काव्य शास्त्र का सम्बद्ध होना किसी दृष्टि से संभव नहीं था। अलंकारों के स्थान पर आध्यात्मिक संकेतों से युक्त शब्द-प्रतीकों का प्रयोग होता था। इनकी व्याख्या के लिए अलंकार शास्त्र की ओर जाना आवश्यक नहीं था। इस परम्परा में आगे निर्गुणियों के गीत-सबद-दोहरा की परंपरा आती है। यह भी प्रतीक विधान पर आधारित धारा थी।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी या देशी भाषा की आरंभिक परिस्थितियों में 'काव्यशास्त्र' को विकास के लिए उपयुक्त वातावरण प्राप्त नहीं हुआ। एक प्रकार से उच्चवर्गीय काव्य साधना के प्रति एक प्रतिक्रिया भी परिलक्षित की जा सकती है। पर रूपगोस्वामी के सूक्ष्म रस और नायक-नायिका विवेचन ने काव्यशास्त्र के भक्ति-रंजित रूप की सुदृढ़ परम्परा का सूत्रपात कर दिया था। भक्ति के स्वरों ने काव्य-शास्त्र की दिशा-दृष्टि में तो परिवर्तन उपस्थित किया, पंर उसे देश-व्यापी भक्ति आंदोलन से सम्बद्ध करके उसे गति दी। जयदेव की वाणी भी इस परंपरा में गृहीत हुई। विद्यापति और चण्डीदास ने काव्य शास्त्र तो नहीं लिखा; पर मधुर भाव, नायिका निरूपण को साहित्य में स्थान प्रदान किया। सिद्ध नाथ सन्त परम्परा की काव्य शास्त्र की ओर बढ़ती हुई उपेक्षा को एक प्रकार से ललकारा। भक्ति से संबद्ध होने से काव्यशास्त्र में कुछ विशेषताएँ आ गई थीं, काव्य शास्त्र अलंकारों के विधान की अपेक्षा रस-संयोजन की ओर विशेष रूप से झुका, भक्ति भावना की प्रबलता ने शास्त्रीय आचार्यत्व की अपेक्षा उदाहरणों की रचना की ओर विशेष ध्यान दिया, अर्थात् शुद्ध शास्त्रीय विचारधारा का प्रायः अन्त हो गया। उदाहरणों में राधा-कृष्ण अथवा इष्टदेव का विशेष रूप से प्रवेश हो गया, राधा-गोपी-कृष्ण के त्रिकोण पर आश्रित मधुर भाव संवलित लीला काव्य में नायिका-निरूपण प्रधान होता गया, जिसका काव्यशास्त्र ने विशेष रूप से पोषण किया और रसरीति को समझने के माध्यम स्वरूप अव्यक्त रूप से काव्यशास्त्र को बल मिला। कृपाराम की 'हिततरंगिणी', सूर की 'साहित्य लहरी', नंददास की 'रसमंजरी' तथा रहीम की 'बरवै नायिका भेद' जैसी रचनाओं में भक्ति आश्रित काव्य शास्त्र का रूप दीखता है। 'हिततरंगिणी' में 'हित' शब्द यह प्रकट करता है कि ये राधावल्लभ संप्रदाय के थे।[1] नन्ददास ने स्पष्ट रूप से रसमंजरी का उद्देश्य प्रेम-रीति-परिचय बताया है : "बिन जाने यह भेद सब, प्रेम न परचै होय।" गोपा ने अपने 'रामभूषण' में अपनी राममक्ति-भावना और अलंकार-निरूपण की रुचि का समन्वय किया है। मोहन लाल मिश्र के 'शृंगार सागर' का उद्देश्य भी भक्तिमूलक था। सूर की साहित्य लहरी उद्देश्यतः शास्त्रीय ग्रंथ नहीं है, उसमे भक्ति ही उच्छ्वसित है। इस प्रकार सगुण भक्ति शाखा में काव्यशास्त्र का प्रवेश हो गया था। आगे के साहित्य पर इस परम्परा का इतना तो प्रभाव अवश्य ही पड़ा कि राधाकृष्ण का शृंगारिक रूप रीतिकालीन कवियों द्वारा रचित उदाहरणों में ओत-प्रोत रहा। भक्त्याश्रित काव्यशास्त्र की इस परिस्थिति में केशव ने स्वतंत्र काव्य शिक्षा की दृष्टि से काव्यशास्त्र की पुनः प्रतिष्ठा की। यही हिन्दी के काव्यशास्त्र का सूत्रपात था। आगे भक्ति और काव्यशास्त्र की परंपरा चली तो अवश्य, पर शिथिल रूप में। भक्ति का स्थान 'शृंगार' ने लिया और काव्यशास्त्र के प्रति कवि और आचार्य विशेष उद्बुद्ध हो गए। भक्ति ने काव्य के साथ संगीत का संयोग करके काव्यशास्त्र को सीमित कर दिया था। मुक्तकों के उदय ने इसे फिर बल प्रदान किया।

---

१. राधा वल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत एवं अध्ययन, डा० विजयेन्द्र स्नातक।

राज्याश्रय और काव्यशास्त्र

जिस प्रकार भक्ति के आश्रय ने काव्यशास्त्र को प्रभावित करना आरम्भ किया, उसी प्रकार १७वीं शती के संस्कृत और हिन्दी काव्यशास्त्र को राज्याश्रय की प्रकृति ने भी प्रभावित किया। अत्यन्त प्राचीन काल से 'शास्त्र' को राज्याश्रय मिलता रहा था। उपनिषद् युग में जनक आदि के दरबार में दार्शनिक विद्वान् रहते थे और सत्यानुसंधान के लिए शास्त्रार्थ करते रहते थे। वैदिक सूक्तियों में अतिशयोक्तिपूर्ण 'नाराशंसियों' तथा 'प्रशस्तियों' का उल्लेख भी मिलता है।[१] ऋग्वेद में भी प्रश्रयदाता प्रभुओं की प्रशंसा और कुशल प्रशस्ति गायकों को दिए जाने वाले पुष्कल पारितोषिकों का वर्णन करने वाली दान-स्तुतियाँ पाई गई हैं। देवताओं की विजयों की प्रशस्तियाँ तो मिलती ही हैं।[२] पुरुरवा[३] और नहुष[४] जैसे कुछ राजाओं की चर्चा भी है। इन वर्णनों में कहीं-कहीं अलंकृत शैली का प्रयोग है। पतंजलि द्वारा प्रयुक्त श्लोकों अथवा श्लोकांशों को उद्धृत करके कीथ ने शृंगार, प्रशस्ति, करुणा सुभाषित आदि काव्य रूपों के बीजों तथा उनके अंकुरण को सिद्ध किया है।[५] 'प्रशस्ति' की स्थिति राज्याश्रय को प्रमाणित करती है। सुप्रसिद्ध संस्कृत कवियों के संरक्षण का श्रेय बहुत कुछ राजाओं को ही था।[६] 'बाण' के आश्रयदाता हर्ष और अनेक कवियों और आचार्यों के आश्रयदाता भोज को नहीं भुलाया जा सकता।

मध्यकाल में राज्याश्रय का द्विविध रूप हो गया: मुस्लिम शासकों का राज्याश्रय तथा हिन्दू सामन्तों का आश्रय। शासनीय समस्याओं से बहुत कुछ मुक्त होकर तथा अवकाश प्राप्त हिन्दू राजाओं तथा सामन्तों ने शास्त्र और काव्य के संरक्षण, सृजन एवं पुनरुत्थान में सक्रिय रुचि ली। भाषा ही नहीं, संस्कृत कवियों और काव्यशास्त्र के आचार्यों को भी मुस्लिम बादशाहों का आश्रय प्राप्त हुआ। प्रमुख आश्रयदाता और आश्रित संस्कृत कवि ये हैं[७]:

१. भानुकर (भानुदत्त)	: शेरशाह, निजामशाह
२. गोविन्द भट्ट[८]	: अकबर
३. पंडितराज जगन्नाथ	: शाहजहाँ, आसफखाँ[९]

---

१. Macdonall and Keith, Vedic Index, 1, p. 443.

२. इंद्र की शम्बर विजय, ऋ० ७।९९।५, २।१४।६।

३. यजु० ५।२।

४. ऋ० ८।८।३; १।१२२।११; ७।६।५; १०।९२।१२; ८।६।२४।

५. कीथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ५८।

६. राजशेखर ने काव्य मीमांसा में कुछ प्रसिद्ध आश्रयदाता राजाओं का उल्लेख किया है—वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसांक आदि।

७. यह सूची J. B. Chaudhari, Muslim Patronage and contribution to Sanskrit Learning (Introducing India, part II, Calcutta, 1949, p 83) के आधार पर है।

८. इनको अकबरीय कालिदास भी कहा जाता था। इनके पद्य १६वीं शती के उत्तरांश के पश्चात् के पद्य संग्रहों में उपलब्ध हैं।

९. 'आसफविलास' रचना इसका प्रमाण है। दिल्लीश्वर की प्रशंसा में इन्होंने लिखा है।

४. हरिनारायण मिश्र[1]	: शाहजहाँ
५. वंशीधर मिश्र[2]	: मुमताजमहल, शाहजहाँ
६. चतुर्भुज[3]	: शायस्त खाँ (औरंगजेब)
७. लक्ष्मीपति[4]	: मुहम्मद शाह
८. उदयराज[5]	: मुहम्मद बेगदा (गुजरात)
९. मंडन[6]	: होशंग गौरी अथवा अलपखाँ (मालवा)

उक्त सूची में से १, ३, ६, ७ तथा ९ ने संस्कृत में काव्यशास्त्रीय रचनाएँ कीं। काव्य और काव्य शास्त्र के अतिरिक्त ज्योतिष, संगीत, व्याकरण, दर्शन, कोष आदि शास्त्रीय विषयों पर मुस्लिम शासकों के संरक्षण में रचनाएँ हुईं। ये विद्याएँ भी काव्य के लिए सहायक अप्रस्तुत सामग्री प्रस्तुत करती थीं। 'नाम-माला' साहित्य (कोषशास्त्र) विशेष रूप से काव्य और काव्यशास्त्र के लिए आवश्यक था। नन्ददास ने भी 'नाममाला' की रचना की थी। हिन्दी में आरंभ से ही छंदबद्ध नाममालाओं की परम्परा मिलती है। यह परम्परा इस सूची से स्पष्ट हो जाती है:

खालिकबारी	: अमीर खुसरो	नाममाला	: बनारसीदास
अनेकार्थ मंजरी	: नन्ददास	अमरकोष भाषा	: हरिजू मिश्र
मानमंजरी	: नन्ददास	नाममाला कोष	: चन्दन
नाममाला	: नन्ददास	शब्द रत्नावली	: प्रयागदास

मुसलमान बादशाहों ने नाममालाकारों तथा अन्य संस्कृत के शास्त्रज्ञों को अपने दरबार में आश्रय दिया। हर्षकीर्ति की लिखी 'नाममाला' एक प्रसिद्ध पर्याय कोष है।[7] हर्षकीर्ति के गुरु चन्द्रकीर्ति जहाँगीर के द्वारा सम्मानित और संरक्षित थे।[8] हर्षकीर्ति ने अपनी 'धातुपाठ तरंगिणी' में संस्कृत के विभिन्न आश्रित शास्त्रकारों की सूची आश्रयदाताओं के नाम के साथ दी है।[9] 'सूची में अलाउद्दीन से लेकर जहाँगीर तक

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात्॥

१. 'पद्मवेणी' में इनके दो पद्य संकलित हैं।

२. पद्माकृत तरंगिणी में इनके दो पद्य संकलित हैं।

३. रचना 'रसकल्पद्रुम' (१६८९ ई०)।

४. रचना 'लिपिमालिका' १८वीं शती।

५. रचना 'राजविनोद'।

६. रचनाएँ—काव्य मंडन, शृंगार मंडन, सारस्वत मंडन।

७. पूना से १९६१ ई० में प्रकाशित: सम्पादक मधुकर मंगेश पटकर।

८. वही, भूमिका, पृ० VII।

९. वज्रसेन : अलाउद्दीन (अल्लवदी); रत्नशेखर-पीरोजशाह (१३५१-१३८८ ई०), हंसकीर्ति :

की परम्परा स्पष्ट होती है। अकबर से पूव ही संस्कृत के शास्त्राचार्यों को मुस्लिम प्रश्रय प्राप्त होता रहा। संगीत आदि अन्य शास्त्रकारों को भी संरक्षण मिला।[1] अनेक हिंदी काव्यशास्त्र के रचयिताओं को भी मुस्लिम संरक्षण प्राप्त था।

केशव-पूर्व हिंदी काव्याचार्यों का विशेष विवरण तो प्राप्त नहीं, पर वे भी या तो स्वतंत्र थे अर्थात् भक्तिपरक काव्यशास्त्र से सम्बद्ध थे अथवा राज्याश्रित थे। पुण्ड या पुण्य, राजा मान के आश्रित था।[2] केशवदास का सम्बन्ध यद्यपि एक हिन्दू राजा से था, फिर भी जहांगीर से उनका गहरा सम्बन्ध भुलाया नहीं जा सकता। आगे के आचार्यों का सम्बन्ध तो प्रायः राजाओं या मुस्लिम बादशाहों से था। इनका राज्याश्रय विवरण यों दिया जा सकता है :

सुन्दर कवि	: शाहजहाँ
चिन्तामणि	: नागपुर के मकरंद शाह[3]
मतिराम	: बूंदी के भावसिंह
भूषण	: शिवाजी
कुलपति मिश्र	: महाराज रामसिंह (जयपुर)[4]
सुखदेव मिश्र	: औरंगजेब के मंत्री फ़ाजिल अली
देव	: कई आश्रयदाता, पर मुख्य रूप से भोगीलाल
कालिदास त्रिवेदी	: बीना के जालिम जोगा जीत
सूरति मिश्र	: जहाँनाबाद के नेवाज मुहम्मद
आचार्य श्रीपति	: सम्भवतः स्वतंत्र
सोमनाथ	: प्रतापसिंह (भरतपुर)
करन कवि	: पन्ना नरेश
भिखारीदास	: अलवर नरेश हिन्दूपति
प्रतापसाहि	: चरखारी नरेश विक्रम साहि
नवीन	: नाभा नरेश जसवन्त सिंह
पद्माकर	: जगतसिंह (जयपुर)[5]

सिकन्दरशाह (सम्भवतः सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१८ ई०), आनन्दराय : हुमायूं (१५३०-१५४०), चंद्रकीर्ति : शाहसलेम (जहांगीर), पद्मा सुन्दर मणि : अकबर (१५५६-१६०५)।

१. Journal of Indian History 'Cultural Activities During The Reign of Allauddin Khilji, Introducing India part II. 'Muslim Patronage and contribu tion to Sanskrit Learning. J. K. chaudhary.

२. मिश्रबन्धु विनोद, भाग १ (सं० १९९४ वि०), पृ० ७३; शिवसिंह सरोज०, पृ० १ (भूमिका)।

३. सूरजबंसी भोसला लसत साह मकरंद।
महाराज विगपाल जिमि भाल समुद सुभचन्द॥
इनको रुद्रसिंह सोलंकी तथा शाहजहाँ की कृपा भी प्राप्त थी।

४. रस रहस्य ८।२०८, २०९।

५. यह सूची उदाहरण स्वरूप दी गई है। बृहत् सूची के लिए 'हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (षष्ठ भाग) देखिए।

राजाओं ने ही नहीं, उनके अमीर-उमरावों ने भी हिंदी के आचार्यों को आश्रय दिया। बेनी बन्दीजन वज़ीर टिकैटराय (लखनऊ) के कृष्ण कवि जयपुर नरेश हरनाथ सिंह के पुत्र गोविंद सिंह के आश्रित थे। इनके अतिरिक्त अनेक ज्ञात-अज्ञात आचार्यों को राजाओं के अमीर-उमरावों ने आश्रय दिया था।

इस प्रकार राज्याश्रय का द्वार हिंदी और संस्कृत आचार्यों के लिए उन्मुक्त रहा। इस राज्याश्रय ने आचार्य का स्वरूप निर्धारित किया। हिन्दी के आचार्यत्व की सीमा निश्चित करने में संस्कृत की सुदीर्घ काव्यशास्त्र परंपरा का भी हाथ था। काव्यशास्त्र के प्रत्येक अंग पर प्रायः अंतिम शब्द कहा जा चुका था। सिद्धांतों का परीक्षण, खण्डन-मण्डन तथा उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना हो चुकी थी। इस समृद्ध परम्परा ने प्रेरणा तो भरपूर दी, पर हिन्दी के आचार्य के कर्तव्य-पथ को जटिल बना दिया। काव्यशास्त्र में सक्रिय रूप से उद्भावक या व्याख्याता के रूप में भाग ले सकना सम्भव नहीं था। पर राज्याश्रय 'विनोद और विलास' के रूप में काव्य और काव्य-शास्त्र की सृष्टि की प्रेरणा दे रहा था। इस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र को स्रोत के रूप में स्वीकार करके और राज्याश्रय से प्रेरणा लेकर हिन्दी का आचार्य चला। हिन्दी के 'आचार्य' के साथ 'कवि' भी लगा रहा। आचार्यत्व की पूर्णता के लिए कवि ने उदाहरणों की योजना की। विजयी या पराजित आश्रयदाता के अवकाश क्षणों को प्रशस्ति और विनोद विलास से मंडित और स्फीत बनाना आश्रित कवि आचार्य का कर्तव्य-कर्म सुनिश्चित हुआ। इस काल का आश्रयदाता 'भोज' और 'हर्ष' की परम्परा में नहीं था, जो काव्य-शास्त्रीय सूक्ष्म ऊहापोह को आश्रय देता। वह सम्भवतः शास्त्र में नहीं विनोद में, काव्य-शास्त्र में नहीं, कविता के काव्य-शास्त्रीय रसास्वाद तथा तत्संबंधी शक्ति संचय में अभिरुचि रखता था। उसकी रुचि का एक और पक्ष था : वह काव्य-शास्त्रीय उपलब्धि में इतना विश्वास नहीं रखता था, उसे स्वयं भी कविता की रचना (चाहे प्रयत्नसाध्य ही क्यों न हो) की अभिलाषा थी। तत्कालीन सामंतीय जीवन का आदर्श वह था, जो कामशास्त्र ने निश्चित किया था। नागरिक की दिनचर्या में परिष्कृत रुचि और कला-विलास का स्थान था। उसके लिए बहुमुखी ज्ञान अनिवार्य था। साहित्य-संगीत-कला की गोष्ठियाँ आयोजित होती रहती थीं। यह वातावरण 'कवि' नहीं तो प्रयत्नसाध्य कवि अवश्य बना सकता था। कई राजाओं ने स्वयं कविता की तथा काव्यशास्त्र की रचना भी की। कुछ प्रसिद्ध राजा या राजकुमार, जिन्होंने काव्य-शास्त्र की रचना की, ये थे—नरवरगढ़ के राजा रामसिंह, तेरवा नरेश यशवन्त सिंह, अमेठी नरेश भूपति, सिंहरामऊ के रईस जमींदार रणधीर सिंह, काशिराज (काशी-नरेश महाराज चेतसिंह के पुत्र) तथा मान कवि (राजा जोरावर सिंह के पुत्र)।[1] कवि के द्वारा प्रशस्ति-गायन में राजा को अपने अमरत्व की ज्योति दीखती थी। इसके पुरस्कार में कवि को निश्चित अवकाश मिलता था। राजा प्रशस्ति के आधार पर ही अमरत्व के लोभी नहीं थे, काव्य-नैपुण्य प्राप्त करके कवि रूप में भी यशः शरीर की प्राप्ति के इच्छुक थे।[2] कवियों और काव्याचार्यों के लिए यह सौभाग्य की बात थी। ऐसे काव्येच्छु राजाओं का अस्तित्व

---

१. इनके विशेष परिचय के लिए देखिए, हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग), पृ० ४२६, ४२८, ४४५, ४५७, ४७४।

२. देव ने इस अमरत्व की चर्चा यों की है :

रहत न घरवर धामधन तरुवर सरवर कूप।
जस सरीर जग में अमर भव्य काव्य रस रूप॥ —काव्य रसायन

संस्कृत काल में भी था।[1] बाण के आश्रयदाता हर्ष स्वयं काव्य-साधक थे। राजा भोज ने अपनी साहित्य-साधना से अपने बहुशास्त्र ज्ञान को सिद्ध किया है। हाल सातवाहन का नाम प्राकृत साहित्य में प्रसिद्ध है ही। वाक्पति राज ने 'गौडवहो' नामक महाकाव्य की रचना कन्नौज के राजा यशोवर्मन के लिए की थी। इससे काश्मीराधिपति ललितादित्य के हाथों उसकी पराजय हो जाने पर भी उसकी कीर्ति अक्षुण्ण रह सकी।

उद्देश्य

उक्त सामंतीय वातावरण ने हिन्दी के काव्यशास्त्र की दिशा निर्धारित की और उद्देश्य निश्चित किया। कुछ काव्यशास्त्र के ग्रंथों के साथ 'विनोद' सम्बद्ध हुआ—पद्माकर का 'जगद्विनोद', कालिदास का 'वधू विनोद', चन्द्रशेखर का 'रसिक विनोद', जनराज का 'कविता रस विनोद', प्रतापसाहि का काव्यविनोद आदि। कुछ ग्रंथों का नामकरण 'विलास' के आधार पर हुआ—गोपालराय का 'भूषणविलास', मंडन का 'रसविलास', देव के 'भवानीविलास', 'रसविलास' और 'कुशल विलास', समनेस का 'रसिक विलास', बेनी बंदीजन का 'रसविलास', बलबीर का 'दंपतिविलास', लालकवि का 'विष्णुविलास', भोगीलाल दुबे का 'बखत-विलास', देव का 'भावविलास', रूपसाहि का 'रूपविलास', प्रतापसाहि का 'काव्यविलास' आदि। किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं कि संस्कृत के काव्यशास्त्रों की शैली पर नामकरण हुआ ही नहीं। सबसे लोकप्रिय नाम 'भूषण' या उसके पर्यायों के आधार पर बना।[2] इससे अलंकारप्रियता स्पष्ट होती है। वैसे अलंकार लक्षण-ग्रंथों का नामकरण इस प्रकार का हुआ। संस्कृत में भी इस प्रकार के नाम थे : 'काव्यालंकार' 'काव्यालंकार सूत्र', 'प्रताप रुद्र यशोभूषण', 'सरस्वती कण्ठाभरण' आदि। प्रकाश,[3] आलोक, चंद्रिका आदि से युक्त नाम भी संस्कृत की परंपरा में आते हैं। 'दर्पण' की शैली के भी कुछ नाम हैं।[4] फिर भी 'विनोद' और 'विलास' वाला नामकरण नवीन प्रतीत होता है। और प्रवृत्ति की दृष्टि से एक प्रमुख प्रेरणा स्रोत की ओर संकेत करता है।

इन राज्याश्रित आचार्यों का उद्देश्य निरूपण में भी युग की परिस्थितियों और राजरुचि के अनुसार हुआ। इनके उद्देश्यों में विकास हुआ है। काव्य-शास्त्र काव्य-साधना का एक अंग था। सदोष काव्य कर्ता

---

१. कीथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ६६।

२. उदाहरण के लिए : गोप का 'रामचन्द्र भूषण', करनेस का 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' तथा 'भूप-भूषण', जसवन्ती सिंह का 'भाषा भूषण', भूषण का 'शिवराज भूषण', भूपति का 'कंठाभूषण', दूलह का 'कविकुल कंठाभरण,' 'पद्माभरण'।

३. छेमराज का 'फतेहप्रकाश', ब्रह्मदत्त का 'दीप प्रकाश', चतुर्भुज का 'अलंकाराभा', सुखदेव मिश्र का 'फाजिल अली प्रकाश', चिन्तामणि का 'काव्यप्रकाश'।

४. गोपा का 'अलंकार चंद्रिका', रसिक सुमति का 'अलंकार चंद्रोदय', सूरति मिश्र का 'रसग्राहक चन्द्रिका'।

५. रतनेश का 'अलंकार दर्पण', सेवादास का 'रसदर्पण'।

को समाज में निन्द्य बना देता है।[1] आचार्यों ने काव्य की सफलता के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को आवश्यक माना है। व्युत्पत्ति विविध शास्त्रों का ज्ञान है तथा अभ्यास का आधार काव्यशास्त्र का ज्ञान है। इस साधना के लिए पदुमनदास ने काव्यशास्त्र तथा अन्य सम्बद्ध शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता बताई है। इनसे जो अवगत हो वही 'सुकवि' है।[2] दूलह ने इस बात को और भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार अलंकार ज्ञान से युक्त और अलंकार-प्रयोग में निष्णात कवि अलंकृती होता है और सभा में उसका आदर होता है।[3] सभा में शोभित होने और राज-दरबार में सम्मान पाने के इच्छुकों के लिए इसीलिए काव्य-शिक्षा की आवश्यकता थी। यदि कवित्व-शक्ति जन्मसिद्ध होती है, तो उसके लिए 'कविशिक्षा' और निरीक्षण भी आवश्यक होता है।[4] वैसे 'सत्कवियों' (=आचार्यों) ने पूर्वकाल में बड़े-बड़े सिद्धांतों की रचना की थी, पर 'अलंकृती' बनने के इच्छुक कवियों के लिये ऐसे लघु प्रयत्नों की भी आवश्यकता थी, जो उन सिद्धान्तों को सुगम सुलभ कर दें।[5] जो सिद्धांतों के इन लघु संस्करणों को कंठस्थ कर लेंगे, उनको भारती की सिद्धि हो सकती है।[6] इस युग के काव्यशास्त्र और आचार्य का उद्देश्य इसी आवश्यकता से निश्चित हुआ। राज्याश्रय का मोह अनेक नवीन कवियों को काव्यशास्त्र की ओर आकर्षित कर रहा था। इसलिए कवि शिक्षा और तत्सम्बन्धी ग्रन्थों की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था। सभी कवियों के पास इतनी शक्ति-संपत्ति कहाँ थी कि काव्य शिक्षा के सहारे के बिना ही युग कवि बनकर अपना स्थान बना सकें। 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' परम्परा का कवि अपनी अनिद्य भाव-सम्पदा के आधार पर चल सके। आरम्भ से ही हिंदी के आचार्य ने कवि की इस आवश्यकता को ध्यान में रखा। कृपाराम ने अपनी 'हित तरंगिणी' की रचना 'कविहित' के लिए की।[7] केशव का उद्देश्य स्पष्टतः शास्त्रोन्मुख हो जाता है। उनकी दृष्टि में कवि ही नहीं 'पाठक' भी आता है। भामह की भाँति वे भी दोषयुक्त काव्य और उसके कर्ता को समाज में निन्द्य समझते थे।[8] साथ ही अलंकाररहित कविता की

---

१. भामह : काव्यालंकार १।११।

२. ज्ञान व्याकरण कोष में छन्द ग्रन्थ को जान।
अलंकार रसरीति में निपुन सुकवि तिहि मान॥--काव्य मंजरी

३. सभा मध्य सोभा लहे, अलंकृती ठहराय।--कविकुल कंठाभरण, ४

४. सूक्ति कवित्त बनाइबे की जेहि, जन्म नक्षत्र में दीन्हि विधातै।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों देखी सुनी बहु लोक की बातें॥
--भिखारीदास : काव्य निर्णय।

५. दीरघ मत सत कविन के अर्थाशय लघुतर्ण।
कवि दूलह याते कियो, कविकुल कण्ठाभर्ण॥

६. ग्रन्थ काव्य निर्नयहि जो, समुझि करैहंगे कंठ।
सदा बसैगी भारती ता रसना उपकंठ॥--दूलह

७. हित तरंगिनी हौं रची कवि हित परम प्रकासु।
डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इनको बाद का मानते हैं। हिन्दी साहित्य, पृ०, ४।

८. राजत रंचन दोषजुत कविता बनिता मित्र।
बन्दक हाला होत ज्यों, गंगाघट अपवित्र॥--कविप्रिया ३।४।

स्थिति की भी वे कल्पना नहीं कर सकते थे।[1] अतः उन्होंने कविहित को ध्यान में रखकर ही 'कविप्रिया' की रचना की। जो कवि बनना चाहते हैं, उन्हें 'कविप्रिया' कंठस्थ कर लेनी चाहिए।[2]

केशव की दृष्टि कविशिक्षा की थी। वे बाला बालकों की शिक्षा के लिए शिक्षा ग्रंथ की रचना कर रहे थे।[3] कवि शिक्षा की परम्परा राजशेखर से निश्चित रूप में चली थी। इसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। इस शिक्षा संप्रदाय का उद्देश्य काव्यशास्त्र को उपेक्षा की दृष्टि से देखनेवाले नौसिखिये कवियों को इस शास्त्र की ओर आकर्षित करना था। राज्याश्रय का लोभ अनेक कवियों को आकर्षित तो कर रहा था, पर कवि पंथ से अनजान रहकर उनकी साधना पूर्ण नहीं हो पाती थी। व्याकरण-शास्त्र से विमुख विद्यार्थियों को इस शास्त्र की ओर आकर्षित करने के लिए यही कार्य कात्यायन ने पाणिनि सूत्रों की वार्तिक की रचना द्वारा किया था। केशव ने पूर्वाचार्यों के पुष्ट और सुनिश्चित काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की आलोचना-प्रत्यालोचना या उनका खण्डन-मण्डन न करके उनको 'भाषा' की सरल शैली में निबद्ध किया। विषय की सुस्पष्टता के लिए केशव ने उदाहरण-प्रत्युदाहरणों की रचना की। इस प्रकार व्याख्याकार आचार्य के कार्य का सम्पादन भी किया और कवि शिक्षाचार्य का भी। इस प्रकार केशव ने कवि यशेच्छु नवीन कवियों के हितार्थ पूर्वाचार्यानुमोदित सिद्धांतों को सुबोध शैली में प्रस्तुत किया और लक्षणों के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण-प्रत्युदाहरणों की योजना की। उदाहरणों में रामकृष्ण को स्थान देकर भक्तिक्षेत्रीय नवीन कवियों को भी काव्य-शास्त्रीय शिक्षा की ओर आकर्षित किया। केशव का 'बालाबालकनि' वाला उद्देश्य अप्पय दीक्षित से साम्य रखता है।[4] केशव का लक्ष्य शुद्ध कविशिक्षा था। पर अप्पय दीक्षित ने 'ललितः क्रियते' लिखकर उदाहरणों के लालित्य की ओर सम्भवतः संकेत किया है। मतिराम ने 'ललित ललाम' नामकरण करके इसी परम्परा से जैसे अपना सम्बन्ध जोड़ा था। डा० ओम प्रकाश ने इसका अर्थ 'सुकुमारोपयोगी' दिया है।[5] भूषण का उद्देश्य अलंकार निरूपण नही, शास्त्रीय माध्यम से शिवा-चरित्र गायन था।[6] इस प्रकार कविशिक्षा से 'ललित ललाम' और उससे 'शिवराज भूषण' उद्देश्य विकास की दिशा को स्पष्ट करते हैं। केशव का उद्देश्य प्रायः शास्त्रीय था। जसवन्त सिंह ने 'भाषा भूषण' की रचना 'भाषा में निपुण' और

---

१. जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुवरन, सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजहीं, कविता बनिता मित्त।। कविप्रिया ५।१।

२. कंठमाल ज्यों कविप्रिया कंठ करहु कविराज।। कविप्रिया ३।३। दूलह ने भी इसी में स्वर मिलाया।

३. समुझें बालाबालकनि बरनत पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी छमिऔ बुध अपराध।। कविप्रिया ३।१।

४. अलंकारेषु बालानाम्, अवगाहन सिद्धये।
ललितः क्रियते तेषां लक्ष्य लक्षण संग्रहः।। कुवलयानन्द ४।

५. हिन्दी अलंकार साहित्य, पृ० ९१।

६. सिव चरित्र लखि यों भयो, कवि भूषण के चित्त।
भाँति भाँति भूषननि सों भूषित करों कवित्त।। शिवराज भूषण २९।

'कविता-विषै-प्रवीनों' के लिए की।[1] यहाँ बालाबालकनि' वाला उद्देश्य नहीं दीखता। कविता-विषै-प्रवीन से तात्पर्य संभवतः काव्य शक्ति से युक्त होना है, जो दूलह के अनुसार जन्मजात होती है। उसको विकसित कवि शिक्षा करती है। 'रसलीन' ने ब्रजभाषा सीखने के लिए ही लक्षण ग्रन्थ रचा।[2] इस प्रकार उद्देश्य का विस्तार होता रहा। भूषण और रसलीन ने स्वयं अपने हित के लिए अलंकार निरूपण किया। केशव का जो उद्देश्य आरम्भ में था, वह ज्यों का त्यों पीछे न रह सका, शुद्ध कवि शिक्षा का उद्देश्य न रहकर उद्देश्य-मिश्रित होता गया।

उद्देश्य की दूसरी दिशा और है। रसिकों के लिए भी काव्य-शास्त्र की रचना हुई। पाठक को सामान्य से अधिक रस प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करने में काव्य-शास्त्र का योग रहता है।[3] भक्तों का उद्देश्य प्रेम रस परिचय देना था।[4] एक मित्र ने नन्ददास से विशेष आनंद की प्राप्ति के लिए नायक-नायिका-भेद के लिए जिज्ञासा प्रकट की।[5] केशव की दृष्टि में भी यह रसिक-जिज्ञासु वर्ग था। नन्ददास की भाँति उन्होंने भी विशिष्ट और सामान्य द्विविध उद्देश्य से 'रसिक प्रिया' की रचना की। सामान्य दृष्टि से उनके सामने रसिक-जिज्ञासु वर्ग है।[6] विशिष्ट रूप से उनकी दृष्टि में 'प्रवीणराय' है, जिसको 'सविता' ने कविता शक्ति प्रदान की थी। अतः उसके विकास के लिए उसे कवि शिक्षा अपेक्षित थी।[7] पर कवि शिक्षा का सम्बन्ध मुख्यतः अलंकार शिक्षा से माना गया। इस विशिष्ट शिक्षा की अधिकारिणी प्रवीण राय मानी गई है। वैसे 'रसिक-प्रिया' की उपयोगिता भी भाषा कवि के लिए है।[8] पर पारिभाषिक रूप से रस रीति का परिचय कराने को रसिक प्रिया और कवि शिक्षा देने के लिए कविप्रिया की रचना मानी जानी चाहिए। छन्दमाला की रचना भी कवि शिक्षा से सम्बद्ध है। भाषाकवि को संस्कृत छन्दों की शिक्षा ही केशव को इस ग्रन्थ में अभीष्ट है।[9]

---

१. ताही नर के हेतु यह कीन्हों ग्रन्थ नवीन।
जो पंडित भाषा निपुन, कविता विषै प्रवीन॥ भाषाभूषण।

२. ब्रज-बानी सीखन रची, यह रसलीन रसाल॥ अंगदर्पण, १७८।

३. डा० भगीरथ मिश्र : "यथार्थ में काव्य-शास्त्र के उद्देश्य दो ही होते हैं। एक तो उपस्थित काव्य के सौंदर्य को स्पष्ट करके उसके द्वारा सामान्य से अधिक आनंद प्राप्त करना, दूसरा दोषों से बचाते हुए उत्तम काव्य सृष्टि की प्रबल प्रेरणा भर देना।" हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास

४. बिन जाने यह भेद सब, प्रेम न परचै होय। नन्ददास, रसमंजरी-प्रस्तावना।

५. एक मीत हमसों अस गुन्यो। मैं नाइका भेद नहिं सुन्यो।
अरु जो भेद नाइक के गुने। तेहू मैं नहिं नीके गुने॥ रसमंजरी-प्रस्तावना।

६. रसिकन को रसिक प्रिया कीनी केसवदास॥ रसिकप्रिया १।१२।

७. सविता जू कविता दई, ता कहँ परम प्रकास।
ताके काज कविप्रिया, कीन्हीं केसवदास॥ कविप्रिया १।६१।

८. जैसे रसिक प्रिया बिना, देखिय दिन-दिन दीन।
त्योंही भाषा कवि सबै, रसिक प्रिया बिनुहीन॥ रसिकप्रिया १६।१५।

९. भाषा कवि समुझै सबै, सिगरे छन्द सुभाइ।
छन्दन की माला करी, सोभन केसवराइ॥ छन्दमाला।

इस प्रकार केशव का उद्देश्य उन्हें आचार्य के पद पर अधिष्ठित कर देता है। रसिकों के हितार्थ काव्यशास्त्र की रचना की परम्परा आगे भी चलती रही। भिखारीदास का उद्देश्य भी रसिकों के सामान्य ज्ञान से सम्बद्ध है।[1] दास के अनुसार बुद्धिमानों तथा रसिकों के लिए काव्य चर्चा सदैव सुखद होती है।[2] इस प्रकार रीतिकालीन आचार्यों के उद्देश्य में १८वीं शती तक विकास होता है। कवि शिक्षा का शुद्ध शास्त्रीय उद्देश्य पीछे रसिकजनों को सामान्य परिचय देने की ओर मुड़ गया। संस्कृत के काव्याचार्यों का भी उद्देश्य इसी प्रकार द्विविध बना रहा : यश-प्राप्ति और आनन्द-प्रदान करना।[3] यश-प्राप्ति के इच्छुक कवि भी इससे लाभान्वित होते थे। रसिकों के लिए काव्यानन्द की अनुभूति कराने की शास्त्रीय पद्धति प्रतिष्ठित करके आनन्द प्रदान करने में भी आचार्य समर्थ थे।

---

१. चाहत जानिजु थोर ही, रस कवित्त को वंश।
तिन रसिकन के हेत यह, कीन्हों रस सारांश॥ रस सारांश।

२. दास कवितन्ह की चरचा बुधिवंतन को सुख दै सब ठाई॥ काव्य निर्णय।

३. "The two great ends which appeal to them are the winning of fame and the giving of pleasure..."

—Keith, Hist. of Skt. Lit., P. 338

संघरक्षित और उनका सुबोधालंकार

डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी
एम० ए०, पी–एच० डी०

पालि-साहित्य के विशाल भण्डार में साहित्य-शास्त्र विषयक ग्रन्थों का प्रायः अभाव है। संभवतः इसका कारण बौद्ध आचार्यों का निर्वाण की ओर ही मुख्यतः उन्मुख होना है; जब कि काव्य अथवा काव्य-शास्त्र में निर्वाण अपर पर्याय मोक्ष विषय अत्यन्त गौण है। इस प्रसंग में यह नहीं भूलना चाहिए कि काव्य और काव्य-शास्त्र के अनेक प्रयोजनों में मोक्ष का संयोजन बौद्ध आचार्यों की ही देन है, अन्यथा वाल्मीकि आदि प्राचीनतम कवियों की रचनाओं में उद्देश्य के रूप में केवल धर्म, अर्थ और काम का ही संकेत मिलता है।[1] भरत कृत्य नाट्यशास्त्र में केवल आठ रसों की चर्चा भी इसका ही प्रमाण है।[2]

पालि-साहित्य में काव्य-शास्त्र के आचार्य के रूप में हमें एकमात्र भिक्षु संघरक्षित (भिक्खु संघ रक्खित) का पता चलता है। मेजर जी० ई० फ्रेयर (G. E. Fryer) के अनुसार संघरक्षित प्रसिद्ध पालि-महावैयाकरण मोग्गलान से अभिन्न हैं। उनके अनुसार इनका दूसरा नाम मेधंकर है, जो सीलोन के प्रसिद्धतम बौद्ध-बिहार उदम्बर गिरि के भिक्षुओं की परम्परा में १२वी शताब्दी में हुए थे। इनके गुरु का नाम सारि-पुत्त (शारिपुत्र) अथवा शील थेरा था।[3]

उनके लिखे ग्रंथों में सुबोधालंकार, वुत्तोदय, सम्बन्ध चिन्ता, सुसद्द सिद्धि, योग विनच्चय तथा खुद्दक सिक्खा टीका का स्पष्ट पता चलता है, जिनमें प्रथम दो साहित्य-शास्त्र विषयक, सम्बन्ध चिन्ता शब्द शक्ति विषयक, सुसद्द सिद्धिव्याकरण विषयक तथा शेष दो योग विनिच्चय और खुद्दक सिक्खा टीका बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित धार्मिक ग्रन्थ हैं।

साहित्य-शास्त्र विषयक इनके दोनों ग्रन्थों में से वुत्तोदय में काव्यों में व्यवहृत होने वाले छन्दों का विस्तृत एवं सोदाहरण विवेचन किया गया है और सुबोधालंकार में काव्य के लक्षण, दोष, दोष-परिहार, गुण, अलंकार एवं रसादि का विवेचन प्राप्त होता है। पालि भाषा में लिखा गया यह एक मात्र ग्रन्थ है, जिसमें काव्य के प्रायः समस्त उपादान तत्वों का विवेचन किया गया है।

तीन सौ इकहत्तर (३७१) कारिकाओं में रचित यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। जिनमें

---

१. **अभिरामस्य रामस्य चरितं कर्त्तुमुद्यतः।**
कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थं गुण विस्तरम्॥
—वाल्मीकि रामायण १, ३, ७ ८।

२. **नाट्यशास्त्र ६-१५-१६।**

३. **बंगाल एशियाटिक सोसाइटी जनरल आफ कलकत्ता (G. A. S. B.), १९७५, पृष्ठ ९१।**

क्रमशः प्रथम में अड़सठ, द्वितीय में अड़तालीस, तृतीय में अड़तालीस, चतुर्थ में एक सौ अस्सी एवं पंचम में एकत्तीस कारिकाएँ विद्ध हैं। इनमें क्रमशः काव्य-लक्षण एवं दोष-विवेचन, दोष-परिहार के उपाय, गुणों का सोदाहरण परिचय, ३५ अलंकारों का भेद-प्रभेदों एवं उदाहरणों सहित परिचय तथा विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव एवं व्यभिचारी भावों की परिभाषाओं सहित परिगणन तथा शृंगार आदि नव रसों का परिचय उपनिबद्ध है।

इस ग्रन्थ की रचना में आचार्य संघरक्षित का उद्देश्य काव्य-शास्त्र विषयक प्रायः विषयों का मागध-भाषा (पालिभाषा) के माध्यम से परिचय प्रदान करना है। इसके लिए आचार्य ने पूर्वकालीन आचार्यों की रचनाओं में उपलब्ध सामग्री का भी यथेष्ट उपयोग किया है। आचार्य संघरक्षित ने अपने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में रामशर्मा नामक आचार्य विशेष का नाम ग्राह्य उल्लेख किया है,[1] जिनकी चर्चा आचार्य भामह ने भी अपने काव्यालंकार में एकाधिक बार की थी।[2] रामशर्मा के नाम के साथ ही संघरक्षित ने आदिपद से कुछ आचार्यों की ओर संकेत किया है, यहाँ उनका संकेत संभवतः भामह और दण्डी की ओर है। कुछ विद्वानों का विचार है कि सुबोधालंकार की चर्चा दण्डी के काव्यादर्श को आधार बना कर की गयी है और अनेक बार उसमें काव्यादर्श का अनुवाद उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है; किन्तु मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ। इसका मुख्य कारण अनेक अलंकारों के नामों में पूर्ण अथवा आंशिक भेद, अलंकारों के विवेचन क्रम में दण्डी स्वीकृत क्रम का सर्वथा अभाव आदि है। आचार्य संघरक्षित काव्य में दोषों का अभाव न केवल नितान्त आवश्यक मानते हैं, अपितु दोषों के अभाव में उसमें गुणों की अनायास सत्ता स्वीकार करते हैं। संघरक्षित कृत रसादि विवेचन का दण्डीकृत काव्यादर्श में सर्वथा अभाव ही है। अतः सुबोधालंकार को काव्यादर्श का अनुकरण मानना नितान्त अनुचित है। इतना अवश्य है कि अग्निपुराण और सरस्वती कण्ठाभरण के समान सुबोधालंकार में भी अनेक अलंकारों की परिभाषाएँ काव्यादर्शगत अलंकारों की परिभाषाओं से कुछ साम्य रखती हैं, किन्तु इस साम्य का आधार वर्ण्य-विषय के धर्मों के कारण भी हो सकता है, अनुकरण के कारण ही नहीं। संघरक्षित और दण्डी की मान्यताओं और प्रयोगों में अन्तर के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

संघरक्षित ने काव्य पद के स्थान पर बन्ध पद का प्रयोग किया है। उनके अनुसार दोषरहित शब्द और अर्थ के साहित्य का नाम बन्ध अर्थात् काव्य है। गद्य, पद्य एवं मिश्र भेद से काव्य तीन प्रकार का है तथा ये तीनों प्रकार निबद्ध और अनिबद्ध भेद से दो-दो उपभेदों में विभक्त हो जाते है। यहाँ निबद्ध और अनिबद्ध से संघरक्षित का तात्पर्य कल्पना प्रधान और ऐतिहासिक होना चाहिए। काव्य का यह उपविभाजन आचार्य संघरक्षित की मौलिक उद्भावना है।

काव्यलक्षण में दोषों के परित्याग पर संघरक्षित ने सर्वाधिक बल दिया है। दण्डी और भामह दोनों ही काव्य में दोषों का अभाव आवश्यक मानते हैं। इस प्रसंग में संघरक्षित की उपमा सर्वाधिक उपयुक्त है, वे सदोष काव्य को गुणों और आभूषणों से अलंकृत उस कन्या की तरह मानते हैं, जो अपने दोष विशेष के कारण विद्वानों में कभी प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर पाती और निर्दोष होने पर वह रचना अलंकारों के अभाव में भी अनलंकृत

---

१. रामसम्पाद्यलंकारा सन्ति सन्तो पुरातनाः ॥ सुबोधालंकार १-१।

२. भामह : काव्यालंकार २– १९, ५८।

किन्तु दोष से रहित गुणशालिनी कुल-बधू के समान आदरणीय होती है; क्योंकि उनके अनुसार दोषों के अभाव में गुणों की सत्ता अनायास ही हो जाती है।

संघरक्षित के अनुसार काव्य में पदवाक्य और अर्थ भेद से तीन प्रकार के दोष हो सकते हैं। स्मरणीय है कि दण्डी और भामह दोनों ने ही दोषों का किसी प्रकार का विभाजन नहीं किया था। इस प्रकार का विभाजन हमें सर्वप्रथम वामन की काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में उपलब्ध होता है। संघरक्षित के अनुसार विरुद्धार्थान्तर, अध्यात्त, क्लिष्ट, विरोधि नेष्य, विशेषणापेक्ष, हीनार्थक और अनर्थक ये आठ पददोष; एकार्थक, भग्नरीति, अव्याकीर्ण, ग्राम्य, यतिहीन, अपक्रम, औचित्यहीन, संशय एवं दुष्टालंकृति ये ८ अर्थदोष कहे जाते हैं। स्मरणीय है कि उन्होंने वामन के अनुसार अर्थदोषों का पदार्थ और वाक्यार्थरूप में विभाजन न कर केवल अर्थदोषों के अन्तर्गत ही सब का परिगणन किया है। वामन के अनुसार असाधुकृष्ट (क्लिष्ट), ग्राम्य, अप्रतीत एवं अनर्थक पाँच पद दोष; भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट एवं विसन्धि तीन वाक्यदोष तथा अन्यार्थ नेयार्थ गूढ़ार्थ अश्लील, क्लिष्ट (पदार्थगत) व्यर्थ, एकार्थ सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, अपक्रम, लोकशास्त्र (विद्या) विरुद्ध (वाक्यार्थ) भेद से ये ग्यारह अर्थदोष हैं; जबकि दण्डी और भामह दोनों ने ही दस काव्य-दोष स्वीकार किये थे। विवेचन क्रम की दृष्टि से भामह और दण्डी ने दोष प्रकरण को ग्रन्थ के अन्त में निबद्ध किया था; जबकि संघरक्षित ने सबसे पहले। वामन-कृत काव्यालंकार सूत्र वृत्ति में रीति और गुणों के विवेचन के अनन्तर दोषों का विवेचन है; जब कि सुबोधालंकार में दोष विवेचन के अनन्तर गुणों का विवेचन किया गया है।

सुबोधालंकार के अनुसार काव्य में दस गुण हैं : प्रसाद, ओज, मधुरता, समता, सुकुमारता, श्लिष्ट, उदारता, कान्ति, अर्थव्यक्ति और समाधि।[1] भरत-कृत नाट्यशास्त्र और दण्डी-कृत काव्यादर्श में अविकल-रूप से इन्हीं गुणों का वर्णन प्राप्त होता है।[2] जबकि भामह माधुर्य, प्रसाद और ओज तीन गुण ही मानते हैं। दण्डी के गुण विवेचन में श्लेष का स्थान सर्वप्रथम है और ओज का आठवाँ; जबकि संघरक्षित प्रसाद को सर्वप्रथम स्थान देते हैं और श्लेष को सुकुमारता के अनन्तर छठे स्थान पर रखते हैं। संघरक्षित ओज को द्वितीय स्थान पर रखते हैं, जबकि दण्डी प्रसाद को द्वितीय स्थान प्रदान करते हैं। इस आधार पर दण्डी और संघरक्षित की दृष्टि से गुण विशेष को महत्व देने के प्रसंग में पर्याप्त अन्तर प्रतीत होता है।

दण्डी और भामह की दृष्टि से अलंकार दो प्रकार के हैं: शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकारों में दोनों ने ही यमक और अनुप्रास को स्वीकार किया है, यद्यपि दण्डी अनुप्रास की चर्चा गुणों के प्रकरण में प्रथम परिच्छेद में तथा यमक की चर्चा दोष विवेचन से पूर्व तृतीय परिच्छेद में करते हैं।[3] साथ ही वे इसी प्रकरण में चित्र तथा प्रहेलिका की भी चर्चा करते हैं। आचार्य संघरक्षित ने शब्दालंकारों की सर्वथा उपेक्षा की है। यही परम्परा हमें संस्कृत काव्य-शास्त्र के उत्तरकालीन आचार्य शोभकरमित्र, अप्पय

---

१. सुबोधालंकार ३-२।

२. (क) नाट्यशास्त्र १७-९६; (ख) काव्यादर्श १-४१।

३. काव्यादर्श १.५२-५७, ३.१-७७।

दीक्षित, जगन्नाथ, विश्वेश्वर और भट्ट देवशंकर आदि में प्राप्त होती है। कालक्रम से अलंकार-शास्त्र का अध्ययन करने पर संघरक्षित ही इस परम्परा के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं।

आचार्य संघरक्षित के अनुसार अर्थालंकार तैंतीस हैं।

सुबोधालंकार में स्वीकृत अलंकारों में से महन्तत्थ, एकावली, भम एवं अञ्ञोञ्ञ चार अलंकार ऐसे हैं, जो दण्डी के काव्यादर्श में स्वीकृत नहीं है; अन्य अलंकार के बीच अन्तर्भाव अथवा भेदोपभेदों के बीच इनकी सत्ता खोजना दूसरी बात है। वंचना और परिकप्पना अलंकारों को दण्डी ने अपह्नुति एवं उत्प्रेक्षा अलंकार नाम दिया था। इसके अतिरिक्त सुबोधालंकारगत पियतर, समासवुत्ति, परियायवुत्ति, व्याजोपवण्णन, रूळ्हालंकार, अप्पकतत्थुति, सहवुत्ति, भाव और मिस्स के नाम भी कुछ अन्तर के साथ ही काव्यादर्श में उपलब्ध होते हैं।

सुबोधालंकार में वर्णित समस्त अलंकारों के लक्षण एवं भेदोपभेद देना विस्तार-भय से यहाँ उचित न होगा। किन्तु इस प्रसंग में इस धारणा के प्रति विरोध प्रकट करना आवश्यक समझूँगा कि सुबोधालंकार में संघरक्षित ने दण्डी का ही सर्वशः अनुकरण किया है। दण्डी और संघरक्षित द्वारा दिये गये लक्षणों में यदि कहीं साम्य प्रतीत होता है तो वह लक्ष्य के धर्म के कारण है, अनुकरण के कारण नहीं। किसी एक वस्तु के स्वरूप का वर्णन यदि अनेक लोगों द्वारा स्वतन्त्र रूप से भी किया जाए तो वस्तुगत धर्म की अभिन्नता के कारण वर्णन में समानता की सत्ता स्वतः रहेगी ही। कभी-कभी दृष्टि भेद के कारण अन्तर भी हो सकता है। सुबोधालंकार में भी दृष्टि भेद के कारण अलंकारों के लक्षणों एवं भेद-प्रभेद की कल्पना में अनेक बार मौलिक अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ सुबोधालंकार के प्रथम अलंकार अतिशय को ही लें—दण्डी के अनुसार 'लोकोत्तर विशेष की विपक्षा से किया गया कथन अतिशयोक्ति अलंकार है।' संघरक्षित के अनुसार अतिशयोक्ति में विशेष का लोकोत्तर होना आवश्यक नहीं है, केवल 'अतिशयविशेष की प्रकाशक उक्ति को भी अतिशय अलंकार कहा जा सकता है'। यही कारण है कि उन्होंने लोकातिक्रान्त अतिशय के साथ ही लोकिकातिशयोक्ति को भी अतिशयोक्ति के भेद के रूप में स्वीकार किया है।

अलंकारों के भेद-प्रभेदों की कल्पना में भी दण्डी और संघरक्षित के बीच महान अन्तर परिलक्षित होता है। दण्डी ने उपमालंकार के धर्मोपमा आदि बाईस भेदों को स्वीकार किया था, जिनमें से संघरक्षित ने केवल चौदह भेदों की ही चर्चा की है। भेदों की कल्पना में विस्तार-भय से कुछ की उपेक्षा कर देना स्वाभाविक हो सकता है, किन्तु यहाँ वे सभी भेद छोड़ दिए गए हैं, जिन्हें आचार्य भामह ने अस्वीकृति प्रदान की है; इसके फलस्वरूप भेद विशेष के छोड़ देने में मान्यता भेद की कल्पना करना अनुचित न होगा। इस संदर्भ में यह भी स्मरणीय है कि आचार्य मेधावी स्वीकृत सात उपमा दोषों की संघरक्षित ने भी पुष्टि की है; जिनका भामह ने उल्लेख किया था एवं दण्डी ने उन्हें स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार किया था।

आचार्य दण्डी ने रूपकालंकार का सर्वप्रथम विभाजन वाक्य संघटन की दृष्टि से करते हुए समस्त रूपक, व्यस्तरूपक आदि भेद किए थे, जब कि संघरक्षित ने आरोप्यमाण और आरोपविषयों की सम्पूर्णता और अल्पता के आधार पर सर्वप्रथम समस्त वस्तु विषय एवं एक देश विवर्ति भेदों का परिगणन किया है, जो उत्तरकालीन आचार्यों द्वारा निर्विवाद रूप से स्वीकृत हुए हैं। उन्होंने परम्परा के अनुसार रूपकालंकार के अनन्त भेद कहते हुए समासोक्त रूपक की चर्चा अवश्य की है। किन्तु उसे विशेष महत्व प्रदान नहीं किया है।

दीपकालंकार के प्रसंग में भी उन्होंने दण्डी स्वीकृत जाति, द्रव्य, गुण एवं क्रियादीपक तथा विरुद्धार्थ, एकार्थ एवं श्लिष्टार्थ दीपक भेदों की चर्चा नहीं की है। यही स्थिति आक्षेप अलंकार में है। आचार्य संघरक्षित ने अतीत, वर्त्तमान एवं अनागत भेद से आक्षेप अलंकार को तीन प्रकार का मानते हुए दण्डी स्वीकृत धर्म्याक्षेप आदि इक्कीस भेदों की पूर्णतः उपेक्षा की है। परिकल्पना (उत्प्रेक्षा) अलंकार में संघरक्षित ने क्रिया परिकल्पना (क्रियोत्प्रेक्षा) आदि भेदों के साथ उपमाभ्यन्तरापरिकल्पना नामक भेद को स्वीकार किया है। दण्डी जिसका उल्लेख करते हुए स्पष्ट शब्दों में खण्डन करते हैं। इसके अतिरिक्त वंचना (अपह्नुति) अलंकार में दण्डी आदि आचार्यों ने विषयापह्नुति आदि भेदों को स्वीकार किया है; जबकि संघरक्षित ने इन भेदों की चर्चा किए बिना समवंचना एवं असमवंचना भेद से दो भेद स्वीकार किये है। इसके आधार पर यह स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि संघरक्षित ने सुबोधालंकार में दण्डी का अनुकरण नहीं किया है, जैसा कि हेरम्ब चटर्जी आदि कुछ विद्वान् स्वीकार करते हैं।

सुबोधालंकार में किए गए अलंकार विवेचन तथा यथावसर पूर्वाचार्यों के स्वीकृत नामों के अन्तर में संघरक्षित की मौलिकता है अथवा यदि उन पर किसी आचार्य विशेष का प्रभाव है तो वे आज खोज के विषय हैं। अधिक संभव है कि इनका सुबोधालंकार रामशर्मा (रामश्रमण) के ग्रन्थ से प्रवर्तित परम्परा पर आधारित हो। जिनके नाम का उल्लेख ग्रन्थ के आरम्भ में ही किया गया है।[1] इन रामशर्मा की चर्चा भामह ने भी काव्यालंकार में प्रहेलिका अलंकार के प्रसंग में की है तथा उपमानाधिकत्व दोष का उदाहरण रामशर्मा के ग्रन्थ (अब तक अज्ञात) से संकलित किया है।

ग्रंथ के अन्तिम परिच्छेद में आचार्य संघरक्षित ने रस आदि का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। विभाव, अनुभाव, सात्विक एवं व्यभिचारीभावों की परिभाषाएं भी दी हैं, जो नाट्यशास्त्र में उपलब्ध परिभाषाओं का अनुसरण करती है। इनके द्वारा संकेतित रसानुभूति का सिद्धान्त नाट्यशास्त्र के भाष्यकार अभिनव गुप्त की मान्यता से अभिन्न है। नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत ने केवल आठ रसों को स्वीकार किया था, जबकि आचार्य संघरक्षित शान्त रस के साथ रसों की संख्या नौ मानते है। इस प्रसंग में उनकी मान्यता आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि आचार्यों का अनुगमन करती है। रसों के अवान्तर भेदों में उन्होंने केवल हास्य के भेद प्रदर्शित किए है। ऐसा अन्य किसी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता। रसों के अतिरिक्त संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा स्वीकृत भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता की चर्चा इन्होंने नहीं की है।

आचार्य संघरक्षित ने सुबोधालंकार में दोषगुण अलंकार आदि सभी प्रकरणों में प्रायः सभी उदाहरण स्वनिर्मित ही दिये है; जिससे उनकी कवित्व प्रतिभा की सूचना मिलती है। कहीं-कहीं इनके उदाहरण पद्यों में संस्कृत कवियों का भी स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है; जो इनकी स्वाध्यायशीलता की परिचायक है। इनके प्रायः सभी पद्यों में भगवान् बुद्ध के प्रति भक्ति-भाव की व्यंजना हुई है।

इस ग्रंथ पर अब तक हमें पांच टीकाओं का पता चल सका है। पहली टीका वाचिस्सर नाम से प्रचलित किसी सिंहली भिक्षु के द्वारा १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखी गई है।[2] डा० भरतसिंह उपाध्याय

---

१. रामसम्पाद्यलंकारा सन्ति सन्तो पुरातनाः।। सुबोधालंकार १.२।

२. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५७२।

के अनुसार इसके लेखक सारिपुत्र के शिष्य हैं। मललसीकर के अनुसार इन्हें १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होना चाहिए। इस पर लिखी गई दूसरी टीका 'छपच्चय' दीपनी है, जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी में वर्मी भिक्खु सद्धम्मयाण द्वारा की गई है। बर्मा में इस पर सन् १८८० ई० में अलङ्कार निस्सय नाम की टीका लिखी गई है, जिसके लेखक अज्ञात हैं। इसके अतिरिक्त काव्य-साहित्य-संग्रह नामक टीका सन् १८७२ ई० में विन्दा-भिसिर नामक वर्मी लेखक द्वारा लिखी गई है। डाक्टर हेरम्ब चटर्जी के अनुसार इन टीकाओं के अतिरिक्त परिवार नाम की एक टीका सीलोनी भाषाओं में और है, जो अब तक ताड़पत्र पर सीलोन में ही सुरक्षित है तथा अब तक उसका प्रकाशन न हो सका है, तथा जो इस ग्रन्थ को स्पष्ट करने में पर्याप्त सहायक है। इस ग्रन्थ का एक अनुवाद वर्तमान शताब्दी में भिक्खु अय्यवंश द्वारा बंगला भाषा में किया गया है, जिसका प्रकाशन १९४८ में कलकत्ता से हुआ है। किन्तु यह अनुवाद न तो विषय विवेचन की दृष्टि से प्रौढ़ कहा जा सकता है और नहीं ही अर्थ को स्पष्ट कराने में पूर्ण सक्षम है।

पालि-साहित्य के विशाल भण्डार में अब तक उपलब्ध एकमात्र अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थ सुबोधालंकार प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ के मूल एवं टीकाओं के प्रकाश में आने से निस्सन्देह अलंकार-शास्त्र के इतिहास में एक रिक्तता की पूर्ति होगी।

'चित्रालङ्कार' साहित्य की अनुपम कृति 'कङ्कण-बन्ध-रामायण'

आचार्य डा० रुद्रदेव त्रिपाठी
एम० ए०, पी-एच० डी०

भारतीय-वाङ्मय की विविध धाराओं में शब्दालङ्कार से समन्वित रचनाओं ने सदा अपनी चमत्कार-परम्परा के कारण विद्वानों को आकृष्ट किया है। संस्कृत-साहित्य ऐसी विधाओं का कोष है और उसमें आज भी ऐसे अनेक रत्न छिपे हुए हैं, जिनके आलोचन से मानवीय मेधा की लोकोत्तरता किस चरम बिन्दु तक पहुँच सकती है; इसका आश्चर्यकारी आभास परिलक्षित होता है।

यद्यपि संस्कृत-भाषा की अपनी कुछ क्षमताएँ तथा मर्यादाएँ ऐसी हैं, जो अन्य सामान्य भाषाओं में सर्वथा दुष्प्राय हैं; तथापि व्याकरण के प्रौढ़ पाण्डित्य एवं साहित्य की विविध विधाओं के मङ्गल-मिलन से समुद्भूत प्रतिभा वाले विशिष्ट रचनाकारों की प्रतिभा ही उसमें प्रमुख रहती है। उदाहरणार्थ, महाकवि दण्डी तथा कुछ कवियों ने ओष्ठ्य वर्णों से रहित रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनकी पृष्ठभूमि किसी पात्र के अभिनय से पूर्व आकस्मिक दुर्घटना-ग्रस्त हो जाने से उसके ओष्ठ का कट जाना है। कटे हुए ओष्ट वाला पात्र यदि अभिनय के समय पवर्ग का प्रयोग करता है, तो उसका उच्चारण अवश्य ही अशुद्ध होगा और उसी समय उसे उच्चारण-जन्य कष्ट तो होगा ही। इस आकस्मिक कष्ट से मुक्त रखने के लिये निरोष्ठ्य वर्ण-प्रयोग कितना सहायक हुआ होगा ; यह सहृदय ही जान सकता है। दशकुमार चरित का अन्यतम उच्छ्वास, निरोष्ठ्य चम्पू और निरोष्ठ्य रामायण इसके उदाहरण हैं।

इसी प्रकार रामायण की एक पात्र शूर्पणखा को लक्ष्य में रखकर लिखा गया 'निरनुनासिक चम्पू' काव्य बेचारी कटी नाकवाली शूर्पणखा द्वारा रावण के दरबार में राम के व्यवहार का वर्णन करते हुए अनुनासिक वर्णों के अपप्रयोग से उत्पन्न उपहास से किस तरह बच गई, यह भी कितनी गौरव की बात है? ङ-ञ-ण-न-म आदि वर्णों के प्रयोग से मुक्त अपने कथन की सुविधा से शूर्पणखा की तुष्टि के साथ सभ्यों का आश्चर्य भी इसमें द्रष्टव्य है।

यही क्यों, अशोक वाटिका में बैठी सीता को जब रावण अपनी रानी बनाने के लिये बार-बार आग्रह करता है; तब तीन चरणों के संवाद को केवल मात्रा, अनुस्वार, अक्षर अथवा पद के परिवर्तन का सङ्केत चौथे चरण से देकर रावण के कथन को धूल में मिला देने वाली युक्ति वाले काव्य—'सीतारावण संवाद-क्षरी' का अन्यत्र उदाहरण कहाँ मिल सकता है? बीसवी शती की ऐसी एक ही नामवाली तीन कृतियाँ आज उपलब्ध हैं, जो च्युत-चित्रालङ्कार के कुछ भेदों का ही परिणाम हैं। केवल एक ही अक्षर को स्वरमाला से संयुक्त कर स्रग्धरा जैसे विशाल छन्द की सार्थक रचना, दो अक्षरों से बने पद्यों द्वारा इष्टस्तुति (एकाधिक

पद्यमय) की रचना, पूरे के पूरे महाकाव्य में धारावाहिक सात-सात कथाओं की समायोजना, गद्य-पद्य के काव्यों द्वारा पूरे व्याकरण का क्रमिक बोध, जिसमें एक ओर काव्यगत कथानक और दूसरी ओर व्याकरण के सूत्रों से सम्मतप्रयोगों का ज्ञापन होता है; श्लेषालङ्कार की पराकाष्ठा प्रकट करते हुए केवल अष्टाक्षरी वाक्य 'राजा नो ददते सौख्यं' के आठ लाख से भी अधिक अर्थ करना, पूरे काव्य में लोम-विलोम-पद्धति से आधा पद्य सीधा पढ़ने पर राम कथा और उसी को उलटा पढ़ने पर कृष्ण कथा का आनन्द देने वाला दैवज्ञ सूर्यमल्ल का कार्ष्णिकाव्य, एक ही ग्रन्थ में विभिन्न पठन-पद्धतियों के आश्रय से विभिन्न विषयों का समायोजन, लक्ष्य-लक्षण की एक साथ सङ्गति, जनजीवन के जागते चित्रों में वर्ण योजना कर भावनाओं का उद्रेक उपस्थित करना आदि विचित्र कर्म सचमुच ही संस्कृत-भाषा में ही सुलभ हो सकता है।

चित्रालङ्कार शब्दालङ्कार के स्वेतर भेदों को अपने में आवर्जित करता है। यह श्रव्य होने के साथ ही दृश्य भी होता है। सामाजिक उपादानों के आश्रय से अभिव्यक्त होने के कारण समाज के साथ इसका पूरा सामञ्जस्य है और कृतिगत वैशिष्ट्य के साथ ही कृती की मेधाशक्ति के चमत्कारपूर्ण परिणमन के कारण विस्मय का जनक तो है ही। स्वर, वर्ण, स्थान, गति, प्रहेलिका, च्युत, गूढ़, प्रश्नोत्तर, समस्या, भाषा, आकार और छन्द से सम्बद्ध विविध भेद-प्रभेदों के कलात्मक समन्वय से यह भेद बहुत ही विस्तारवाला बन गया है और लक्ष्य तथा लक्षण-ग्रन्थों में हेय-प्रेय की दोलाचल-स्थिति में बहते हुए भी सदा विकसित ही हुआ है, जो इसकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का अनुपम प्रमाण है।

कङ्कण-बन्ध और उसके प्रकार

आभरणों की विविधता में कङ्कण का अपना कुछ विशेष महत्त्व है। यह पुरुष और महिला दोनों के हाथों की बहुत प्राचीन काल से शोभा बढ़ाता आया है। वैदेशिक चाकचक्य से प्रभावित पुरुषवर्ग ने तो अब इस अलङ्करण को छोड़ दिया है, किन्तु महिलाएँ आज भी उसे अपने सौभाग्य का प्रतीक मानती हैं। कवि ने कङ्कण की आकृति को अपने बन्धकाव्य में बड़ा महनीय स्थान दिया और उसके मणिमण्डित आकार में जड़े हुए मोतियों को एक निश्चित आकार देकर, तदनुकूल पद्य-रचना की है, जिसे 'कङ्कण-बन्ध' नाम दिया जाता है।

प्रकारभेद की दृष्टि से कहीं ३२ मणियाँ, कही २४ मणियाँ, कहीं १६ मणियाँ तथा कही ८ मणियों का उपयोग होने से स्वभावतः चार भेद बन जाते हैं और जब इन मणियों में एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर या चतुरक्षरों का विन्यास कर पूरे पद्य की चमत्कृत-पठन-प्रणाली पूर्वक योजना की जाती है, तो चार भेद और बन जाते हैं। पाठ्य-पद्धति की दृष्टि से भी कही गृहीत-मुक्त, कही आवृत्ति और कहीं विलोमपद्धति आदि का प्रयोग होता है तथा कही पहली बार पूर्ण वर्णावृत्ति और दूसरी बार कतिपय वर्णावृत्ति भी होती है और उसमें भी नियतावृत्ति एवं अनियतावृत्ति की जाय तो यह भेद परम्परा पर्याप्त विस्तृत हो जाती है। लोम-विलोम और अर्धार्ध लोम-विलोम पद्धति इस आवृत्ति-प्रक्रिया में अत्यन्त चमत्कारिक मानी जाती है और क्लिष्टाक्षरों के द्वारा विभिन्नार्थों का परिज्ञापन उसकी चरम स्थिति है।

रामायण और चित्रकाव्य

चित्रालङ्कार के लिये महाकाव्यों में प्रायः कविवर्ग किसी एक सर्ग को चुन लेता है और उसमें आए

हुए विषय के अनुरूप ही चित्र-पद्यों की रचना भी करता है। इस दृष्टि से युद्ध-वर्णन को सर्वाधिक स्थान मिला है। भारवि का किरातार्जुनीय, माघ का शिशुपालवध, हरिश्चन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय आदि इसके निदर्शन हैं। चित्रकाव्य-प्रकटन का दूसरा क्षेत्र स्तुति-काव्य है। देवताओं की दिव्य विभूतियों का चूड़ान्त वर्णन इसका विषय है; अतः किसी भी पद्धति से इष्ट का गुणाख्यान विभिन्न चित्र-पद्यों में किया जाना सरल होता है। सैकड़ों स्तुति-काव्यों में चित्रालङ्कारमय पद्य उपलब्ध होते हैं; यथा - आनन्दवर्धनाचार्य का देवीशतक, अवतार-कवि का ईश्वरशतक आदि।

चित्रकाव्य के क्षेत्र में भी रामकथा का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। दैवज्ञ सूर्यमल्ल कवि ने 'रामकृष्ण-विलोम काव्य' से चित्र-कवित्व को पुरस्कृत किया है तो एक महाराष्ट्र के भक्त-कवि श्रीमयूरपन्त ने मन्त्र-रामायण, किन्नु रामायण, इत्यादि रामायण आदि १०८ प्रकार की रामायण-कथाएँ लिखकर चित्रात्मकता को अपनाया है। सन्ध्याकर नन्दी का 'रामचरित' एक साथ दो कथाओं को प्रस्तुत करके धनंजय और राघव-भट्ट को 'राघव-पाण्डवीय' जैसे चित्रार्थ काव्यों की प्रेरणा देने में अग्रसर रहा है।

इस परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए दक्षिण के वेंकटेश कवि ने 'चित्रबन्ध-रामायण' की रचना करके उसमें अनेकविध चित्रबन्धों के माध्यम से ही रामायण की कथा का ग्रथन किया है।

कङ्कणबन्ध और रामायण

प्रायः किसी पद्य की रचना में कवि इतना ही श्रम करता है कि यदि वह मुक्तक है, तो अपने आप में कथनीय भाव से परिपूर्ण हो और यदि वह काव्यान्तर्गत प्रचलित रचना से सम्बद्ध है, तो वह पूर्वापर सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए अपने लक्ष्य की पूर्ति करे। कुछ ऐसे पद्य भी मिलेंगे जो मुक्तक होते हुए भी वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्यार्थ के समान विभिन्न अर्थों को समेटे हुए हों। किन्तु चित्रालङ्कार के पद्य इस सीमा से कुछ आगे बढ़कर गर्भगत वैशिष्ट्य के द्वारा कवि, काव्य, स्तव्य, मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, भेषज, आभाणक आदि को भी प्रकट करते हैं अथवा श्लेषालङ्कार की सहायता से एक से लेकर अनेकार्थों की सृष्टि करते है।

जब उपर्युक्त कतिपय प्रक्रियाओं को सम्मिलित रूप में प्रस्तुत किया जाए तो स्वाभाविक है कि वह कृति अपने ढंग की अनूठी होगी। कङ्कण-बन्ध की रचना में ऐसे प्रयोग हुए हैं, जिनका प्रथम उदाहरण वेंकटेश कवि ने 'चित्रबन्ध-रामायण' में दिया है। बत्तीस अक्षरों से निर्मित कङ्कणबन्ध में अनुष्टुप् छन्द के प्रत्येक अक्षर को 'गृहीतमुक्त' पद्धति से पढ़ा जाता है। इस प्रकार के पठन से जब सीधा पठन किया जाता है तो बत्तीस पद्य बन जाते है और उन पद्यों में प्रत्येक का सन्दर्भानुसारी अर्थ निकलता है। किसी भी छन्द में यह रचना की जा सकती है। कवि की विवेच्य शक्ति की प्रधानता से अनुलोम और विलोमगति द्वारा जितनी बार पठन होगा, उतने ही पद्य बनते जाएँगे।

वशिष्ठ गोत्रीय कृष्णमूर्ति कवि ने इसी बन्ध को आधार बना कर केवल एक अनुष्टुप् के बत्तीस अक्षरों के लोम-विलोम पाठ से बत्तीस के स्थान पर चौसठ पद्यों की रचना की है और साथ ही उसमें रामायण के कथानक को क्रमिक समावेश भी कर दिया है। इस सफलता पर कवि ने स्वयं कहा है कि :

ननु कङ्कणबन्धकृतिः कृतिनामपि नो सुकरा यदि वा कविभिः।
कविभिर्घटिताऽस्ति तथापि कथाक्रम-संग्रथिता न चकास्ति भुवि॥

अर्थात् 'यद्यपि पूर्वकवियों ने जो कङ्कण-बन्ध की रचना की है, वह भी सामान्य कवि के लिए सुकर नहीं है; किन्तु उन्होने फिर भी वैसी रचना की है। तथापि कथाक्रम से ग्रथित कङ्कण-बन्ध की रचना आज तक इस पृथ्वी पर नही मिलती है।' इस प्रकार प्रस्तुत बन्ध-निर्माण की महत्ता पर प्रकाश डाल कर उक्त कवि ने एक ऐसे पद्य की रचना की, जिसमें सारी रामकथा का छः काण्डो में समावेश किया और उनके पद्यों का विभाजन निम्नलिखित रूप में किया :

पहले काण्ड में १२ पद्य, दूसरे में १३ पद्य, तीसरे में ६ पद्य, चौथे में ११ पद्य, पाँचवे मे १० तथा छठे में १२ पद्य। इस प्रकार कुल चौंसठ पद्यों और छः काण्डों में पूरी रामायण की कथा का ग्रथन कङ्कण-बन्ध के एक ही पद्य में इस प्रकार किया गया है :

नेतादेवालीनामाशाधानाधीनानेका लोका।
मास्थानं भाख्या योगीशं पायादेतं रामे राजा॥१॥

यह पद्य ३२ अक्षरों से निर्मित है। इसका प्रत्येक अक्षर कङ्कण के प्रत्येक मोती मे निहित रहता है। प्रथम अक्षर से बत्तीसवे अक्षर तक पहला पद्य बनता है। द्वितीय अक्षर से आरम्भ करके बत्तीसवे अक्षर तक आकर उसमें प्रारम्भ का पहला अक्षर और जोड़ देने पर ३२ अक्षर का पुनः पद्य बन जाता है। इसी प्रकार ग्रहण-मुक्त पद्धति से अनुलोम पाठ से ३२ पद्य बनते हैं और विलोम पद्धति से पुनः पाठ करने पर अन्य ३२ पद्य और बन जाते हैं और कुल पद्यों की संख्या ६४ बन जाती है। इन पद्यों के प्रारम्भाक्षरों की योजना प्रतीक रूप में :

१. नेता० २. तादे० ३. देवा० ४. वाली० आदि है।

उपर्युक्त प्रत्येक दो-दो अक्षर प्रत्येक पद्य के आरम्भाक्षर है तथा इनसे बनने वाले ३२-३२ अक्षर के ६४ पद्यों का रामायण के सन्दर्भ में अर्थ लगाना भी कोई सरल कार्य नही है। अतएव स्वय कवि ने ही इन पद्यों की व्याख्या भी प्रस्तुत कर दी है।

एक सौ अट्ठाईस अर्थों वाला कङ्कणबन्ध

उपर्युक्त कवि से प्रभावित होकर ही चारलू भाष्यकार शास्त्री ने एक अन्य कङ्कण-बन्ध की रचना की है, जिसके पद्य तो चौसठही बनते हैं; किन्तु उन प्रत्येक पद्य के दो-दो अर्थ किये है और उनमे पूरी रामायण की कथा को विभाजित करते हुए १२८ अर्थो मे उसे सकलित किया है। इस रचना का मूल पद्य इस प्रकार है :

रामानाथा मारासारा चारा नारा गोपाधारा।
धारा धारा भीमाकारा पारा वारा सीतारामा॥

समस्त संस्कृत-वाङ्मय में ऐसी आश्चर्यपूर्ण रचनाएं हैं, जिनमें चित्रात्मकता के साथ ही विभिन्न विचित्रताओं का भी समावेश है। साथ ही यह भी प्रसन्नता का विषय है कि ऐसी काव्यधारा आज भी रुकी नही है, अपितु बढ़ती ही जा रही है।

नाट्य-शास्त्र की पूर्ववर्ती-परम्परा

डा० ब्रजबल्लभ मिश्र
एम० ए० पी-एच० डी०

नाटक के लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में आचार्य भरतमुनि कृत 'नाट्य-शास्त्र' विश्व-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थों में से है। पाश्चात्य-विद्वान् इस सन्दर्भ में अरस्तू के 'पोइतिक्स' को सबसे प्राचीन मानते हैं। सिद्धान्ततः 'पोइतिक्स' नाटक का लक्षण-ग्रंथ न होकर, काव्य का लक्षण-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में अरस्तू ने प्रसंगवश त्रादस-नाटकों पर भी कुछ लिख दिया है, किन्तु वह बहुत अल्प है। उसके आधार पर उसे नाट्य-ग्रन्थ कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से भरतमुनि का 'नाट्य-शास्त्र' ही विश्व का प्राचीनतम लक्षण-ग्रन्थ ठहरता है।

कतिपय विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि भारत में ईसापूर्व पाँचवीं शती में नाटक की कला का अस्तित्व नहीं था। इसी के विपरीत यूनान में ईसापूर्व चौथी और पाँचवीं शती में नाटक का जन्म हो चुका था। कतिपय लेखकों के कथ्यानुसार यह बात विश्वकोष अमेरिकना और ब्रिटेनिका में भी लिख दी गई है कि विश्व में नाट्यकला का विकास सर्वप्रथम यूनान में हुआ।

अपने तर्क को पुष्ट करने के लिये इन्होंने महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी को आधार बनाया। कहा गया कि अष्टाध्यायी में न तो कहीं नाट्य शब्द देखने को मिलता है और न कहीं अभिनेता। पाणिनि का समय ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी निश्चित किया गया। इसके साथ ही कुछ लोगों ने अष्टाध्यायी के सूत्र "पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षु नट सूत्रयोः" को उद्धृत करके नाटक तो नहीं, हाँ 'नट' शब्द की पाणिनि-काल में खोज कर ली। इस सूत्र के अनेक प्रकार से अर्थ किये गये और इसका सम्बन्ध नाटक से जोड़ने की चेष्टा की गयी। इस सबके बाद भी यह सिद्ध नहीं हो पाया कि पाणिनि-काल में भारत में 'नाटक' का कला के रूप में अस्तित्व था। इस सूत्र में 'नट' शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है, किन्तु 'नाट्य' अथवा 'अभिनेता' शब्द की चर्चा कहीं देखने को नहीं मिलती।

इस अन्वेषण की दृष्टि में सबसे बड़ा दोष यह रहा है कि हमने अपनी प्राचीन नाट्य-परम्परा को भ्रान्त शब्दों के आधार पर खोजने की चेष्टा की। अन्वेषण करते समय हमारी दृष्टि 'नट' अथवा 'नाट्य' शब्द को प्राचीन साहित्य में टटोलती रही। भारत की प्राचीन नाट्य-परम्परा में 'नाट्य' शब्द बहुत समय तक तो प्रचलित ही नही हुआ और जब अस्तित्व में आया भी, तो बहुत सीमित अर्थ लेकर प्रकट हुआ था। उसका तत्कालीन अर्थ आज के अर्थ से पूर्णतः भिन्न था। इसी प्रकार 'नट' शब्द का प्रयोग भी उस समय भिन्नार्थक था। अतः इन शब्दों के आधार पर भारत की प्राचीन नाट्य-परम्परा का अन्वेषण करना एक निरर्थक प्रयास ही है।

प्रश्न यह है कि क्या पाणिनि के काल में सचमुच 'नट' शब्द का अर्थ 'अभिनेता' था अथवा हम बलात्

उससे वह अर्थ निकालने की चेष्टा करते रहे हैं। इस बात को समझने के लिये हमें पाणिनि से पूर्व की शब्द-स्थिति पर विचार करना अधिक उपयुक्त है।

पाणिनि से पूर्व देश में प्राकृत-भाषाएँ थी। आर्ष-प्राकृत का काल उनसे भी प्राचीन रहा है। आर्ष-प्राकृत में नट के लिये 'णट्ट' शब्द का प्रयोग हुआ करता था। 'णट्ट' एक जातिवाचक शब्द था। 'पाइअ णट्ट महण्णवो' में 'णट्ट' का अर्थ 'नर्तकों' की एक जाति है। पालि शब्द-कोश में भी 'नट' नर्तकों के अर्थ का द्योतन करता है। पालि-भाषा का समय ईसापूर्व चौथी शताब्दी से प्रारम्भ होता है, अर्थात् ईसापूर्व एक हजार वर्ष से ईसापूर्व प्रथम शताब्दी तक नट का अर्थ नर्तकों की जाति थी। मनु ने अपनी 'स्मृति' में इस जाति के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि व्रात्य-क्षत्रिय से सवर्णो में उत्पन्न सन्तान को नट, करण, खस और द्रविण कहा जाता है। इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि नट अभिनेता का पर्याय न होकर एक जाति का नाम था। यह जाति पाणिनि के बहुत पहले से भारत में विद्यमान थी।

भारत की नाट्य-शास्त्रीय परम्परा का परिशीलन करते समय सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि पाणिनि अथवा उससे पूर्व इस देश मे अभिनेता शब्द का अस्तित्व नहीं था। स्वयं 'नाट्य-शास्त्र' में अभिनेता के लिये अभिनेता शब्द प्रयुक्त न होकर प्रस्तोता अथवा प्रयोगज्ञ शब्द का प्रयोग हुआ है। अभिनेता शब्द 'नाट्य-शास्त्र' के बहुत बाद प्रचलन में आया है।

पाणिनि से पूर्व नाट्य अथवा अभिनेता शब्दों का प्राप्त न होना इस बात का प्रमाण नही कि भारत में उस समय तक नाट्य-कला का विकास नहीं हुआ था, अपितु इस बात का द्योतक है कि पाणिनि से पूर्व भारत में अभिनेता और नाट्य-कला के लिये किन्हीं अन्य शब्दो का प्रयोग किया जाता था।

विषय में गहनता से अवगाहन करने पर प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती-परम्परा में अभिनेताओं को भरत कहा जाता था। यद्यपि 'नाट्य-शास्त्र' के प्रणेता का नाम भरतमुनि था, किन्तु भरतमुनि शब्द में केवल मुनि शब्द ही विशिष्ट रचनाकार की वैयक्तिकता का द्योतक है, शेष भरत शब्द समुच्चय-बोधक है। पाणिनि से पूर्व गायन, वादन, नर्तन विधा के सिद्ध कलाकारों को भरत कहा जाता था। पाणिनि से पूर्व की परम्परा में नाटक प्रस्तुत न होकर गायन, वादन, नर्तन का संयुक्त प्रदर्शन हुआ करता था। इसे या तो 'तौर्यत्रिकम्' कहा जाता था अथवा 'नटनम्' कहा जाता था। पाणिनि ने भी नर्तक, गायक तथा प्राणितूर्य शब्दों की अपने ग्रन्थ में व्याख्या प्रस्तुत की है। प्राणितूर्य का अर्थ पाणिनि ने गायक और नर्तक किया है।

भरत इस तौर्यत्रिकम् क्रिया के सिद्ध कलाकार थे। पाणिनि से पूर्व गायन, वादन, नर्तन के सन्दर्भ में भरत लोगों की चर्चा अनेक ग्रन्थों में हुई है। पाणिनि से पूर्व भारत में यास्क नामक वैयाकरण बहुत प्रसिद्ध रहे हैं। यास्क ने निघण्टु नामक ग्रन्थ की टीका निरुक्त के नाम से की। यास्क का समय पाणिनि से लगभग ६०० वर्ष पूर्व रहा है। निघण्टु वेदांग भाष्य माना गया है, अतः उससे भी अधिक प्राचीन है। निघण्टु के तृतीय अध्याय में 'भरताः' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो भरत का बहुवचन है।

इससे भी पूर्व 'ऐतरेय ब्राह्मण' में भरत जाति का संकेत प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मणों का रचना-काल पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों द्वारा ईसापूर्व लगभग दो हजार वर्ष स्वीकार किया गया है। ऐतरेय में एक कारिका है : "तस्माद्वाप्येतर्हि भरताः सत्तनां वित्ति प्रयन्ति तुरीय हैव संग्रहीतारो वदन्ते" (२.२५) अर्थात् इस प्रकार भरत लोग सात्विक वृत्ति का प्रयोग करते थे और तूर्य-संग्रहों के आधार पर वादन

कर्म करते थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि तूर्य-वाद्यों के संग्रह-ग्रन्थ ऐतरेय से भी बहुत पहले रचे जा चुके थे। कालान्तर में तूर्य से तौर्य हुआ और तौर्य शब्द से तौर्यत्रिकम् क्रिया बनी। दूसरी महत्वपूर्ण बात इससे यह स्पष्ट होती है कि तूर्य-संग्रहों के आधार पर वादन करने वाले भरत लोग उस काल से भी पूर्व भारत में लोकप्रिय हो चुके थे।

याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी इस बात के संकेत प्राप्त होते हैं। मूलतः यह ग्रन्थ धर्म और उसके समाज सापेक्ष स्वरूप का विवेचन करता है, किन्तु आत्मा का विवेचन करते हुए एक स्थान पर इसमें लिखा है :

यथा हि भरतो वर्णेर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम्।
नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजातस्तनूः॥३.१६२

विज्ञानेश्वर द्वारा इसकी मिताक्षरी टीका में इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है : "भरतो नटः स यथा रामरावणादिनानारूपाणि कुर्वाणः सितासितपीतादिभिर्वर्णैरात्मनस्तनुम् वर्णयति रचयति तथेज्ञात्मा . . .।" अर्थात् जिस प्रकार भरत नामक नट श्वेत, श्याम, पीत आदि वर्ण धारण करके राम रावण आदि के नाना रूप धारण करते है, उसी प्रकार आत्मा अपने नाना कर्मानुसार अनेक वर्णों में फल भोगता है।

वृहत्पाराशर के पृष्ठ २९४ में भी एक पद ऐसा है, जिसका यह अर्थ होता है कि नाट्य-कर्मियों को भरत कहा जाता है। भावप्रकाश के लेखक शारदातनय ने लिखा है कि भरत के नाट्य-शास्त्र से वृद्ध भरत ने नाट्य वेदागम की रचना की थी। इसे स्पष्ट करते हुए उसने वृद्ध भरत को द्वादश साहस्त्रीकार कहा है और भरतमुनि को षट्सहस्त्रीकोर माना है। उसके अनुसार भरतमुनि ने वृद्ध भरत के बारह हजार श्लोकों के ग्रन्थ का ६ हजार श्लोकों में संक्षिप्तीकरण प्रस्तुत किया था :

"एवं हि नाट्यवेदे अस्मिन् भरतेनोच्यते रसः।
तथा भरत वृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्॥
एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्थतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैयो नाट्यवेदस्य संग्रहः॥

भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में भी अनेक प्रकार के अन्तर्साक्ष्य हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि उससे पूर्व भरत लोगों का एक विशिष्ट वर्ग इस कार्य को किया करता था। साथ ही उसके शास्त्र से पूर्व नाट्य-विषयक लक्षणों का नियमन हो चुका था। 'नाट्य-शास्त्र' में एक स्थान पर लिखा है : "स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेन्तु वृत्ति" अर्थात् इस वृत्ति का प्रयोग भरत लोग किया करते थे, अतः इसे भारती-वृत्ति कहा जाता है। अनेक स्थानों पर इस प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनको भरतमुनि ने 'आनुवंश-परम्परा' से प्राप्त स्वीकार करते हुए लिखा है : "अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः तत्र श्लोकः।" धर्मियों का विवेचन करते हुये भरतमुनि ने 'नाट्य-धर्मी' और 'लोक-धर्मी' दो शब्दों का प्रयोग किया है। नाट्यधर्मी के सम्बन्ध में यह कथन कि अमुक प्रयोग नाट्य-परम्परानुकूल व्यवहृत है, यह सिद्ध कर देता है कि भरतमुनि से पूर्वनाट्य की एक व्यापक परम्परा का विकास हो चुका था।

नाट्य-शास्त्र की पूर्ववर्ती-परम्परा को स्पष्ट करने के लिये कुछ संकेत तो ऐसे हैं, जिन्हें सामान्य व्यक्ति भी सरलता से समझ सकता है; किन्तु कुछ संकेत ऐसे हैं, जिनका प्रयोग पारिभाषिक शब्दावली के रूप

में हुआ है और जिनका सम्बन्ध पूर्ववर्ती-परम्परा से है। बीसवें अध्याय में लिखा है : 'अंक इतिरूढ़िशब्दो।' अर्थात् अंक, यह एक रूढ़िगत शब्द है, अतः इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। अंक गणितपरक संख्याओं के लिए प्रयोग किया जाता है तथा अंक का अर्थ गोद भी होता है, किन्तु नाटक के सन्दर्भ में कथानक को विभाजित करने के लिये इसका प्रयोग होता है। जब नाट्य-शास्त्र इसके सम्बन्ध में कहता है कि नाटक के सन्दर्भ में यह शब्द रूढ़ हो चुका है, तो स्पष्ट हो जाता है कि इसके रूढ़ स्वरूप का निर्माण दो-चार दिन में नहीं हुआ होगा; अपितु उसकी पृष्ठभूमि में कई शताब्दियों की नाट्य-मान्यतायें आवेष्टित रही होंगी।

इसी प्रकार एक अन्य शब्द 'मार्ग' का प्रयोग हुआ है। ऐसे सन्दर्भ में 'देशी' और 'मार्ग' दो शब्द आते हैं। संगीत और नृत्य की विधियों का विभाजन करते हुये शास्त्रकार ने एक विधि 'देशी' बतलायी है, दूसरी 'मार्ग'। इनमें देशी नृत्य वह है, जिनमें लोक-व्यापी तत्व संग्रहीत होते हैं तथा मार्ग-नृत्य वह है, जिसका विधान ब्रह्मा के आदेश पर भरतों द्वारा किया गया है; अर्थात् नाट्य-शास्त्र में वर्णित मार्ग-पद्धति के विधान का निर्माण भरतमुनि से बहुत पूर्व ही हो चुका था।

अतः यह पूर्णतः असंदिग्ध है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र भले ही ईसा पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी की रचना हो, किन्तु इससे पूर्व नाट्य के लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा भारत में विकसित हो चुकी थी। वर्तमान नाट्य-शास्त्र का निर्माण उन्हीं पारम्परिक-सूत्रों के आधार पर हुआ था। जब ईसा पूर्व दो हजार वर्ष के ऐतरेय-ग्रन्थ में भरतों का अस्तित्व था, तो निश्चय ही उनके संग्रह-ग्रन्थ भी थे। निश्चय ही भरत मुनि से पूर्व वृद्ध भरत ने 'नाट्यवेदांगम्' ग्रन्थ की रचना की होगी। राघव भट्ट ने शकुन्तला पर अपनी अर्थ-द्योतनिका नामक टीका में आदि भरत से १७ कारिकायें उद्धृत की हैं तथा भरत मुनि से ११ सूत्र उद्धृत किये हैं। भरत मुनि में अध्यायों का उल्लेख है, जबकि वृद्ध भरत का नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि राघव भट्ट के समय वृद्ध भरत की कारिकाएँ कण्ठाग्र रूप में ही उपलब्ध थीं, न कि पुस्तक रूप में; अन्यथा राघव भट्ट उनके अध्यायों का उल्लेख भी कर देते।

इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नाट्य-शास्त्र की परम्परा ग्रीक में अरस्तू द्वारा विरचित 'पोइतिक्स' से बहुत शताब्दियों पूर्व ही भारत में पल्लवित हो चुकी थी। आज आवश्यकता इस बात की है कि कोई भारतीय "नाट्यवेदांगम" ग्रंथ की खोज करे; कहीं ऐसा न हो कि यह श्रेय भी किसी विदेशी को ही प्राप्त हो। हमारा दृढ़ विश्वास है कि देश के किसी न किसी भाग में, किसी न किसी रूप में वृद्ध भरत का 'नाट्यवेदांगम' आज भी पड़ा हुआ किसी की प्रतीक्षा कर रहा होगा।

रामायण-सौन्दर्य

⊙

डॉ० पांडुरङ्गराव
एम० ए०, पी-एच० डी०

यावत स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद रामायणकथा लोकेषु प्रतिरिष्यति॥

विधि-विधान था कि जब तक पर्वतों में खड़े रहने का सामर्थ्य है और नदियों में प्रवाह की क्षमता है, तब तक सारे संसार में रामायण का प्रसार बराबर बना रहेगा। किसी भी कृति को इस प्रकार का चिरंतन अस्तित्व प्रदान करने वाली शक्ति उसकी रमणीयता में होती है। कोई भी सुन्दर वस्तु चिरंतन आनंद का अक्षय आधार बन जाती है। रामायण के इसी लोकोत्तर सौंदर्य के साक्षात्कार से पुलकित होकर ही विश्व-विधाता ने यह सच्ची भविष्य वाणी की थी।

रामायण के सौन्दर्य को समझने के पहले रामायण शब्द की रमणीयता पर विचार करना होगा। राम और अयन - दो शब्दों के मेल से रामायण शब्द बनता है। राम शब्द की व्युत्पत्ति 'रम्' धातु से है और 'अयन' शब्द की व्युत्पत्ति 'इ' (गमने) धातु से है। अतः ये दोनों धातुएँ क्रमशः रमणशीलता और गमन-शीलता का बोध कराती हैं। जन-मन में निरंतर राममाण होकर प्रतिष्ठित राम का सारा जीवन गत्यात्मक रहा है। सोलह वर्ष के पूरे होने के पहले विश्वामित्र के साथ लोक-कल्याण की साधना में राजमहल से प्रस्थित राम ने फिर जीवन में कभी भी चैन की साँस नहीं ली। आजीवन परहित की साधना और अखिल जगत् की आराधना में तत्पर रामचन्द्र के जीवन में स्थिति और गति का अद्‌भुत सामंजस्य दिखाई देता है। समुद्र का गांभीर्य, हिमाचल का धैर्य, पृथ्वी की क्षमा आदि प्रशांत गुणों से मर्यादित रामचंद्र की मनोवृत्ति क्रोध में कालानल का रूप धारण कर सकती है। 'तदेजति तन्नैजति'---वाले उपनिषद् वाक्य के अनुसार काव्य नायक राम में स्थितिज (Potential) और गतिज (Limetic) दोनों प्रकार की ऊर्जाओं का मंगलमय संगम पाया जाता है। इसीलिए आदि-कवि ने अपने काव्य का नाम 'रामायण' रखा है। रामायण शब्द में निहित यह सौंदर्य राम के जीवन को ही नही, प्राणिमात्र की जीवन-यात्रा में अभीष्ट सौंदर्य को भी विवृत बना देता है।

'रामायण' शब्द से लेकर इस काव्य के प्रत्येक अक्षर में इस प्रकार का सौंदर्य दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए कहा गया है:

चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातक नाशनम्॥

सैकड़ों-करोड़ों रूपों में संसार में व्याप्त रघुनाथ चरित के प्रथम प्रणेता वाल्मीकि ने राम के इतिवृत्त को चौबीस हज़ार श्लोकों में निबद्ध किया है। इसीलिए रामायण को चतुर्विंशति सहस्रिका भी कहा जाता है। चौबीस संख्या की एक विशेषता है। मत्रराज गायत्री में चौबीस वर्ण हैं। भगवान विष्णु के भी केशव, नारायण,

माधव आदि चौबीस नाम हैं। गायत्री मंत्र के द्रष्टा और राम-लक्ष्मण के मंत्र-गुरु विश्वामित्र का भी इस काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए वाल्मीकि ने अपनी रामायण में गायत्री मंत्र को विशेष महत्व दिया है। रामायण के चौबीस हज़ार श्लोकों में प्रत्येक हज़ार श्लोकों का पहला श्लोक गायत्री मंत्र के एक-एक अक्षर से प्रारम्भ होता है। पहला श्लोक इस प्रकार है :

'तपः स्वाध्याय निरतं तपस्वी वाग्विदांवरम्।
नारदं परिप्रपच्छ वाल्मीकिर्मुनि पुंगवम्॥'

दूसरे हज़ार श्लोकों का आरंभिक श्लोक इस प्रकार है :

स हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनंदनः!

इसी प्रकार

विश्वामित्रः स धर्मात्मा .....
तुष्टावास्य तदा वंश .....
वनवास हि संख्याय .....
राजा सत्यं च धर्मं च .....

प्रत्येक हज़ार का प्रारम्भ पूर्ववत होता है। इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकि रामायण गायत्री बीज सम्मित रचना है।' तत्' शब्द के प्रति भी वाल्मीकि की विशेष रुचि दिखाई देती है। वास्तव में वाल्मीकि रामायण तत्वनिष्ठ रचना है।

यह तो केवल वाल्मीकि रामायण का बाह्य सौंदर्य है। इस काव्य का आंतरिक सौंदर्य सुन्दर कांड में अपने परिणत रूप में देखा जा सकता है। सुंदर कांड का नामकरण भी कुछ विचित्र-सा लगता है। बाल कांड में बालक राम का वर्णन है, अयोध्या कांड में अयोध्या की राजगद्दी पर राम को प्रतिष्ठित करने का प्रस्ताव आता है, अरण्य कांड में राम का बनवास वर्णित है, किष्किधा कांड में किष्किधा के निवासी वानरों के साथ राम का संबंध वर्णित है तथा युद्ध कांड में राम और रावण के बीच के युद्ध का वर्णन है। लेकिन सुन्दर कांड में वर्णित इतिवृत्त का उस कांड के नामकरण से कोई सीधा संबंध प्रतीत नहीं होता। वाल्मीकि ने इसे सुंदर कांड का नाम दिया था। इसीलिए परवर्ती रामायणकारों ने भी इसे वही नाम दिया। लेकिन वाल्मीकि ने इस काव्यखंड को यह नाम क्यों दिया होगा, इस पर सोचने से आदि-कवि की अलौकिक सौंदर्य भावना स्पष्ट होती है।

सुंदर कांड का प्रधान पात्र साधारण दृष्टि से असुंदर समझा जाने वाला वानर है। इसमें लंका की विकट रूपधारी राक्षसियों का जुगुप्सा-जनक वर्णन भी पाया जाता है। फिर भी इसी असुंदर तत्व से आवृत्त होकर विश्वसुंदरी सीता अशोक वाटिका में तपस्विनी-सी बैठी दर्शन देती है। इसी सौंदर्य को पुनः प्राप्त करने के लिए राम, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान और सारी वानर सेना तत्पर है। इस सौंदर्य साधना में निष्ठा के साथ आगे बढ़ने वाला, हनुमान पवन का पुत्र जलराशि को पार करता है, **धरती** की सुता सीता के दर्शन से अपने को धन्य समझता है, वासना की दुर्गन्ध से कलुषित लंका को वहीं की आग से जला डालता है और **अंतरिक्ष** की लहरों पर फिर अपने मूल स्थान पर पहुँच जाता है। इस प्रकार सीता-दर्शन के इस प्रधान इतिवृत्त में पवनतनय हनुमान पाँचों भूतों का रोमांचक समावेश घटित करता है। पार्थिव तत्वों की इस अपार्थिव साधना में हनुमान की दृष्टि अक्षय सौन्दर्य की अमोघ निधि सीता पर ही रहती है। इस गवेषणा

में उसे कई जुगुप्सा-जनक दृश्यों को देखना पड़ता है। फिर भी उसका मन विचलित नहीं होता। वह बार-बार कहता है कि जानकी के मुख कमल की शोभा कब मुझे दृष्टिगोचर होगी ?

राम-कार्य की तत्परता उसमें इतनी प्रगाढ़ है कि वह किसी दूसरी चीज़ की परवाह नहीं करता। समुद्र को पार करते समय और लंका में राक्षसों से लड़ते-झगड़ते समय वह हमेशा राम का स्मरण करता और बार-बार कहता है :

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः।
दासोऽहं कौशलेंद्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः
हनूमान शत्रु सैन्यानां निहंता मारुतात्मजः।
न रावण सहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्
अर्द्दयित्वा पुरीं लंका अभिवाद्य च मैथिलीं
समृद्धार्थो गमिष्यामि द्विषतां सर्वरक्षसां॥

यह आत्म-बल उसको महात्मा राम की प्रेरणा से ही मिलता है। राम के हाथ से निकले बाण की तरह वह लंका में पहुँच जाता है और राम के आदेश का पूरा-पूरा पालन करता है।

हनुमान में आत्मयोगी के लिए आवश्यक स्थिरता भी है। वानर-सुलभ चंचलता होते हुए भी हनुमान पग-पग पर अपने धैर्य और गाम्भीर्य का परिचय देता है। सारी लंका में खोजने के बाद जब अशोक वाटिका में सीता के दर्शन होते हैं, तब वह प्रसन्न तो होता है और मनसा रामचंद्र के यहाँ पहुँच भी जाता है, लेकिन तुरंत सीता जी के सामने जाकर अपना परिचय नहीं देता। वह धैर्य से सारी परिस्थिति को समझने की कोशिश करता है, सीता की दयनीयता से दुखी होता है, रावण और सीता के वार्तालाप को सहिष्णुता के साथ सुन लेता है और अन्त में राम के गुणगान से जानकी का ध्यान अपनी ओर खींच लेता है। जब जानकी की दृष्टि पेड़ पर स्थित हनुमान की ओर उन्मुख होती है तब न मालूम हनुमान का मन कितना प्रफुल्ल हुआ होगा। इस अनुभूति की कल्पना मात्र से किसी भी साधक का मन पुलकित हो उठता है।

सीता के साथ ही नही, रावण के साथ भी हनुमान बड़े संयम से काम करता है। बिना किसी प्रकार के संकोच और भय के उसे जो कुछ कहना था सब कह देता है। व्याकरण के विशेषज्ञ और वाणी के मर्मज्ञ के रूप में हम यहां पर हनुमान को देखते हैं। रावण के साथ उसके व्यवहार की सफलता का सबसे सबल प्रमाण यही है कि जिस अग्नि से रावण उसे ताप देना चाहता था, उसी अग्नि से वह सारी लंका को जला डालता है और लंकावासियों के मन में भय और त्रास का संचार कराता है। सीता जी को आश्वासन देने के लिए वह कहता है :

मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च संति तत्र वनौकसाः
मतः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीव सन्निधौ।

सुग्रीव के दरबार में जितने भी लोग हैं, वे या तो मुझसे अधिक पराक्रमी हैं या मेरे समान हैं। मुझसे कम श्रेणी का व्यक्ति वहाँ कोई नही है।

इन शब्दों में हनुमान की विनम्रता भी स्पष्ट झलकती है और उसकी कार्यसाधक वाग्विदग्धता भी। हनुमान की वाणी का ठीक समाधान सीतादेवी की कोमलकांत पदावली में मिलता है। जब हनुमान सीता जी को अपनी पीठ पर चढ़ा कर राम के पास ले जाने की बात करता है, तो सीता जी ठीक ही कहती हैं: एक तो मैं महिला हूँ, स्वभाव से भीरु हूँ और बंदर की पीठ पर बैठ कर जाने में और भी डर लगता है। कौन जाने, बीच में समुद्र में गिर पड़ूँ या रास्ते में राक्षस लोग हम दोनों को देखकर हमारा पीछा करें और उनसे लड़ते-लड़ते तुमको मुझे संभालना मुश्किल हो जाए और मैं फिर बंदी बन जाऊँ। अगर मैं निरापद राम के पास पहुँच भी जाऊं, तो भी पता नहीं, राम इसे पसंद करेंगे या नहीं। जैसे रावण मुझे हर ले आया, वैसे ही चोरी-चोरी मुझे राम वापस बुला ले तो इसमें राम की विशेषता क्या रही? अतः युद्ध में रावण को पराजित कर मुझे वे पुनः प्राप्त कर लें, इसी में राम की भगवत्ता है—तत्तस्य सदृशं भवेत्!

मन और वाणी की यह रमणीयता सुंदर कांड के प्रत्येक अक्षर में दिखाई देती है। इसीलिए रामायण का सुंदर कांड काव्य-सौंदर्य की अक्षय निधि है। 'सुंदरे किं न सुंदरम्?' वाली उक्ति इसी दृष्टि से चरितार्थ है।

रामायण का परमार्थ भी इसी में है कि हम इस काव्य के अध्ययन के सहारे एक ऐसी तात्विक दृष्टि प्राप्त कर लें, जिसमें संसार में सर्वत्र उसी सुंदर तम की सुंदरता व्याप्त दिखाई दे, असुंदर को सुंदर रूप में देखने का दृष्टि-सौंदर्य हमारे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाए।

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति
तदेव रूपं रमणीयतायाः॥

संस्कृत-साहित्य में नारी-चित्रण

डॉ० (श्रीमती) तुलसी मिश्र
एम० ए०, एम० एड०, पी-एच० डी०

संस्कृत-महाकाव्यों तथा नाटकों में नारी शास्त्रीय रूप में प्रतिष्ठित है। सदैव की भाँति गृहिणी का गृह में प्रमुख स्थान था। वह धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के उपार्जन में पूर्ण सहयोगिनी मानी गई है। गृह में माता का सर्वोच्च स्थान था। पितृ-ऋण से मुक्ति प्राप्त करने के हेतु पुत्र-जन्म की आवश्यकता समझी जाती थी। पुत्र का जन्म वंशवृद्धि, गृह-सुरक्षा के लिए परमावश्यक समझा जाता था तथा गृहस्थाश्रम का परम लक्ष्य माना जाता था। पिता पुत्र को समस्त उत्तरदायित्व सौंपकर वानप्रस्थ ग्रहण करने में अपने जीवन की सार्थकता समझता था। 'रघुवंश' महाकाव्य में राजा रघु ने अपने प्रिय पुत्र अज को सम्पूर्ण उत्तर-दायित्व एवं राज्यभार सौंप कर वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया था तथा मोक्ष की साधना में तत्पर हो गए थे।[1]

परिवार में कन्या कुल का जीवन 'कुल जीवितम्'[2] समझी जाती थी। माता-पिता उसका पालन-पोषण अत्यन्त लाड़-प्यार से करते थे। महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला का पालन-पोषण बड़े लाड़-चाव से हुआ था। वह आश्रम के वृक्षों को सींचती थी तथा पौधों के प्रति पूर्ण ममत्वमयी अंकित की गई है। मृग-शावक उसे अत्यधिक प्रिय थे। कन्या को पितृगृह में पूर्ण स्वतंत्रता रहती थी। उनकी बाल्यावस्था विविध क्रीड़ाओं में ही व्यतीत होती थी।

आश्रमों में बालकों की भाँति ही बालिकाओं को भी शिक्षा दी जाती थी। भवभूति के 'मालतीमाधवम्' में वर्णित कामन्दकी लड़कों के साथ अध्ययन करती थी। शकुन्तला और उसकी सखियाँ अनुसूया और प्रियंवदा दोनों ही साक्षर थीं, उन्होंने दुष्यन्त की मुद्रिका पर अंकित नाम पढ़ कर जान लिया था कि दुष्यन्त राजा है। स्त्रियाँ ललित कलाओं में पारंगत होती थीं। 'मालविकाग्निमित्रम्' की मालविका ललित कला में दक्ष होने के कारण राजा को विशेष प्रिय थी।[3] शकुन्तला ने अपने प्रेमपत्र में अपना प्रणयभाव जिस मार्मिक ढंग से व्यक्त किया था, उससे उसकी शिक्षा तथा भावप्रकाशन-पटुता का आभास मिलता है। स्त्रियों को सांसारिक जीवन में सफलता के लिए उन्हें उपयुक्त विषयों—पढ़ना-लिखना, चित्रलेखन, संगीत, गृहकृत्यों की देखरेख आदि की भली प्रकार शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियों को प्राथमिक चिकित्सा का भी ज्ञान कराया जाता था। अपने प्रिय मृगशावक के व्रण पर इंगुदी तेल लगा कर शकुन्तला ने उसकी चिकित्सा की थी।[4]

---

१. रघुवंश : कालिदास, ७-१७।
२. कन्येयं कुलजीवितम् : कुमारसम्भव : कालिदास, ६-६३।
३. मालविकाग्निमित्रम् : कालिदास ग्रन्थावली, २।१३।
४. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : कालिदास, ४।१४।

आश्रम में स्त्रियाँ अत्यन्त सादगी से जीवन व्यतीत करती थीं। शकुन्तला आश्रम के वृक्षों को स्वयं ही सींचा करती थी तथा पुष्प चयन करके देवपूजन करती थी। आश्रम के सभी पशु-पक्षी उसे प्रिय थे, सभी को आत्मीय जैसा समझती थी। मृगशावक उसे पुत्रवत् प्रिय थे। वाल्मीकि के आश्रम में सीता पर्णकुटी में निवास करती थी। कन्द-मूल-फल भोजन करती थी तथा रात्रि में कुटिया में इंगुदी के तेल का दीपक जला कर मृगचर्म पर शयन करती थी। आश्रम में रहने वाली स्त्रियाँ अथवा विद्यार्थिनियाँ समीपस्थ नदी तथा जलाशयों से हवनादिक एवं गृह कृत्यों के लिए स्वयं ही जल भर कर लाया करती थीं तथा वृक्ष-सिंचन किया करती थीं।[1] विदुषी होने के साथ ही स्त्रियाँ विनयशील भी होती थीं। राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' नामक नाटिका की प्रस्तावना से प्रकट है कि उस समय स्त्रियाँ स्वयं स्त्रीपात्रों का अभिनय किया करती थी और अभिनय कुशला होती थीं।[2]

शिक्षिता कन्या का विवाह माता-पिता सुयोग्य वर से करना अपना परम कर्तव्य समझते थे। युवती कन्या स्वयंवर में वर-चयन करती थी तथा माता-पिता कन्या द्वारा निर्वाचित वर के साथ विधिपूर्वक उसका विवाह कर देते थे। दमयन्ती ने नल का वरण स्वयं किया था। इस प्रकार संस्कृतकालीन समाज में स्त्रियों को विवाह-विषयक पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी। क्षत्रिय राजाओं में अधिकतर स्वयंवर प्रथा प्रचलित थी। समाज में प्रजापत्य तथा गान्धर्व विवाह भी प्रचलित थे। विवाह अधिकतर सजातीय लोगों में होते थे। कभी-कभी अन्तर्जातीय सम्बन्ध भी हो जाते थे। प्रायः राजाओं को अपनी परिचारिकाओं से प्रेम हो जाता था। 'रत्नावली' में उदयन का सागरिका से तथा 'मालविकाग्निमित्रम्' में राजा अग्निमित्र का मालविका से प्रणय था। वेश्याओं से प्रणय के उदाहरण भी हैं। 'मृच्छकटिक' में उज्जयिनी की प्रसिद्ध वेश्या चारुदत्त नामक ब्राह्मण पर अनुरक्त थी। उर्वशी-पुरूरवा का प्रणय भी प्रसिद्ध है। अनेक राजर्षियों की कन्याएँ गान्धर्व विवाह कर लिया करती थीं और उनके पिता अथवा अभिभावक उनका समर्थन करते थे। दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के गान्धर्व विवाह से महर्षि कण्व को पूर्ण सन्तोष था।[3]

माता-पिता कन्या के विवाह होने पर्यन्त उसे पराई सम्पत्ति 'धरोहर' के रूप में समझते थे। कन्या को पति के गृह भेज कर पिता स्वयं वैसी ही निश्चिन्तता अनुभव करता था, जैसे किसी की धरोहर लौटा कर अनुभव होता है। महर्षि कण्व ने शकुन्तला को बिदा करके परम सन्तोष अनुभव किया था। माता-पिता को कन्या से बिछुड़ने में महान् दुःख अनुभव होता था। शकुन्तला के जाने से सम्पूर्ण तपोवन व्यथित हो उठा था।[4] माता-पिता कन्या को वस्त्राभूषण से सुसज्जित करके तथा पति से समादृत होने का आशीर्वाद देकर बिदा करते थे तथा उसे आदर्श गृहणी बनने की शिक्षा भी देते थे।[5] कन्या पतिगृह सदैव के लिए भेज दी जाती

---

१. कालिदास के काल में शिक्षा और उसका आदर्श : वा० वि० मिराशी, पृ० ३६।

२. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : चन्द्रशेखर, पृ० १९३।

३. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : कालिदास, ४।२२।

४. वही, ४।६।

५. सुश्रुषस्व गुरूकुरु प्रियसखी वृत्तिं सपत्नीजनैः
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी।

थी। आश्रम में उसका पुनरागमन पुत्रवती होने पर तथा पुत्र को समस्त राज्य एवं कुटुम्ब-भार सौंप कर वानप्रस्थाश्रम के समय पति के साथ ही सम्भव होता था। तब वह पुनः शान्त आश्रम में आकर सुख से शान्त जीवन व्यतीत कर सकती थी।

कन्या के विवाह के समय दहेज देने की प्रथा भी प्रचलित थी। पार्वती के विवाह के अवसर पर हिमालय ने रत्न, अर्घ्य, मधु, दधि, नवीन वस्त्राभूषणादि मंत्रोच्चारण सहित महादेव को समर्पित किए थे।[1] विवाह के समय कन्या को प्राप्त वस्त्राभूषणादि उसका 'स्त्रीधन' होता था। पति के लिए पत्नी सच्ची गृहणी, सचिव, सखी, प्रियशिष्या के समान होती थी तथा ललित कलाओं में पारंगत गृहस्वामिनी होती थी।[2] विपत्ति के समय पति को कर्तव्य का बोध करने में पत्नी पूर्ण समर्थ समझी जाती थी। रीति-नीति की ज्ञाता मानिनी द्रौपदी ने युधिष्ठिर से जो स्नेहमय, विद्वत्तापूर्ण एवं सारगर्भित वचन कहे, उसको बृहस्पति भी बोलने में असमर्थ कहे गए हैं।[3] संस्कृत-कवियों ने पार्वती, रति, सीता, इन्दुमती, शकुन्तला, दमयन्ती, वासवदत्ता आदि स्त्रियों का चित्रण पूर्ण पतिव्रता पत्नियों के रूप में किया है। पत्नी पति की छाया के समान होती थी। वह पति को 'आर्यपुत्र' कह कर सम्बोधन करती थी। वह पति-निन्दा कदापि सहन नहीं कर सकती थी। पिता द्वारा पति की अवहेलना देखकर साध्वी सती ने अपना शरीर दक्ष के यज्ञ में भस्म कर दिया था।[4] सती स्त्रियाँ दूसरे जन्मों में भी अपने पति की पत्नी बनी रहती थीं।

संस्कृतकालीन समाज में पति-पत्नी के आदर्श प्रेम को विशेष महत्व प्रदान किया गया है, भ्रमरवृत्ति को नहीं। परस्त्री की ओर दृष्टिपात भी अनुचित समझा जाता था।[5] सत्य प्रेम लोकापवाद की चिन्ता नहीं करता था। प्रिय की निन्दा सुनना भी पाप समझा जाता था। वास्तविक प्रेम जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में सदा एकरस रहता था तथा सदैव दम्पति को सुख-शान्ति प्रदान करता था। महाकवि भवभूति ने 'उत्तर रामचरितम्' तथा 'मालतीमाधव' नाटकों में उज्ज्वल आदर्श दाम्पत्य-प्रेम का चित्रण किया है। आदर्श दाम्पत्य-प्रेम-की चरमावस्था सन्तान-प्राप्ति में मानी गई है। दम्पति के प्रणयपूर्ण दो हृदयों को एकसूत्र में बाँधे रखनेवाली आनन्दपूर्ण ग्रन्थि के रूप में सन्तान ही कही गई है।[6]

संस्कृत एवं महाकाव्यों-नाटकों में नारी पूर्ण सुन्दर एवं प्रेममयी अंकित की गई है। वास्तविक सौन्दर्य-शालिनी नारी सभी अवस्थाओं में मनोरम एवं रमणीय प्रतीत होती है, उसे वाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं होती।[7] कवियों ने सुन्दर आकृतिवाली स्त्री में सुन्दर गुणों की कल्पना की है। नारी के चरम सौन्दर्य की पर-

---

यान्येवं गृहणीपदं युक्तवो वामाः कुलस्याधयः।

--अभिज्ञान शाकुन्तलम् : कालिदास, ४-१८।

१. कुमारं सम्भवम् : कालिदास, ७।२७।

२. गृहणी सचिव : सखीमिथः प्रियशिष्याललिते कलाविधौ : रघुवंश : कालिदास, ८।६७।

३. किरातार्जुनीयम् : भारवि, द्वितीय सर्ग २।

४. कुमारसम्भवम् : कालिदास, १।२१।

५. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : कालिदास, ५।२८।

६. उत्तर-रामचरित : भवभूति, ३।१७।

७. किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् : अभिज्ञान शाकुन्तलम् : कालिदास, १-१९।

पति प्रेम में समझी गई है। 'प्रियेषु सौभाग्यफलम् हि चारुता' में ही नारी की सुन्दरता सार्थक थी अन्यथा नहीं।[1]

संस्कृत-साहित्य के श्रेष्ठ कवि कालिदास, भवभूति, बाण आदि ने प्रेम का मूल कारण पूर्वजन्म का प्रेम संस्कार माना है। 'कादम्बरी' में जन्म-जन्मांतर के संचित प्रेम संस्कारों का सजीव चित्रण है। सच्चा प्रणय सत्य की भाँति शाश्वत माना गया था। महाकवि कालिदास ने प्रेमी-प्रेमिका के मधुर सम्बन्ध का चित्रण अत्यन्त सहृदयता से किया है।

पति से वियुक्ता पत्नी स्वयं को 'मन्दभाग्या' समझती थी तथा अपने जीवन को भाररूप अनुभव करती थी। 'उत्तररामचरित' की परित्यक्ता सीता बारम्बार स्वयं को मन्दभागिनी कहती हुई धिक्कारती है। वह राम को किसी प्रकार से दोष नहीं देती हैं। पतिविरहिणी पत्नी के शरीर की आत्मा क्षीण हो जाती थी तथा उसका सौन्दर्य पाले से मुरझाई कमलिनी के सदृश प्रतीत होता था।[2] रघुवंशम्, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मेघदूतम्, उत्तर रामचरितम् और वासवदत्तम् आदि संस्कृत नाटकों एवं काव्यों में विरहिणी पतिव्रता नारियों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है।

पति की मृत्यु पर पतिव्रता पत्नी क्षण भर भी जीवित नही रहना चाहती थी। पति के अभाव में उसका संसार सूना हो जाता था। उसे अपना जीवन निरर्थक प्रतीत होता था। जिस प्रकार चन्द्रिका चन्द्र से विहीन हो जाती है, उसी प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिमार्ग का अनुसरण करती थी।[3] लोक-परलोक दोनों ही में नारी की एकमात्र गति उसका पति माना जाता था। अतः पतिव्रता पत्नी पति की मृत्यु होने पर अपने प्राणों का परित्याग जीवनधारण से श्रेष्ठतर समझती थी। अतः समस्त शृंगार करके वह हर्षपूर्वक पति के शव के साथ अग्नि में प्रविष्ट हो जाती थी, ऐसी स्त्रियाँ संसार में वन्दनीया होती थीं। 'कुमार-सम्भवम्' में रति कामदेव के पीछे-पीछे ही प्राणत्याग करना चाहती थी; किन्तु ऐसा न कर सकने का उसे बड़ा दुःख था[4]।

पति के अभाव में साध्वी नारी अग्नि में शरीर भस्म करके, जल में कूदकर, वृक्ष की शाखा में बँधकर अथवा विषपान कर अपना जीवन समाप्त कर देती थी तथा इस प्रकार की आत्महत्या को वह शास्त्र-सम्मत मानती थी। 'उत्तर रामचरितम्' में परित्यक्ता सीता गंगा में कूद पड़ी थी। क्षत्राणी सती नारी पति के वीरगति प्राप्त कर लेने पर पति के धनुष का आलिंगन करके चिता में भस्म हो जाती थी।[5] भास, शूद्रक, कालिदास आदि रचयिताओं की रचनाओं में सती प्रथा का वर्णन मिलता है।

विधवाओं के भी अनेक उदाहरण तत्कालीन साहित्य में प्राप्त हैं। शुभ कार्यों में विधवाएँ दूर ही रखी जाती थीं। 'कुमार सम्भवम्' में पार्वती के विवाह के लिए समस्त शृंगार तथा मांगलिक क्रियाएँ सुहागिन स्त्रियों ने ही की थीं।[6] कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में धनमित्र सेठ की अनेक विधवा सेठानियों

---

१. कुमार सम्भवम् : कालिदास, ५।१।

२. मेघदूतम् (उत्तरमेघ) : कालिदास, २३।२४।

३. न पिता नात्मजावात्मा न माता न सखी जनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेका गतिः सदा। ——वाल्मीकि रामायण, २।२७।६।

४. 'त्वामनुयामि' : कुमार सम्भवम् : कालिदास, ४।२१-२२।

५. क्षत्रियाणां देशान्तेमृतानां स्त्रियो धनुरा लंग्यानुम्रियन्ते इत्याचारः नारायण" नैषध : हर्ष, ४।२१।

६. कुमार सम्भवम् : कालिदास, ७।६।१२।

का उल्लेख है।[१] अग्निवर्ण की गर्भवती विधवा महारानी ने अग्निवर्ण की मृत्यु होने पर वृद्ध मन्त्रियों की सम्मति के अनुसार राजकार्य चलाया था।[२]

यद्यपि स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी, किन्तु स्त्रियों में अवगुण्ठन का प्रचार था। विवाह आदि उत्सवों में स्त्रियाँ हर्षपूर्वक भाग लेती थीं। अपने पति के साथ जलक्रीड़ा व वन-विहार करती थीं। अपनी रुचि के अनुसार विवाह करने में वह पूर्ण स्वतंत्र थीं, किन्तु उनमें लज्जाशीलता पाई जाती थी। लज्जा स्त्रियों का आभूषण मानी जाती थी। शकुन्तला अपने पति के साथ गुरुजनों के समक्ष जाने में लज्जा अनुभव करती थी, अतः वह 'अवगुण्ठनवती' होकर ही गई थी।[३]

अपूर्व लावण्यमयी अप्सराओं तथा सुरांगनाओं का वर्णन भी संस्कृत-साहित्य में अनेक स्थलों पर प्राप्त है। उर्वशी पुरूरवा का प्रणय प्रसिद्ध है। शकुन्तला मेनका अप्सरा की कन्या थी। 'किरातार्जुनीयम्' के अर्जुन का तप सुरांगनाएँ भी भंग नहीं कर सकी थीं। विशेष उत्सवों के समय अथवा जुलूसों में वेश्याएँ नृत्य किया करती थी। राजाओं की परिचारिकाएँ दासियाँ होती थीं, जिन पर प्रायः राजा मुग्ध हो जाया करते थे।

संस्कृत-कवियों तथा नाटककारों ने नारी में असीम ममता, त्याग, सहनशीलता, वात्सल्य, निस्वार्थ सेवा-भक्ति एवं अपूर्व आज्ञाकारिता आदि सुन्दर गुणों का चित्रांकन किया है। नारी के सत्तापूर्ण स्वरूप का प्रायः अभाव ही है। नारी का सभा में वाक्-चातुर्य, विद्वत्ता, प्रतिभा वर्णन आदि कहीं नहीं दिखलाया गया है। स्त्रियों को प्राकृत भाषा में बोलते हुए अंकित किया गया है, जब कि पुरुष संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे। स्त्रियाँ प्रत्युत्पन्नमति होने के कारण सभी कार्यसाधनों में प्रवीण समझी जाती थीं। वह परम चतुरा होती थीं।[४] नारी 'स्त्रीरत्न' मानी जाती थीं। जो पुरुष को पुत्र रूप में 'कुलदीपक' प्रदान करती थी, जिससे वंश परम्परा अविच्छिन्न बनी रहती थी। गोद में निष्कपट, अबोध तथा स्वाभाविक रूप में अकारण खिलखिलाते हुए सुत को धारण करती हुई पत्नी का सुन्दर चित्रण मिलता है।[५] अनेक पुरुषों के होने पर भी अपनी अनुपस्थिति में अतिथियों के सत्कार का कार्यभार कण्व ऋषि ने शकुन्तला पर ही सौपा था।[६] अतः स्पष्ट है कि स्त्रियाँ सभी प्रकार के कार्य-साधनों में दक्ष समझी जाती थी।

सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में नारी का परम सुन्दर प्रेममय स्वरूप ही प्राप्त है। नारी पूर्णतः अबला नारी के रूप में अंकित है।

●

---

१. बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेम तत्र भवत भवितव्यम् : अभिज्ञान शाकुन्तलम् : कालिदास।

२. रघुवंशम् : कालिदास, १९।५५-५७।

३. 'जिह्मेमि आर्यपुत्रेण सह गुरु समीपं गन्तुम्' तथा 'अवगुण्ठनवती' अभिज्ञान शाकुन्तलम् : कालिदास ५।१३; पृ० १६८।

४. 'इदं तत्प्रत्युत्पन्नयति स्त्रैणमिति' : अभिज्ञान शाकुन्तलम् : कालिदास।

५. प्रिय प्रसादेन विलास सम्पदा, तथा न भूषाविभवेन गेहिनी।
सुतेन निर्व्याजबलीकहासिना यथाङ्क पर्यङ्क गतेन शोभते ॥ विक्रमाङ्कदेव चरित, १।१०।

६. 'दुहितां शकुन्तलामतिथिसत्कारायनियुज्य' : अभिज्ञान शाकुन्तलम्, पृष्ठ २२।

हिन्दी और तेलुगु का आदिकालीन साहित्य

डॉ० जी० सुन्दर रेड्डी

तेलुगु द्रविड़ परिवार की भाषा है और हिन्दी आर्य परिवार की। यद्यपि ये भाषाएँ भिन्न-भिन्न परिवार की हैं तो भी अनेक विषयों में समानता रखती है।[1] आन्ध्र तथा तेलुगु शब्द प्रदेश विशेष के द्योतक होने के साथ-साथ भाषा के भी द्योतक रहे हैं। तेलुगु का मूल शब्द त्रिलिंग या त्रिकलिंग है। तेलुगु का आदिकालीन प्रचुर साहित्य अन्धकार के गर्भ में लीन है। सातवीं शती के पूर्व आन्ध्र में प्राकृत भाषा का ही साम्राज्य था; वह राजदरबारों में सम्मान पा रही थी। जनभाषा तेलुगु उपेक्षित थी। अतः दसवीं शती से पूर्व का कोई तेलुगु ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। दसवीं शताब्दी के पूर्व आन्ध्र में बौद्ध और जैन धर्मों का उत्कर्ष हुआ और पतन भी। इसी बीच अन्य धर्मावलम्बियों के साथ धार्मिक विद्वेष के कारण बौद्ध व जैन साहित्य, जो तेलुगु में रचा गया था, जला दिया गया। इसमें हिन्दू कवियों द्वारा रचित साहित्य भी इसी प्रवृत्ति के कारण नष्ट हो गया है। हाँ, गुणाढ्य—विजयादित्य तथा विजयवाड़ा के शासक युद्ध मल्लु के शिलालेखों द्वारा हम इस समय की कविता का परिचय पा सकते हैं। वे शिलालेख भी पद्य में अंकित होते थे; किन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि इस प्रकार के पद्य साहित्य के अतिरिक्त असंख्य पद एवं गीतों की भी रचना हुई थी। पालकुरिकि सोमनाथ ने इस बात का अपने काव्यों में उल्लेख किया। परंतु वे गीत और पद अनुश्रुत रूप में—परंपरागत प्राप्त होते आये हैं। उन्हें लिपिबद्ध करने का किसी ने प्रयत्न नहीं किया। परिणामस्वरूप वे जनता के आदर के अभाव के कारण लुप्त हो गये। इसके अतिरिक्त तेलुगु के आदि कवि नन्नयभट्ट के प्रादुर्भाव के बाद इन गीतों का शिष्ट-समाज में कोई आदर नही रहा। इसी समय देशी-कविता और मार्ग-कविता – जिसमें संस्कृत-शब्दों की बहुलता थी – के रूप में काव्य के दो रूप जनता के सामने आये।

हिन्दी के सम्बन्ध में भी यही बात है। प्रायः हर एक भाषा गीतों के रूप में ही प्रारंभ होती है। गीत और पद्य ही साहित्य के प्रारंभिक रूप हैं। हिन्दी के प्रथम कवि व ग्रन्थ के सम्बन्ध में अभी विद्वानों में मतभेद हैं। क्योंकि जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे अपभ्रंश-भाषा में हैं। अतः अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी कहाँ तक मानें, विवादास्पद है। किन्तु हिन्दी के विद्वानों का कथन है कि हिन्दी भाषा पर उस युग में अपभ्रंश का प्रभाव अधिक रहा है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार हिन्दी के प्रथम कवि बौद्धाचार्य सरहपा हैं। वे ८वीं शताब्दी में विद्यमान थे। उनके तीन काव्य भी उपलब्ध हैं। इनके उपरान्त, अन्य कवियों में स्वयंभू, पुष्पदंत, शांतिपा, हेमचन्द्र सूरी, जैनाचार्य मेरुतुंग और विद्यापति के नाम आदर के

---

१. डॉ० चि० नारायण राव ने तेलुगु को आर्य परिवार की भाषा माना है : आन्ध्र भाषा-चरित्र।

साथ लिये जा सकते हैं। विद्यापति ने अवहट्ट (अपभ्रंश) भाषा तथा मैथिली दोनों भाषाओं में रचनायें कर भावी कवियों का मार्ग अत्यन्त सुगम एवं प्रशस्त किया। इनकी रचनाओं में कीर्तिलता, कीर्तिपताका इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

तेलुगु और हिन्दी के प्रारंभिक युगों के कालक्रम में भी काफी समानता है; जैसे पुराण युग ई० सन् १०००-१३८० (तेलुगु)। वीरगाथा काल वि० सं० १०५०-१३७५ (हिन्दी)।

दोनों युगों के आविर्भाव का प्रधान कारण धर्म और देश की रक्षा कहा जा सकता है। आन्ध्र देश में जैन व बौद्ध धर्मों का प्रचार इतना बढ़ गया था कि वैदिक-धर्म के लुप्त हो जाने की संभावना थी। जैन और बौद्ध धर्मों का स्वरूप भी बहुत बिगड़ा हुआ था। इस समय नन्नयभट्ट ने आन्ध्र के चालुक्य वंशीय राजा राजराज नरेंद्र (ई० स० १०२०) के आदेश के अनुसार मृतप्राय वैदिक-धर्म को पुनः स्थापित करने के लिये 'आन्ध्र महाभारत' का प्रणयन किया। इस प्रकार नन्नय ने धार्मिक क्षेत्र में एक क्रांति उपस्थित की। महाभारत में वैदिक-धर्म का इस ढंग से प्रतिपादन किया गया है कि धर्मच्युत होने वाली जनता के हृदय में अपने धर्म के प्रति आत्म-विश्वास का भाव पैदा हुआ है। जनता का अपने धर्म पर पुनः विश्वास जाग उठा और वह जैन एवं बौद्ध धर्म को त्यागने लगी।

महाभारत की रचना तीन महाकवियों ने प्रस्तुत की है। एर्राप्रगडा तथा तिक्कुन्ना ने भी इस कार्य में हाथ बँटाया। नन्नया ने आदि-पर्व और सभा-पर्व समाप्त किया। अरण्य पर्व की रचना कर ही रहे थे कि उनका देहान्त हो गया। इस पर्व के शेषांश को एर्राप्रगडा ने पूरा किया तो शेष १५ पर्वों को तिक्कुन्न सोमयाजी ने। नन्नया, तिक्कुना और एर्राप्रगडा को आन्ध्र के 'कवित्रय' के नाम से अभिहित किया जाता है। इन तीनों महाकवियों की निर्विराम सेवा के कारण आन्ध्र जनता के लिये संस्कृत महाभारत का स्वाद तेलुगु वाणी में संभव हो गया है।

तेलुगु के आदि कवि नन्नया हैं या नन्नेचोडडु—इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् नन्नेचोडडु को आदिकवि मानते हैं। उनका कथन है कि नन्नया की रचना के पूर्व नन्नेचोडडु ने 'कुमारसंभवम्' का रूपांतर तेलुगु में प्रस्तुत किया था। किन्तु यह विवादास्पद विषय है। अब तक प्रामाणिक रूप से कुछ निर्णय नहीं हो पाया है। इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि नन्नेचोडडु के 'कुमारसंभवम्' का जनता में काफी प्रचार हुआ था और वह उस समय के प्रमुख कवियों में माने गये हैं।

जिस समय दक्षिण भारत में जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था, उसी समय उत्तर भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे थे। यदि उस समय दक्षिण में बिगड़े हुए जैन और बौद्ध धर्मों से लोगों को बचाकर वैदिक-धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रश्न था; तो उत्तर में मान, प्राण, राज्य और धर्म की रक्षा का प्रश्न था। इसलिये दक्षिण के नरेश धर्माचार्य एवं पंडित तथा कवि अपने धर्म की रक्षा के लिये उपाय ढूँढ़कर उन पर अमल करने लगे, तो उत्तर में विदेशी लुटेरों एवं शासकों को रोकने का प्रयत्न करने लगे थे। अतः उत्तर के कवि व पंडित, जो राजदरबारों में थे, अपने कर्तव्य के पालन के लिये युद्ध के मैदान में भी उतर पड़ते थे। शौर्य के आँखों देखे दृश्यों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया करते थे। इन कवियों की अधिकांश घटनायें कल्पित एवं अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। इन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की खूब बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा की है। साधारणतः युद्ध का कारण स्त्री को माना गया है। इन स्त्रियों के फेर में पड़कर उस जमाने के राजा और महाराजा अपने प्रथम कर्तव्य अर्थात् देश की रक्षा को भूल गये थे। कवि भी अपने

आश्रयदाताओं की कामुक भावनाओं को भड़काने में खूब योग देते थे। अतः इस समय के कवि व गीत वीर-रस प्रधान थे और उनमें शृंगार-रस का पुट पाया जाता है। इस काल के प्रमुख कवि चन्दबरदाई, भट्ट केदार, जगनिक और नरपति नाल्ह माने जाते हैं।

हिन्दी और तेलुगु की प्रारंभिक रचनाएँ राजाओं के दरबार में ही रची गईं। दोनों साहित्यों का प्रणयन राजदरबारों में ही हुआ। परंतु दोनों की परिस्थितियों में भिन्नता है। उत्तर भारत में हिन्दू-मुसलमानों के बीच संघर्ष हो रहा था। उस संघर्ष-पूर्ण युग में वीर-रस प्रधान कविता ही हो सकती थी। संघर्ष का मूल-कारण राज्याकांक्षा था, जबकि आन्ध्र देश में यह संघर्ष राजनीतिक न होकर धार्मिक था। शैव और वैष्णवों के बीच धार्मिक विद्वेष की खाई बढ़ती गई तथा जैन और बौद्ध धर्मों ने आस्तिक भावना को मिटा दिया था। अतः नन्नया ने वैदिक-धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करने व उसे मजबूत बनाने का कार्य प्रारंभ किया। तेलुगु में महाभारत का प्रणयन किया, जिसमें ६० प्रतिशत संस्कृत के शब्द थे। उत्तर भारत में उस समय भाषा का स्वरूप ठीक तरह से निश्चित नहीं हो पाया था; हाँ राजस्थानी का प्रभाव जरूर ज्यादा था। 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा में, जो डिंगल या राजस्थानी मानी जाती है, ठेठ शब्दों की बहुलता थी। आर्य परिवार की भाषा होते हुए भी हिन्दी के प्रारंभिक रूप, राजस्थानी में संस्कृत के शब्द कम थे। द्रविड़ परिवार की भाषा होते हुए भी तेलुगु भाषा पर संस्कृत की अधिक छाप थी, यह एक बड़ी विशेषता है। किन्तु क्रमशः तेलुगु भाषा संस्कृत के प्रभाव से मुक्त होती गई। उसमें ठेठ तेलुगु के भी अनेक शब्द व्यवहृत होने लगे।

नन्नया भट्ट तेलुगु के आदि कवि (११वीं सदी) माने जाते हैं। उनका 'महाभारत' ही तेलुगु का आदि काव्य है। महाभारत तो अनूदित ग्रन्थ है, जब कि हिन्दी में हमें प्रारंभ में मौलिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। अलावा इसके नन्नया भट्ट ने 'शब्द चिंतामणि' नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा था। इससे यह अनुमान लगा सकते हैं कि नन्नया के पूर्व भी अवश्य कुछ ग्रन्थों का प्रणयन हुआ होगा। नहीं तो 'महाभारत' में जैसी परिष्कृत साहित्यिक शैली का परिचय मिलता है—वह असंभव है। इतना ही नहीं, तेलुगु के प्रारंभिक काल में जैसे व्याकरण ग्रन्थ आदि आये हैं, वैसे व्याकरण ग्रन्थों का आविर्भाव हिन्दी में बहुत समय के बाद हुआ है।

हिन्दी के चारण और भाट कवि अपने आश्रयदाताओं की मिथ्या प्रशंसा में लगे रहे; जबकि तेलुगु के कवियों ने स्वयं भक्त होने के कारण अपने आश्रयदाताओं की प्रेरणामात्र लेकर समाज को संतुलित रखा। उदाहरण के लिये चन्दबरदाई की कविता राजा पृथ्वीराज के गुणगान तक ही सीमित रही। उस अखिल भारतीय आदर्श का इसमें समावेश न हो पाया, जो नन्नया की वाणी की विशेष विभूति है।

हिन्दी में डिंगल एवं अपभ्रंश भाषा में इस युग में रचनाएँ की गई तो आन्ध्र में तेलुगु भाषा में मार्ग-कविता (जिसमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य होता है) और देशी कविता (जिसमें ठेठ तेलुगु शब्दों का बाहुल्य होता है) में रचनाएँ हुई। वैष्णव धर्म के अनुयायी आचार्य एवं कवियों ने मार्ग-कविताओं में रचनाएँ कीं, तो शैव कवियों ने देशी छन्दों में रचनाएँ कर सर्वसाधारण में अपने धर्म का प्रचार किया। जैसे गौतम बुद्ध के पहले उत्तर भारत में संस्कृत का बोलबाला था, तो बुद्ध ने आम जनता की भाषा 'पाली' में अपने धर्म का प्रचार शुरू किया था, वैसे ही मल्लिकार्जुन पंडित व पालकुरिकि सोमनाथ आदि कवियों ने जनता की बोली में रचनाएँ कीं। हिन्दी में ऐसी साहित्यिक धाराएँ इस युग में नहीं मिलतीं।

इस युग में तेलुगु में महाभारत, रामायण, मार्कण्डेय पुराण, हरिवंश पुराण इत्यादि अनेक पुराणों का अनुवाद हुआ। फिर भी ये अविकल अनुवाद न होकर स्वतंत्र काव्य-से लगते हैं। इस युग में ही करीब-

करीब सभी पुराणों का तेलुगु में अनुवाद होने के कारण इस युग का नाम ही 'पुराण युग' पड़ गया; जैसे हिन्दी में वीररस-प्रधान काव्यों की अधिकता के कारण इस युग का नाम 'वीरगाथा काल' पड़ गया।

हिन्दी में रासो काव्यों के अतिरिक्त इस युग में 'आल्हखंड', 'कीर्तिलता', 'कीर्तिपताका', 'विद्यापति-पदावली' आदि की रचना हुई, उसी भाँति तेलुगु में शतक-प्रबंध-काव्य तथा पुराणों में वर्णित आख्यानों पर स्वतंत्र काव्य रचे गये।

यह तेलुगु का आदिकाल होते हुए भी सभी दृष्टियों से पूर्ण कहा जा सकता है। इसमें अनेक महाकवियों का प्रादुर्भाव हुआ, दर्जनों काव्य रचे गये। आदिकवि नन्नया ने 'आन्ध्र शब्द-चिंतामणि' नामक प्रथम व्याकरण ग्रन्थ लिखकर 'वागानुशासन' नामक उपाधि प्राप्त की। यह व्याकरण ग्रन्थ संस्कृत में रचा गया। इससे कवि के पांडित्य का सहज ही परिचय मिल जाता है। इसके अतिरिक्त अथर्वणाचार्य ने अथर्वण-कारिकावली (व्याकरण), 'अथर्वण-छन्द', महाकवि तिक्कन्ना का 'कवि वाग्बंध', तिप्पन्ना का 'रतिशास्त्रभु', केतना का 'भाषा-भूषण', विन्नकोट पेद्दना कृत 'काव्यालंकार-चूडामणि', गौरनमंत्री का 'लक्षण दीपिका' इत्यादि शास्त्रीय ग्रन्थ तथा व्याकरण-अलंकार, छन्द एवं रस सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थ भी इसी युग में रचे गये हैं; जबकि हिन्दी साहित्य में ऐसे ग्रन्थों की सृष्टि बड़ी देरी से दिखाई देती है। 'रीतिकाल' तक यानी १७वीं शताब्दी तक हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थ नहीं के बराबर हैं। इस दृष्टि से तेलुगु का आदि-काल भी प्रौढ़-साहित्य से परिपूर्ण कहा जा सकता है।

भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी के वीरगाथाकाल की अपेक्षा तेलुगु का पुराण-युग काफी विकसित एवं पूर्ण माना जा सकता है। क्योंकि आदि कवि नन्नया, महाकवि तिक्कन्ना, नाचन सोमना इत्यादि ने भाषा को जिस ढंग से प्रौढ़ बनाया तथा जिस विशिष्ट शैली का प्रयोग किया, ये सब बहुत समय तक भावी पीढ़ी के लिये भी अनुकरणीय एवं आदर्श बन गए थे। ऐसे प्रतिभाशाली तेलुगु कवि बहुत कम हुए हैं। हिन्दी साहित्य में सूर और तुलसी का जो स्थान है, वही तेलुगु में नन्नया और तिक्कन्ना का है। ये दोनों कवि महान् पंडित, कवि एवं आचार्य थे। तिक्कन्ना तो महामात्य, राजगुरु तथा कवि थे। तिक्कन्ना यज्ञ करके सोमयाजी भी हो गये थे। इन दोनों कवियों की लोकानुभव की भावना अपूर्व है।

विषय वैविध्य की दृष्टि से भी पुराण युग परिपूर्ण कहा जा सकता है। श्री गोन बुद्धारेड्डी ने वाल्मीकि-रामायण का इसी युग में छन्द द्विपदा में अनुवाद किया। उन्होंने रामायण की कथा को ग्रहण कर और उसमें अनेक लोक-कथाओं से सम्बन्धित वृत्तान्तों को जोड़कर जहाँ काव्य को रोचक बनाया, वहीं विस्तृत और नीरस वर्णनों को निकाल भी दिया है। जन-साधारण में इस रामायण का विशेष प्रचार हुआ है। 'भास्कर रामायण' भी इसी युग की देन है, जो मार्ग-कविता में रची गई है। इसका भी तेलुगु 'महा-भारत' की भाँति अनेक कवियों द्वारा पद्यानुवाद किया गया है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि आन्ध्र-साहित्य के आदिकाल में ही दो-तीन प्रसिद्ध 'रामायणों' की रचना हुई थी, जबकि हिन्दी साहित्य में रामायण के स्वान्तः सुखाभिलाषी गायक अभी उदित होने को थे।

उत्तर भारत में दिल्ली, अजमेर, कन्नौज इत्यादि केंद्र जैसे कवियों के आश्रय-स्थल थे, वैसे ही आन्ध्र में राजमूंद्री, नेल्लूर, बरंगल और अंद्रकि प्रधान केंद्र थे। यहाँ के राजाओं के प्रोत्साहन से ही अनेक काव्य रचे गये। दरबारों में कवियों का सम्माननीय स्थान था। उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता थी।

पुराण युग के आन्ध्र-साहित्य की सबसे विलक्षण विभूति उसका शैव साहित्य है, जिससे हिन्दी

साहित्य एकदम वंचित रह गया। आन्ध्र साहित्य की मूल प्रेरणा शैव-धर्म में ही पाई जाती है। इस शाखा के तीन कवि आदिकाल में प्रसिद्ध हुए : नेन्नचोडुडु, पंडिताराध्य और सोमनाथुडु। ये तीनों शैव सिद्धान्तों के अन्वेषक, आराधक और अनुगायक थे। लोकप्रिय छन्दों में सुबोध शैली को अपनाकर उन्होंने कई धार्मिक रचनाएँ की थीं। जिनमें से उल्लेखनीय हैं : पंडिताराध्य का 'शिव तत्व पुराणमु' और सोमनाथ का 'बसव पुराणमु'। 'शिव तत्व पुराणमु' धार्मिक सिद्धांतों का संग्रह मात्र है; काव्य तत्व से शून्य है, पर सोमनाथ की रचना में धार्मिक सिद्धान्तों का कलात्मक प्रतिपादन है; जो साधारण शिक्षित और अर्द्ध-शिक्षित जनता के लिये भी सुगम-सा लगता है। यही कारण है कि आपको 'वीर शैव शाखा का मस्तिष्क' कहा जाता है। अतिशय भावुकता के कारण आपकी कविता और अधिक चित्ताकर्षक है। साधारण जनता में सुप्रसिद्ध और सुश्राव्य 'द्विपद' छन्द को अपनाकर आपने उसे काव्य-गौरव प्रदान किया है। आन्ध्र के इस वीर-शैव साहित्य को आत्मसात् करके 'राष्ट्रवाणी' अपना श्रेयलाभ ही कर सकेगी।

मलयालम का भक्ति-साहित्य

डॉ० एन० ई० विश्वनाथ अय्यर
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०

भक्ति-साहित्य भारतीय साहित्य परम्परा का रिक्थ है तथा भारतीय जन-भावना का निदर्शन। भारत की अन्यान्य भाषाओं की भाँति मलयालम साहित्य में भी भक्ति-साहित्य का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मलयालम का उल्लेखनीय प्रथम भक्तिग्रन्थ रामचरितम् पाट्टु है। पाट्टु का सामान्य अर्थ है 'गीत', पर साहित्यिक अर्थ है—'द्राविड़ाक्षरों में रचा, अंतादि-प्रासयुक्त वृत्तविशेष में रचा खण्ड।' रामायण के लंकाकाण्ड पर मुख्यतः आधारित रामचरितम् के रचयिता के विषय में काफ़ी मतभेद है। अनेक विद्वान् श्री वीरराम नामक त्रावनकोर-नरेश को इसका रचयिता मानते हैं और बारहवीं सदी को इसका रचनाकाल। मलयालम साहित्य के इतिहास[१] के लेखक श्री परमेश्वरन नायर के मत में पाट्टु साहित्य में सबसे प्रौढ़ रचना संभवतः रामचरितम् ही है।

पाट्टु धारा की और एक उल्लेखनीय रामकथाश्रित रचना रामकथापाट्टु है: इसके रचयिता श्री अच्चिपिल्ले आशान त्रिवेन्द्रम के पास 'कोवळम' गाँव के निवासी थे। इस बृहद् काव्य का नामोल्लेख पहले होना था। परन्तु हाल ही में डॉ० पी० के० नारायण पिल्ले ने इस ग्रन्थ की पूरी प्रति प्राप्त कर ली है और उन्होंने विराट भूमिका एवं 'भाषा परिमळम' व्याख्या के साथ इसका संपादन-प्रकाशन किया है। वीररस से अनुस्यूत यह काव्य तमिष़-प्रभाव से मधुर और अल्पसंख्यक तत्सम शब्दों से युक्त मलयालम में रचित है। केरल के इन रामकवियों का उपजीव्य महाकाव्य तमिष़ भाषा का कंबरामायणम् है।

इन दोनों काव्यों का महत्व साहित्यिक अर्थात् काव्यात्मक दृष्टि से है। भक्तिपरक अंश इनमें नहीं के बराबर है; यही कारण है कि मलयालम के भक्ति-साहित्य की विवेचना के प्रसंग पर इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख भर किया गया है।

भक्ति-साहित्य से आशय रामकथाश्रित, कृष्णकथाश्रित एवं अन्य देवी-देवताओं की यशोगाथा वाले काव्य से है। इस दृष्टि से कण्णश्श रामायणम् मलयालम की अगली उल्लेखनीय रचना है। इसकी रचना श्री कण्णश्श पण्णिकर ने १४-१५वीं सदी में की थी। 'कण्णश्श' पारिवारिक नाम है। इस परिवार में सर्वश्री माधव, शंकर और राम नाम से तीन व्यक्ति हुए थे; जिनमें माधव पण्णिकर ने भगवद्गीता रची; शंकर पण्णिकर ने भारतमाला की रचना की। राम पण्णिकर ने 'रामायणम्', 'भारतम्', 'भागवतम्' तथा 'शिवरात्रि माहात्म्यम्' लिखे। कण्णश्श रामायणम् की पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं है और इस ग्रन्थ का विधिवत् मूल्यांकन नहीं हो पाया है, तथापि जो अंश

---

१. साहित्य अकादमी, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशित है, उसमें हम भाव-सौष्ठव के साथ शब्द-माधुरी एवं अनुप्रास-निर्वाह देख सकते हैं। भक्ति की दृष्टि से तो इनके उपरान्त रचित एष्ुत्तच्छनकृत अध्यात्मरामायणम् ही अधिक प्रशस्त है।

भक्तिकाव्य का शुद्ध स्वरूप केरल के मधुर भक्त कवि पून्तानम में मिलता है। केरल के प्रसिद्ध एवं पवित्र तीर्थ 'गुरुवायुर' के भगवान् नारायण के अनन्य भक्त पून्तानम नंपूतिरि की भक्ति-विभोरता के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। इनका वाङमय आकार की दृष्टि से लघु है। भाषाकर्णामृतम्, ज्ञानप्पाना तथा सन्तानगोपालम्—इनकी लिखी तीन रचनाएँ ही मिलती हैं। भाषाकर्णामृतम् मुख्यतः श्री विल्वमंगल के संस्कृत ग्रंथ श्रीकृष्ण कर्णामृत का भावानुवाद है। एक छन्द[1] का भाव यहाँ उद्धृत किया जाता है—"कमर पर घुँघरू व करधनी; टखने पर नूपुर का कोलाहल; विनोदपूर्ण खेल, हँसता मुख, हाथों में करताल, गायों की टापों से निकली धूल से सने चरन, श्याम शरीर और मुखमण्डल पर अनंत करुणा इस अद्भुत रूपराशि के धनी बालकृष्ण को अपनी आँखों से देख सकूँ—यही प्रार्थना है।"

भाषा-कर्णामृतम् में कुछ-कुछ क्रमबद्ध रूप से श्रीकृष्ण की संपूर्ण कथा गाई गई है। मलयालम के ज्ञान-रसायन के रूप में तो पून्तानम की कृति 'ज्ञानप्पाना' अत्यन्त प्रशस्त है। 'पाना' एक द्राविड़ी छन्द का नाम है। संसार के ज्ञान-सार की बातें 'पाना' छन्द में संक्षेप में बतायी गयी हैं।

'भक्तिकाव्य' शब्द का अर्थ यदि 'केवल भक्ति प्रधान' काव्य है तो इस अर्थ से युक्त काव्य ग्रन्थों की संख्या बिलकुल नगण्य है। किन्तु श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि की कथाओं पर आधारित काव्यों मे भक्ति का कुछ न कुछ अंश अवश्य मिलता है। उसी दृष्टि से मलयालम का भक्तिकाव्य कुछ विस्तृत है। इतिहासकार इसी दृष्टिकोण से कृष्णगाथा को मलयालम का भक्ति काव्य घोषित कर गये हैं। 'कृष्णगाथा के रचयिता चेरुश्शेरी नंपूतिरि अनुमानतः ईसवी पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में जीवित थे। यह दीर्घ-काव्य भागवत के दशम स्कन्ध की कथा को छोटे सरस द्राविड़ छन्द 'गाथा' में प्रस्तुत करता है। यह एक क्रमबद्ध प्रबन्धकाव्य है, जिसमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर उनके स्वर्गारोहण तक की कथा वर्णित है। रसानुगुण काव्य-रचना में कुशल कवि ने सारे प्रसंगों का उचित वर्णन किया है। इसीलिए कृष्णगाथा पाँच-पाँच सदियों के बाद भी प्रेम व श्रद्धा से पढ़ी जाती है। भाषा के विषय मे इसकी थोड़ी-सी प्राचीनता माननी ही पड़ती है। तदनुसार ऐसे अनेक शब्द इसमें मिलते हैं, जो प्रादेशिक व ठेठ हैं; लेकिन अब गत प्रयोग हो गये हैं।

तुलनात्मक अध्ययन के प्रेमियों ने चेरुश्शेरी एवं सूर की तथा उनके काव्य; कृष्णगाथा एवं सूरसागर की तुलना की है। यह तो सामान्य दृष्टि से ठीक है; क्योंकि दोनों ने कृष्ण कथा सुनाई है। बालकृष्ण, मुरली

---

१. "एलस्सुं मणियुं चिलंपुनळयुम्
कोलाहल-स्तोटेय-
म्मेळन्तिल् कळियुं चिरिच्च मुखवुं
नृकर्कळिल् ताळवुं
कालिक्कालप्रोटियुं कळायनिरवुं
कारुण्यवायप्पुं तथा
बालकृष्ण नटुन्तु वन्नोरु दिनं
कण्डावु कणकोप्टु ञान—"

माधुरी और गोपी-विरह के प्रसंग में दोनों के वर्णनों में थोड़ी-बहुत समानता पाई जाती है। इन दोनों में ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के कृष्ण-भक्त काव्यों में ये दोनों प्रसंग समान मिलते हैं। परन्तु बात यहीं तक सीमित है। चेरुश्शेरी व्यावहारिक और सरस हृदय जीव थे। प्रबन्धात्मकता इनके काव्य की विशेषता है। सूरदास जी का काव्य तो गेय मुक्तकों का समाहार है। इस विशेषता के कारण बहुत से पाठक इस बात से अवगत तक नही कि सूरदास ने भागवत के अनेक स्कन्धों की कथावस्तु का प्रतिपादन अपने गीतों में किया है।

केरल के तुलसीदास श्री तुंचन्तु एषुत्तच्छन मलयालम भक्ति-साहित्य के मूर्धन्य कवि हैं। उनकी महत्ता बहुमुखी है। प्रथम बात यह कि उनका जन्म अन्त्यज हिन्दू जाति में हुआ था, जो वेदाधिकार से वंचित थे। उन्होंने वेदज्ञों को चुनौती दी तथा 'भारत', 'भागवत' आदि ग्रन्थ लिखे, जिनमें वेदागमादि का सार है। काव्य के कलापक्ष के मर्मज्ञ कवि ने 'शिष्ट मणिप्रवाळ' भाषा को माध्यम बनाया है। 'शिष्ट मणिप्रवाळं' का भाव यह कि इसमें संस्कृत तत्सम, तद्भव और द्राविड़ी शब्दों का समन्वय औचित्यपूर्वक किया जाय। अधिकांश विद्वानों ने इनकी गढ़ी भाषा का ही प्रयोग आगे चलकर किया। यह स्तरीय मलयालम की कसौटी सिद्ध हुई है। इसी का प्रयोग अभी तक मलयालम के अच्छे-से-अच्छे लेखक करते आये हैं। एषुत्तच्छन की काव्य साधना के फलस्वरूप मलयालम भाषा का स्वरूप लगभग पाँच सदियों के पहले ही दृढ़ हो गया है।

यद्यपि मलयालम में अन्य रामकथाश्रित काव्य रचे गये हैं और वे कलापक्ष में सशक्त हैं, तथापि भावों की उदात्तता तथा भक्ति की गरिमा में एषुत्तच्छन की रचना अध्यात्मरामायणम् ही रामकाव्यों में सर्वश्रेष्ठ है। हिन्दी साहित्य के प्रेमी रामचरितमानस से एषुत्तच्छन कृत अध्यात्मरामायण की तुलना में रुचि रखते होंगे। मगर उन्हें इसमें रामचरितमानस का-सा बृहद् आकार, कथोद्भावना, हास्य चेतना आदि विस्तारोचित बातें नही मिलेंगी। कारण यह कि एषुत्तच्छन स्वयं संक्षेपण-कला के कुशल और अत्यन्त विनम्र कवि थे। उनका ध्येय बड़ी श्रद्धा और ममता से मात्र रामकथा सुनाने का था। कोई मौलिक बात सुनाने का दावा वे नहीं करते।.यही प्रवृत्ति एषुत्तच्छन-कृत 'भागवत' में भी प्राप्त होती है। भागवत लोकप्रिय तो है, परन्तु रामायण-सा नही। रामायण के समान 'भारतम्' एपुत्तच्छन की अन्यतम सुन्दर रचना है। इसे पूण रूप से भक्तिकाव्य नही माना जा सकता। इसमें यत्र-तत्र भक्ति की झलक है। जैसे, काव्य में भगवद्दूत के प्रसंग पर जो पार्थ-सारथि-स्तव है, वह भक्ति-भावना एवं काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से अद्वितीय है।

एषुत्तच्छन की ही अन्य रचनाएँ 'हरिनामकीर्तनम्' एवं 'चिन्तारत्नम्'—इनकी भक्तिपरक और दार्शनिकता-युक्त कृतियाँ हैं।

प्रत्यक्ष रूप से भक्तिकाव्य कहलाने योग्य न होने पर भी परोक्ष-रूप से भक्तितत्व प्रकट करनेवाली अनेक छन्दोमय रचनाएँ भी मलयालम में हैं। कथकलि और तुल्लल इसी कोटि के दो काव्य-रूप हैं। ये दोनों श्रव्य के साथ-साथ दृश्य भी हैं। इनका प्रस्तुतीकरण अधिकतर मन्दिरों में होता आया है। मन्दिरों के प्रांगण में प्रस्तुत काव्यरूप सहज ही भक्तिप्रधान कथा से सम्बन्धित रहे हैं। यहाँ तक कि केरल में कई मन्दिरों पर कथकळि का प्रस्तुतीकरण एक मनौती तक माना गया है। कथकळि काव्य में श्लोकों तथा गीतों का विधान होता है। सूच्य कथा श्लोक में तथा संवाद गीतों में होता है। राम, कृष्ण, शिव आदि भिन्न-भिन्न देवताओं से सम्बन्धित कथानक ही अधिकतर कथकळि में आते हैं। महाभारत, भागवत तथा

अन्य पुराण भी कथास्रोत बने हुए हैं। भक्ति-साहित्य में कथकळि की जैसी स्थिति है, वैसी ही स्थिति तुल्लल की (गायक-नर्तक द्वारा साभिनय मंच पर प्रस्तुत किया जानेवाला काव्य रूप) भी है। कथकळि एवं तुल्लल के रचयिता—खासकर तुल्लल के रचयिता—भक्तिरस आदि के साथ सरसता और हास्य का विशेष ध्यान रखते हैं; क्योंकि उनका मुख्य ध्येय श्रोताओं का मनोरंजन है। कथकळि एवं तुल्लल की तरह चंपूकाव्य भी कथाप्रधान है।

भौतिकवाद और बौद्धिकता की बाढ़ से मानव आज बुरी तरह आक्रान्त है, तथापि उसके अन्तरतम में भक्ति का क्षीण स्रोत अवश्य बहता है। हिन्दू धर्म ही नहीं, ईसाई धर्म तथा इस्लाम धर्म के भक्त-कवियों ने भी भक्तिगीत रचे हैं। इन आधुनिक भक्तिगीतों की विलक्षणता यह है कि इनमें से अधिकांश नयी-नयी फिल्मों की धुनों में रचे जाते हैं। केरल के प्रसिद्ध देवता अय्यप्पन के नाम-कीर्तन में ऐसे फिल्मी भक्ति-गीत बराबर सुने जाते हैं। भक्ति या कविता की दृष्टि से इनका प्रभाव अधिक गंभीर नहीं हो सकता। धुन की मिठास शायद किसी-किसी को पसन्द आवे, पर उसमें मौलिकता का अभाव खटकता है। इस्लाम धर्म के गीत-प्रेमी भक्त भी इन फिल्मी धुनों का अनुकरण करते हैं। उनका भी साहित्यिक प्रभाव नगण्य ही रहा है।

मलयालम के भक्ति काव्य का प्रसंग हिन्दू भक्ति काव्य की चर्चा से पूरा नही हो सकता। केरल में ईसाई धर्म के लोगों की संख्या काफ़ी अच्छी है। साहित्यिक क्षेत्र में उन्होंने प्रगति की है। अतएव उनका भक्तिकाव्य भी मलयालम साहित्य का अंग है। ईसाई धर्म से सम्बन्धित कथानकों पर जो मलयालम काव्य लिखे गये हैं, वे बीसवीं सदी के हैं। इनकी रचना महाकाव्य की शिल्प-विधि के अनुकूल हुई है। कुछ खण्डकाव्य भी लिखे गये हैं। इनमें प्रमुख हैं श्री कट्टक्कन्नम का 'श्री येशु विजयम' और श्री सैमण का 'वेदविहारम।' इनमें ईसा मसीह की अलौकिक प्रभुता का वर्णन है और उस दृष्टि से इनका संबंध भक्ति से है। ईसाई धर्म के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालनेवाले 'मग्दलन मरियम' जैसे खण्डकाव्य भी यहाँ मिलते हैं।

अन्त में समसामयिक युग के भक्तवर श्री ओट्टूर उण्णि नंपूतिरि का भी उल्लेख आवश्यक है। ये उन भक्त कवियों के प्रतिनिधि हैं; जो चारों तरफ़ की टीमटाम या नास्तिकता के प्रचार से बिलकुल विचलित हुए बिना अपने मन की शान्ति के लिए भगवान् के चरणों पर स्तोत्र-पुष्प चढ़ाते हैं।

वर्तमान बौद्धिक और सामाजिक दृष्टि से 'भक्ति' काव्य का गौण अंग ही हो सकती है। कारण यह कि भक्ति-भावना कवि को अतिशय भावुक बना सकती है और ऐसा भाव कठोर यथार्थ से दूर भागने वाला पलायनवाद हो जाता है। अतएव आधुनिक वातावरण में मलयालम ही क्या, किसी भी भारतीय भाषा के भक्ति-साहित्य का भविष्य बड़ा धुँधला ही लगता है।

तेलुगु के प्रमुख गीतिकार कवि

डॉ० के० रामनाथन्
एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी के भक्ति-साहित्य में गीत-शैली को प्राधान्य मिला और प्रबन्धकाव्य-शैली गौण रही। जिस आन्ध्र में प्रबन्ध-काव्यों को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त होती रही, उसमें लोक शैली का आगमन एक ऐतिहासिक घटना है। संस्कृत वृत्तों के बीच 'द्विपदा' की स्थिति स्थिर होने लगी। अन्नमाचारी (सन् १४२४-१५०३ ई०) के संकीर्तन उस स्वतंत्र गीत शैली के स्पंदन हैं, जो प्रबन्ध-धारा से मुक्त होकर भगवान् को समर्पित हुई। गेय-काव्य-परंपरा के प्रमुख प्रवर्तक अन्नमारी का महत्व कला की दृष्टि से ऐतिहासिक है। पालकुरिकि सोमनाथ (सन् ११९०-१३२०) ने अपने 'पंडिताराध्य चरित्र' में तुम्मेद, पर्वत, आनंद, निवालि, गोलि, वेन्नेल इत्यादि अनेक लोक-गीतों का उल्लेख किया है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि नन्नया के पूर्व ही तेलुगु में लोक-गीतों की एक स्वस्थ परंपरा चल पड़ी थी। बी० रामराजु का मत है कि अन्नमाचारी ने तत्कालीन प्रचलित लोक-गीतों के ढाँचे के अनुसार ही अपने संकीर्तनों की रचना की थी।[2]

'सिंहाचल नृसिंह' के भक्त-कवि कृष्णमाचारी (सन् १२९५-१३२६ ई०) तेलुगु के सर्वप्रथम वचन गीतकार थे। उन्होंने सिंहगिरि वचनमुलु और शठगोप-विन्नप नाम से कुछ वचन गीतों की रचना की थी।[3] इनके सिंहगिरि वचनमुलु मधुर-भक्ति से युक्त गेय हैं। इनकी मधुर भक्ति की उपासना आलवारों से प्रभावित थी। अन्नमाचारी ने अपने पूर्ववर्ती कृष्णमाचारी की वंदना की है। अन्नमाचारी ने कृष्णमाचारी से प्रभावित होकर लोकगीत साहित्य को संगीत की सूक्ष्मताओं से युक्त करके अभिजात रुचि के अनुकूल बनाया। इस प्रकार लोकगीत का प्रभाव और संगीत की लय मिलकर एक अद्भुत काव्य-रूप साहित्य में स्थापित हो गया। यद्यपि कृष्णमाचारी के वचनमुलु गेय ही हैं, किन्तु उनमें टेक का अभाव, गद्यात्मकता, संगीत सरणियों और लय के परिष्कृत रूप का अभाव आदि कुछ दोष भी हैं। अतः उन्हें पद-साहित्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इसीलिए अन्नमाचारी को 'आन्ध्र पद-कविता पितामह' होने का श्रेय मिला।

नारायण तीर्थ भी उल्लेखनीय कवि हैं, जिन्होंने अपने यक्षगान प्रदर्शन के लिए अध्यात्म-बोध से युक्त कीर्तनों की रचना की और भजन पद्धति के प्राचुर्य के लिए मार्ग प्रशस्त किया। साथ ही उन्होंने गौण रूप से शृंगारिक पदों की भी रचना की।

आलोचकों का मत है कि अन्नमाचारी के पदों की दो धाराएँ आलोच्य युग के पश्चात् पृथक् हो

---

१. प्राङ्नन्नया युग, चागटि श्री गोपाल कृष्ण मूर्ति, पृ० ५७९।
२. आंध्र जनपद गेय साहित्यमु, निबन्ध, भारती (साहित्यिक मासिक पत्रिका) नवंबर, १९५६, पृ० १२।
३. आंध्र कवि सप्तशती, पृ० ४०।

गयीं। शृंगारिक पदों का उन्नयन क्षेत्रय्या ने किया और आध्यात्म पदों का त्यागराज और रामदास ने। रूप की दृष्टि से एक अन्तर यह उपस्थित हुआ कि क्षेत्रय्या और रामदास के पदों में तो शास्त्रीय संगीत इतना प्रविष्ट नहीं हुआ, पर त्यागराज ने संगीतकला की सूक्ष्मतम सरणियों से इनको युक्त कर दिया। दूसरा अंतर क्षेत्रय्या और अन्नमाचारी में यह है कि अन्नमाचारी ने भक्तिभाव को प्रमुख रखते हुए शृंगार के शास्त्रीय विधान को इतना महत्व नहीं दिया, जितना क्षेत्रय्या ने। शृंगार की सभी शास्त्रीय विधियाँ क्षेत्रय्या में मिल सकती हैं, पर उनमें भक्ति भाव शिथिल हो गया। आध्यात्म संकीर्तनों के कर्त्ता अन्नमाचारी और रामदास में साम्य अधिक मिलता है। त्यागराज अन्नमाचारी की भाँति उच्चकोटि के भक्त थे; पर उनमें संगीत की शास्त्रीयता का तत्त्व पराकाष्ठा तक उभरा है।

इस प्रकार आन्ध्र के प्रमुख गीतकारों में चार के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं : अन्नमाचारी, क्षेत्रय्या, कंचेर्ल गोपन्न (भद्राचल रामदास) और त्यागराज स्वामी। इनके व्यक्तित्व और काव्य-संगीत का संक्षिप्त आलोचनात्मक विश्लेषण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

ताल्लपाक अन्नमाचारी

ताम्रपत्रों पर लिखित अन्नमाचारी के ३२,००० कीर्तन प्रसिद्ध पुण्य क्षेत्र तिरुमलै के श्री बालाजी के मंदिर में प्राप्त हुए हैं। इनके आध्यात्मिक कीर्तनों में दास्य भक्ति, वैराग्य, निर्वेद, मनःप्रबोध, नीति, उपदेश आदि के वर्णन मिलते हैं और शृंगार कीर्तनों में इष्ट युगल श्री वेंकटेश्वर और पद्मावती की शृंगार क्रीड़ाएँ, वेंकटेश्वर का दक्षिण नायकत्व, नायिका भेद, गोपिकाओं का रूप सौंदर्य, हाव-भाव, संयोग-वियोग आदि के प्रभावोत्पादक वर्णन हैं।

अन्नमाचारी ने लोकोक्तियों के बहुल प्रयोग के द्वारा लोक-भाषा शैली को जीवंत बनाया है। अन्नमाचारी द्वारा प्रयुक्त लोकोक्तियों का एक स्वतंत्र कोष भी बन सकता है। अन्नमाचारी के अलंकार सदा भाव के वाहक रहते हैं।

सूर के समान अन्नमाचारी का व्यक्तित्व भावात्मक साधना का अभिन्न अंग था। उनमें साहित्य क्षेत्र में अपनी चमत्कृति से अमर होने की कामना नहीं मिलती। अन्नमाचारी में विरह अस्थायी है। एक ही पद में संक्षिप्त विरह या मान के पश्चात् मिलन की सूचना प्राप्त होती है। सूर का विरह कृष्ण के मथुरा-प्रस्थान के उपरांत अनंत हो जाता है। विरह के ऐसे मार्मिक स्थल अन्नमाचारी में नहीं हैं। राधा की मान्यता पद्मावती की मान्यता से भिन्न है। पद्मावती में माधुर्य और विवाहिता सती की-सी दास्य-भावना का संयोग मिलता है। अन्नमाचारी अपनी भावना के उच्चतम स्तर पर माधुर्य और दास्य की प्रतिमूर्ति पद्मावती से तादात्म्य करते प्रतीत होते हैं। तत्कालीन लोक-गीत साहित्य को संगीत की सूक्ष्मताओं से युक्त करके उसे अभिजात रुचि के अनुकूल बनाया है। जिस पद शैली को अन्नमाचारी ने जन्म दिया; वह क्षेत्रय्या, रामदास और त्यागराज स्वामी के द्वारा पूर्ण विकास को प्राप्त हुई।

क्षेत्रय्या (१७वीं शती पूर्वार्द्ध)

आन्ध्र वाङ्मय में क्षेत्रय्या का वही स्थान है, जो हिन्दी में विद्यापति का। दोनों का सम्बन्ध दरबारों से था और दोनों ही मुख्यतः शृंगारी कवि हैं। विरह पक्ष के उद्घाटन में दोनों में अनेक समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। दोनों कवियों के बीच यद्यपि दो शताब्दियों की खाईं है, फिर भी दोनों में प्रवृत्ति-

गत साम्य दिखाई पड़ता है। दोनों के जीवन की परिस्थितियाँ पूर्ण रूप से नहीं तो आंशिक रूप से समान अवश्य हैं। दोनों का कलापक्ष ललित और सुगढ़ है। कोमलकांत पदावली शृंगार रस से संयुक्त होकर संगीत के स्वरों में गूंज उठी है, दोनों का अलंकार विधान भाषा और भाव को रमणीय बनानेवाला है। यत्र-तत्र यदि अलंकार-लोलुपता अधिक दीखती भी है तो उसे दरबारी वातावरण का प्रभाव मानना चाहिए। नायिका का नखशिख संयोगावस्था में जितना कामोत्तेजक और अश्लील होता है, उतना विरहावस्था में नहीं। इसी कारण दोनों की विरहिणी नायिका के चित्र स्वच्छ सरल रूप से सामने आते हैं। दोनों ने प्रकृति का चित्रण विशेष रूप से उद्दीपनों और अलंकारों के रूप में किया है, पर क्षेत्रय्या की अपेक्षा विद्यापति में विस्तार अधिक है। विद्यापति का ध्यान अधिकतर कला की ओर रहा तो क्षेत्रय्या अनुभूति और भाव की स्वाभाविकता एवं गहराई की ओर झुके हुए हैं।

गीतगोविंद के लेखक जयदेव और श्रीकृष्ण के अद्वैत भाव से युक्त श्रीकृष्णलीला तरंगिणी के लेखक नारायण तीर्थ में जो अंतर है, वही अंतर क्षेत्रय्या और त्यागराज में है। जयदेव के अष्टपदों को सुनते समय मन में उल्लास उत्पन्न होता है; पर भक्ति भाव उत्पन्न नहीं होता। नारायण तीर्थ के पदों को सुनते समय हृदय तन्मयता की स्थिति को प्राप्त करता है। उसी प्रकार त्यागराज के कीर्तनों को गायक भक्ति के आवेश में आकर गाते हुए अपने आप को भूल जाते हैं, साथ ही श्रोताओं को पुलकित भी कर देते हैं। जयदेव और विद्यापति में बहुत साम्य है।

कंचेर्ल गोपन्न (भद्राचल रामदास)

इने-गिने भक्ताग्रेसरों में रामदास का नाम आता है। इन महानुभाव का जीवन-काल सन् १६२० से १६८० ई० तक माना जाता है।

'रामदास चरित्रमु' नामक ग्रंथ से रामदास जी के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। रामदास जी जन्मतः रामभक्त थे। जब वे रामायण पढ़ते थे, तब उन्हें दुःख इस बात से होता था कि श्रीराम जी के अवतार के समय में इनका जन्म न होकर अब क्यों हुआ? उक्त ग्रंथ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि कबीरदास जी यात्रा करते-करते रामदास के गाँव पहुँच गये और राममंत्र देकर उन्हें रामभक्ति में दीक्षित किया। ऐतिहासिक दृष्टि से उस काल में कबीरदास जी का दक्षिण में आना संभव नहीं दीखता। इसलिए इस कबीर को उत्तर भारत के निर्गुण संप्रदाय के प्रवक्ता कबीरदास जी से अलग माना जा सकता है। जो भी हो, जब रामदास जी को गुरुमुख से राममंत्र प्राप्त हुआ, वे आनंद-विभोर होकर 'तारकमंत्रमु' कोरिन दोरिकेनु धन्नयुडनैतिनि ओरन्ना" कहते हुए कीर्तन गाने लगे। बचपन से ही हरिदासों की सेवा में अपना समस्त ऐश्वर्य लुटाने में उन्हें बहुत आनंद होता था। ये सहज-सरल जीवन व्यतीत करते थे।

कीर्तनों के अतिरिक्त रामदास जी ने 'दाशरथि' नामक एक शतक की रचना की है। रामदास के लगभग १०० कीर्तन ही देखने को मिलते हैं। इनके कीर्तन पांडित्य-प्रदर्शन से रहित सरल-स्पष्ट और लयान्वित हैं। उन से भावस्फुरण भी मार्मिक होता है। रामदास का उद्देश्य पांडित्य-प्रदर्शन नहीं था। संगीत उनकी भक्ति साधना का केवल एक उपकरण मात्र था। इनके कीर्तन सहज भक्तिभावावेश और तन्मयता के कारण अनायास फूट पड़े हैं।

स्वामी त्यागराज

अपनी अनन्य भक्ति से उद्भूत संगीत मधु-सागर का मंथन कर उससे उत्पन्न ब्रह्मानंदामृत का स्वयं पान करके, जन-जन को भी उसे बाँटने का श्रेय अमर गायक स्वामी त्यागराज को है। कर्णाटक संगीत के 'संगीत-त्रिमूर्ति' में इनका प्रमुख स्थान है। मौलिक धातुकल्पना से मंडित कीर्तनों को पल्लवित करके दाक्षिणात्य संगीत के यश में इन्होंने चार चाँद लगा दिये हैं। मद्रास प्रदेश के तंजाऊर जिले में तिरुवांकूर में सीतम्मा और रामब्रह्मम् के सुपुत्र के रूप में इनका जन्म हुआ था। इनका जीवन-काल सन् १७६७ से १८४७ ई० तक था। तुलजाजी महाराजा के दरबारी संगीतज्ञ सोंठि वेंकटरमणय्या त्यागराज के बचपन में एक वर्ष तक संगीत गुरु रहे थे। अपने जीवन के अंतिम समय में ब्रह्मानंद स्वामी से इन्होंने संन्यास ग्रहण किया। युवावस्था में ही इनका विवाह हो चुका था, पर पत्नी के स्वर्गवास हो जाने के कारण इन्होंने दुबारा विवाह किया था। अनेक प्रलोभनों और प्रताड़नाओं के बावजूद भी उन्होंने अपनी संगीत भारती को राज दरबार के कलुषित वातावरण से दूर रखा। वेदोक्त उञ्छवृत्ति से प्राप्य खाद्य सामग्री से उनके घर में भोजन बनता था। भगवान् को नैवेद्य चढ़ाकर, शिष्यों तथा अतिथियों को खिला-पिलाकर बाद में वे भी भोजन किया करते थे। तंजाऊर राजा के भक्तिपूर्ण आमंत्रण को इन्होंने ठुकरा दिया। क्योंकि राम-भक्ति के सम्मुख नर-स्तुति और ऐश्वर्यासक्ति को इन्होंने तुच्छ समझा था:

निधि चाला सुखमा रामुनि सन्निधि सेव सुखमा
निजमुग तेल्यु मनसा, ममता बन्धनयुत नर-स्तुति सुखमो।

इसी प्रकार तिरुवांकूर के राजा स्वाति तिरुणाल के आह्वान को भी उन्होंने तिरस्कृत कर दिया। उनके विचार से धन, सुत, ऐश्वर्य, राज-मैत्री आदि का भक्ति के सामने कोई मूल्य नहीं है:

पदवि नी सद्भक्तियु कल्गुटे
धनकार सुतागार संपदलु, धरणीशुल चेलिमोकपदवा ?

शरभोजी राजा हिंसा से उन्हें अपने दरबार में लाने के लिए कटिबद्ध हुए तो वे तत्क्षण असहनीय पेट दर्द के शिकार हुए। इससे उनकी आँखें खुल गई और वे स्वयं सत्वर त्यागराज के घर जाकर श्रद्धा और भक्ति से उनके कीर्तनों को सुनने लगे। इन्होंने कांची, श्रीरंगम्, तिरुपति घटिकाचलम् आदि अनेक आस-पास के पुण्य क्षेत्रों की यात्रा की थी।

विषय लोलुपता, दंभाचार, घमंड, हिंसा, जार, चोरी आदि दुराचार, कपट, धार्मिक भेदभाव, सांप्रदायिकता, स्वार्थपरता आदि का इन्होंने खण्डन किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि समस्त धर्म और सम्प्रदायों का लक्ष्य एक ही है। शम, दम, निष्काम भक्ति, भगवत्कथा श्रवण, नाद-ब्रह्मोपासना आदि अनेक मोक्षप्रद साधनों को इन्होंने गा-गाकर लोगों को समझाया।

अब तक इनके प्रकाशित कीर्तन ६६० हैं, यद्यपि इनके कीतनों की संख्या २४,००० बतायी जाती हैं। 'प्रह्लाद भक्ति विजयमु', 'नौका चरित्रमु' तथा 'सीता-राम विजयमु' नामक तीन भक्ति और आध्यात्मिक विचारों से युक्त संगीत नाटकों की भी इन्होंने रचना की। इसमें संवाद गेय, द्विपदाएँ, चूर्निकाएँ, कंद, सीस, उत्पल, चंपकमाला तथा शार्दूलविक्रीडित छन्दों के पद्य सम्मिलित हैं।

उनके समस्त कीर्तनों में लगभग २०० राग प्रयुक्त हुए हैं। सत्तर प्रतिशत कीर्तनों में आदिताल प्रयुक्त हुआ है। रागों को शास्त्र के क्षेत्र से शिल्प-क्षेत्र में लाकर कीर्तन रचना-विधान के एक नवीन क्षितिज की उन्होंने खोज की थी। अपनी भावतन्मयता को मार्मिक अभिव्यक्ति देने के लिए कीर्तन के शिल्प को उन्होंने सर्वाङ्ग सुन्दर बनाया। इनके घन-राग-पंचरत्न कीर्तनों में अर्थगांभीर्य, भाव-स्फुरण तथा जटिल भाषा शैली है, वे संगीत विद्वानों के उत्साह और भावोद्रेकों को पल्लवित करने की क्षमता से युक्त होते हैं और इस प्रकार उन्हें अपने कला-प्रदर्शन के लिए एक विस्तृत क्षेत्र मिल जाता है। त्यागराज के कीर्तनों की भाषा की बहुत-सी खूबियाँ हैं: (१) मृदु, ललित उच्चारण सौलभ्य से युक्त शब्द समूह का प्रयोग; (२) भाव व्यंजना के लिए कम से कम शब्दों का प्रयोग; (३) साहित्य-भाव और राग-भाव का मणि-कांचन समन्वय करनेवाले तथा इन दोनों भावों के अनुरूप रहने वाले पद समूह का प्रयोग; (४) लोकोक्तियों और तेलुगु लोकभाषा के मुहावरों का बहुल प्रयोग; (५) कहीं-कहीं उनके कीर्तनों में संस्कृत शब्दों का गांभीर्य, अन्यत्र देशीय तेलुगु भाषा की छटा का दर्शन होता है। शिष्ट व्यावहारिक भाषा का ही प्रायः इन्होंने प्रयोग किया है और (६) कुछ कीर्तनों में ललित यमकालंकार और प्रास के सौंदर्य व्यक्त हुए हैं। जैसे कि :

श्री रमा नतोवादमा नेमेदमा इति मोदमा
श्री रमा हृच्चरमा नीव भारमा रायबारमा।

उपनिषदों के चिरंतन सत्यों को अत्यंत सरल शैली में प्रस्तुत करके अपने कीर्तनों को साधारण प्रजा के लिए भी इन्होंने आस्वाद्य बनाया। नवीन कल्पनाओं से युक्त संगीत शिल्प तथा राग की सर्वा-ङ्गीणता और परिपूर्णता त्यागराज के कीर्तनों की मुख्य विशेषताएँ हैं।

संगीत कला-तपस्वी और अनन्य राम-भक्त स्वामी त्यागराज की अमरवाणी युग-युग तक गूँजती रहेगी।

तिरुमल-तिरुपति और श्री वल्लभाचार्य

⊙

डॉ० एम० संगमेशम्
एम० ए० पी-एच० डी०

भारत के प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्रों में तिरुमल-तिरुपति एक है। तिरुमल यहां के पहाड़ का नाम है, जिसे तिरुवेंगडम्, वेंकटाद्रि, शेषाद्रि आदि नामों से भी पुकारते हैं। तिरुपति उस पहाड़ के पादप्रदेश में बसा नगर है, जो आजकल श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय का केंद्र है। तिरुमल पहाड़ पर भगवान् श्रीवेकटेश्वरजी का मंदिर है, इसकी ईसा की प्रथम शताब्दी के आरंभ से ही प्रसिद्धि है और इसका उल्लेख ब्रह्मांड, वराह, वामन आदि पुराणों में मिलता है। आलवार भक्तों ने भारत-भर के १०८ वैष्णव क्षेत्रों का यश गाया और उन सबको तिरुपति के ही नाम पर १०८ दिव्य तिरुपति क्षेत्र कहकर व्यवहार किया। अन्य क्षेत्रों की तुलना में तिरुपति क्षेत्र के बारे में उनके रचे पद्यों की संख्या ज्यादा है। ये सब इस क्षेत्र के प्राधान्य को व्यक्त करते है।

आचार्य प्रभु वल्लभ के समय अर्थात् १५-१६वी शताब्दी तक तिरुपति क्षेत्र की प्रसिद्धि सारे देश में फैल गयी। विशेषकर दक्षिण के चारों भाषा-प्रांतवालों में यहाँ के भगवान् श्रीवेकटेश्वरजी इष्टदेव और कुलदेव से माने जाने लगे। आचार्यजी तेलुगुवाले थे। वे आंध्र प्रांत के वेलनाटि वैदिक ब्राह्मण थे और भारद्वाजस गोत्र के थे। उनका घर का नाम (पारिवारिक) कंभंपाटिवारु था और पुरखों का निवास-स्थान कृष्णा-गोदावरी प्रांत के काकरवाडा नामक गाँव था।[१] इनके मातुल हंपी विजयनगर के दरबार में किसी गौरवपूर्ण पद पर नियुक्त थे। काशी मे पिता लक्ष्मण भट्ट की मृत्यु के बाद अपनी माता एल्लम्माजी के साथ युवक वल्लभ हंपी विजयनगर चले गये और माँ को छोड़ कर अकेले भू-प्रदक्षिणा करने चल पड़े।

अन्यान्य आंध्र नैष्ठिक ब्राह्मण परिवारों की तरह वल्लभ के परिवार में भी तिरुपति के श्रीवेंकटेश्वर जी को इष्टदेव माना जाता था। कहते हैं कि अपनी भू-प्रदक्षिणा के समय वल्लभाचार्य जी ने तिरुमल-तिरुपति की यात्रा की और पहाड़ पर वराहस्वामी के मंदिर के पास बैठक लगायी। बाद मे अपनी दूसरी और तीसरी भारत-यात्राओं में भी वे तिरुमल-तिरुपति पधारे और उसी जगह बैठके लगायी, जहाँ पहली यात्रा

---

१. आंध्र विज्ञान सर्वस्व ४, पृ० १०१६।

(यद्यपि अनुश्रुतियों के अनुसार आचार्य वल्लभ के पुरखों का निवास-ग्राम कृष्णा-गोदावरी प्रांत का काकरवाडा कहा जाता है, तो भी उस प्रांत में इस नाम का कोई गाँव नहीं मिलता। लेकिन आंध्र प्रांत के अनंतपुरम् जिले के रायदुर्ग तालुके में काकराडा नामक गाँव अब भी दीखता है। वह हंपी विजयनगर से नजदीक पड़ता है। प्राचीन काल में वैवाहिक संबंध समीप प्रांतवालों के बीच हुआ करते थे। अतः अनंतपुरम् जिले का काकराडा गाँव ही आचार्यजी के पूर्वजों का गाँव रहा होगा।)

में उन्होंने बैठक लगाकर भागवत का पारायण किया था।[१] आज भी वल्लभ-संप्रदाय के जो अनुयायी यात्री तिरुपति यात्रा पर जाते हैं तो वे वराहस्वामी के मंदिर के पास एक गुफा जैसे स्थान का दर्शन अवश्य करते हैं, जिसे वे श्री वल्लभ की बैठक का स्थान मानते हैं।[२] (लेकिन आज वहाँ कोई गुफा नही दीखती)।

आचार्य वल्लभ की तीन भू-प्रदक्षिणा यात्राओं का उल्लेख मिलता है। यह भी बताया जाता है कि उक्त तीनों यात्राओं में तिरुमल-तिरुपति में उनकी बैठकें लगीं और भागवत का पारायण भी हुआ। गोवर्धन पर श्रीनाथजी की प्रतिष्ठा आचार्यजी की दूसरी भू-प्रदक्षिणा के समय सन् १४९९ ई० में हुई। तीसरी यात्रा के समय सन् १५०९ ई० में विजयनगर पंडित-सभा में आचार्यजी को शास्त्रार्थ में विजय मिली और राजा नरसिहराय ने कनकाभिषेक करके उनका सम्मान किया।[३] आचार्यजी की प्रतिभा से प्रहृष्ट व प्रभावित होकर प्रसिद्ध माध्वमताचार्य श्रीव्यासरायजी ने उनसे माध्वमत के आचार्यत्व को स्वीकार करने का अनुरोध किया, किन्तु उन्हीं दिनों आचार्यप्रभु को लीलाशुक-बिल्वमंगल का स्वप्न-संदर्शन होकर विष्णुस्वामी संप्रदाय की उच्छिन्न गद्दी को प्राप्त करके शुद्धाद्वैत मत का प्रचार करने की प्रेरणा मिली।[४] आचार्यजी ने बिल्वमंगल की सलाह मानी और सन् १५१० ई० से शुद्धाद्वैत मत के प्रचार में दत्तचित्त हो गये। यद्यपि अड़ैल और चरनाट में उनके दो घर बसे तो भी वे प्रति वर्ष चातुर्मास्य के दिनों में व्रज की यात्रा करते थे और गोकुल-गोवर्धन में रहकर वहाँ के मंदिरों की श्रीवृद्धि में योग देते थे। मंदिरों की व्यवस्था, वहाँ की सेवा-प्रणाली, संकीर्तन सेवा में सूरदासजी जैसे भक्त कवियों की नियुक्ति आदि महत्वपूर्ण बातें श्री आचार्यजी की श्रद्धा और ममता के परिणाम-स्वरूप कार्यान्वित हुई और व्रजचौरासी यात्रा जैसे नवीन उत्सवों की परिपाटियाँ भी उन्ही की प्रेरणा से शुरू हुई। कहने की आवश्यकता नही कि आचार्यजी को अपनी भू-प्रदक्षिणा यात्राओं के समय दक्षिण के सभी प्रसिद्ध वैष्णव मंदिरों के सेवा-क्रम, उत्सव संप्रदाय, प्रबंधाध्ययन, रागभोग आदि का अच्छा परिचय मिला होगा और गोकुल-गोवर्धन के मंदिरों के सेवाक्रम आदि को नियत करने में उनको उपर्युक्त परिचय से बहुत कुछ लाभ भी हुआ होगा।

उस समय में तिरुमल-तिरुपति को वैष्णव-धर्म के प्रचार के लिए एक सुरक्षित दुर्ग-सा माना जाता था। कुछ समय पहले दक्षिण पर दो बार मुसलमानों की चढ़ाइयाँ हुई, जिनके कारण अहाबिलम्, कांची, श्रीरंगम् जैसे दक्षिण के सुप्रसिद्ध वैष्णवालयों में कितना ही रक्तपात हुआ। श्रीवेंकटेश्वरजी की कृपा से तिरुमल-तिरुपति के मंदिरों पर उन आततायियों की दृष्टि नहीं पड़ी और यहाँ वैसे अत्याचार व रक्तपात का कोई भीषण कांड कभी नहीं हुआ। उन आतंकमय दिनों में श्रीरंगम् के रंगनाथजी जैसों की मूर्तियो को तिरुमल के श्रीवेंकटेश्वर मंदिर में आश्रय मिला।[५] देवमूर्तियों के साथ दक्षिण के कई वैष्णव लोग भी उस समय यहाँ आ बसे थे और उनके साथ दक्षिण के मंदिरों के कई उत्सव संप्रदाय भी तिरुमल-तिरुपति के मंदिरों में प्रविष्ट हो गये। इनके द्वारा यहाँ के तेलुगु वालों में तमिल प्रबंधम् (आलवार भक्तों

---

१. आंध्र प्रभा, ता० १८-५-६६ : श्री जगन्नाथदास गोविंददास का लेख।

२. वही लेख।

३. पुष्टिमार्ग का इतिहास : श्री वसंतराय शास्त्री, पृ० १९।

४. संप्रदाय प्रदीप, प्रसंग ८७।

५. तिरुपति का इतिहास, भाग १ : श्री टी० के० टी० वोरराघवाचार्य, पृ० ५३४।

की नालायिर नामक वेद-तुल्य रचना) का प्रचार और विशिष्टाद्वैत श्रीवैष्णव धर्म का प्रचार होने लगा। फिर भी तिरुमल-तिरुपति के मंदिरों की विशिष्टता में कोई कमी नहीं आने पाई। यहाँ का मंत्रपुष्प अलग है, मूर्ति के अलंकरण व पुष्पाञ्जलि का क्रम अलग है और सहस्रनाम भी श्रीवेंकटेश्वर के अलग रचे गये हैं। उत्सवों में भी तेलुगु और तमिल दोनों संप्रदाय चलते हैं।

आचार्य वल्लभ के समय से कुछ दिन पहले जब चंद्रगिरि राज्य (तिरुमल-तिरुपति प्रांत) के स्थानिक शासक सालुव-वंशी राजा नरसिंहराय को विजयनगर साम्राज्य की गद्दी मिली (ई० १४८६-९१)[१], तब तिरुमल-तिरुपति क्षेत्र की उन्नति में एक नया अध्याय ही खुला। उस समय मंदिर में उत्सवों की संख्या बहुत बढ़ गयी। ब्रह्मोत्सव, वसंतोत्सव, मुक्कोटि, मागेलि जैसे पुराने उत्सवों के साथ तब उगादि, दिवाली, अयन, संक्रांति, उत्थान एकादशी व द्वादशी जैसे नये उत्सव शुरू किये गये। अन्न ऊंजल, डोला, नौका, आखेट जैसे उत्सव बड़े खर्च व वैभव के साथ मनाये जाने लगे। उत्सवों की शान बढ़ाने के लिए कई नये मंदिर, मंडप, गोपुर वगैरह का निर्माण किया गया। पुष्करिणी में वसंत-मंडप का निर्माण हुआ। रथोत्सव का नया क्रम जारी हुआ। मूलमूर्ति के साथ उत्सवमूर्ति और भोगमूर्ति के भी तिरुमंजन, तिरुकाशु, पुनुगुकापु जैसे (अभिषेक व अनुलेपन) उत्सव मनाये जाने लगे। प्रबंधपठन को अध्ययनोत्सव नाम से वर्ष में दो बार कई दिनों तक मनाने लगे। कैसिक पुराण और तिरुमेंगडम् माहात्म्य रचे गये। अलमेलमंगा देवीजी का शुक्रवार के दिन अभिषेक उत्सव मनाया जाने लगा। उन दिनों में होनेवाले उत्सवों की एक तालिका से यह पता चलता है कि साल में १५३ दिन उत्सव दिन माने जाते थे।

आचार्य वल्लभ के यात्रा-समय में विजयनगर में सालुव-वंशी राजाओं के शासन का अंत और तुलुवंशी राजाओं के शासन का आरंभ हुआ। उधर पूर्वान्ध्र में उत्कल के गजपतियों का राज्य चलता था। राजमहेंद्रवरम् में प्रतापरुद्र गजपति के प्रतिनिधि के रूप में राय रामानंद रहते थे। श्री चैतन्य प्रभु को इन्हीं के यहाँ कृष्णकर्णामृत और ब्रह्मसंहिता की तालपत्र प्रतियाँ मिलीं। उत्कल के गजपति राजा लोग बड़े कवि और कृष्णभक्त थे। पुरुषोत्तम गजपति (ई० १४६८-९७) ने अभिनव गीतगोविंद, नाममालिका, गोपालचरितामृत जैसे ग्रंथ रचे। प्रतापरुद्र गजपति (ई० १४९७-१५३८) के दरबार में भक्ति-भागवत के कवि जीवदेवाचार्य और जगन्नाथवल्लभ नाटक के रचयिता राय रामानंद रहते थे। उड़िया भाषा में भागवत पुराण की रचना भी उसी समय हुई। उसके कवि जगन्नाथदासजी श्री चैतन्य प्रभु के आप्त मित्रों में एक थे। कहा जाता है कि श्रीवल्लभाचार्य जी और श्रीचैतन्य स्वामीजी की पुरी श्रीजगन्नाथ में भेंट हुई। इन सभी बातों से यही मालूम पड़ता है कि आचार्य वल्लभजी को अपने यात्रा-काल में देश के, विशेषकर दक्षिण के सभी वैष्णव व भक्ति संप्रदायों का निकट परिचय मिला, जिसका थोड़ा बहुत प्रभाव शुद्धाद्वैत सिद्धांत, पुष्टि-मार्ग भक्ति एवं सेवा-क्रम पर अवश्य पड़ा होगा।

विष्णुस्वामी और लीलाशुक बिल्वमंगल का प्रभाव वल्लभ-संप्रदाय की बालकृष्ण, गोपालकृष्ण व गोपीकृष्ण उपासना अथवा भक्ति पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। विशिष्टाद्वैत को आलवार प्रबंधम् और अन्नमाचार्य पदावली से, माध्व वैष्णव-संप्रदाय को कन्नड़ के दासकूट भक्तों के पदों से और चैतन्य-मत को सहजिया पद-साहित्य से सिद्धांत प्रचार एवं भक्ति प्रचार में जैसी सहायता मिल रही थी, वैसी सहायता

---

१. आंध्र विज्ञान सर्वस्व ३, पृ० २७६।

सूरदास जैसे भक्त-कवियों की रचनाओं से शुद्धाद्वैत एवं पुष्टिमार्ग को भी प्राप्त हुई। वल्लभ-संप्रदाय के मंदिरों में विविध जयंतियों, विलास-विहारों के उत्सवों की जो प्रथा चल पड़ी; उस पर दक्षिण के वैष्णव मंदिरों के उत्सव संप्रदायों की सुस्पष्ट छाप मिलती है। मंदिर में भगवान् की विविध झाँकियों की जो प्रणाली नियत हुई, उसमें भी ऐसा अनुकरण मिलता है। उस समय तिरुमल-तिरुपति के श्रीवेंकटेश्वर मंदिर में प्रतिदिन निम्न-लिखित झाँकियाँ होती थीं : सवेरे सुप्रभात या जगाना, ग्वाल, नवनीत, बालभोग, फिर अभिषेक, अलंकरण, अर्चा, दरबार, आरती व राजभोग; बाद में सर्वदर्शन, दूसरी अर्चा, सायंकाल पूजा, रात में एकांतसेवा, पर्यंक, तिरुवीस, लोरी और सुलाना। कहने की जरूरत नहीं कि वल्लभ-संप्रदाय के मंदिरों में भी इनमें से कोई-कोई झाँकियाँ ठीक वैसे ही मिलती हैं। इस संदर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य है कि आचार्य प्रभु के समय तक ब्रजभूमि में भी (वृन्दावन आदि जगहों में) रामानुज-संप्रदाय के मंदिर बन चुके थे और दाक्षिणात्य संप्रदाय के अनुसार वहाँ के सेवा व उत्सव-क्रम चलते थे। चैतन्य-संप्रदाय का प्रभाव भी बाद में वृन्दावन में फैला, किंतु पहले से भी स्वामिनी, सखीभाव जैसी बातों में वल्लभाचार्य और चैतन्य स्वामी में हृदय-साम्य दीखता आया है।

चैतन्य प्रभु को अपने यात्रा-काल में आंध्र प्रांत में ही कृष्णकर्णामृत एवं ब्रह्मसंहिता की प्रतियाँ मिलीं। चैतन्य प्रभु और राय रामानंद की भेंट राजमहेंद्रवरम् में हुई और राधा-तत्व की चर्चा भी हुई। तब तक उस प्रांत के तेलुगु कवि एल्लनार्य राधा-माधव काव्य रचकर 'राधामाधव कवि' उपनाम पा चुके थे। कर्णामृत का चैतन्य-संप्रदाय में विशेष प्रचार हुआ। सन् १५११ ई० से चैतन्य-संप्रदाय का प्रचार वृन्दावन में भी होने लगा और बाद मे वहाँ के लीला-नाटकों पर भी कर्णामृत के रासाष्टक वगैरह का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। कहते हैं कि वृन्दावन में लीला-नाटकों की परंपरा को शुरू करने का श्रेय आचार्य वल्लभ को ही है। कुछ लोग यह श्रेय नारायण भट्ट को देते हैं। जो हो, ब्रज में ये दोनों एक काल में रहे और दोनों को दक्षिण के, तत्रापि आंध्र के लीला-नाटकों का खूब परिचय था।

संप्रदाय ग्रंथों के अनुसार श्री वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी संप्रदाय का प्रचार करने का प्रोत्साहन लीलाशुक बिल्वमंगल से ही (स्वप्न में) मिला। चैतन्य-संप्रदाय को भी विष्णुस्वामी का उपसंप्रदाय कहा गया है।[1] श्री वल्लभ और श्री चैतन्य की भेंट भी प्रसिद्ध है। श्रीजगन्नाथ एवं पुरुषोत्तम के दरबार में श्री वल्लभाचार्य का अभिगमन भी हुआ। जिस तरह बिल्वमंगल कहते हैं कि :

बृन्दावन-द्रुम-तलेषु गवांगनेषु वेदावसान समयेषु च दृश्यते यत्।
तद् वेणु-वादन-परं शिखि-पिच्छ-मौलि ब्रह्मं स्मरामि कमलेक्षणमभ्रनीलम्॥

—कृष्णकर्णामृत, २-२१

उसी तरह श्री वल्लभाचार्यजी भी पुरुषोत्तम के दरबार में कह गये कि :

एकं शास्त्रं देवकीपुत्र गीतं, एको देवो देवकीपुत्र एव।
मंत्रोप्येक स्तस्य नामानि यानि, कर्मप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥[2]

---

१. संप्रदाय प्रदीप, पृ० ७५, ६७।
२. सूरदास का काव्य-वैभव : डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' : पृ० १६।

दार्शनिक सिद्धांत की दृष्टि से यह कहना कठिन है कि विष्णुस्वामी का श्री वल्लभ प्रभु पर कितना प्रभाव पड़ा, लेकिन साधना-पक्ष में लीलाशुक बिल्वमंगल की रचना कृष्ण-कर्णामृत का उन पर गहरा प्रभाव दीखता है। आचार्यजी के मधुराष्टक तो निम्नांकित कृष्णकर्णामृत श्लोक का विपुलीकरण ही है :

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोः मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधुगंधि मृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्॥

—कृष्णकर्णामृत, १-९१

शुद्धाद्वैत का रसरूप परब्रह्म कृष्ण लीलाशुक के मधुराद्वैत परब्रह्म में पहले दीखता है :

अतिभूमि मभूमि मेव वा वचसां वासित वल्लवीस्तनम्।
मनसामपरं रसायनं मधुराद्वैत मुपास्महेमहः॥

—कृष्णकर्णामृत, ३-३८

श्री वल्लभाचार्य के स्वामी-स्वामिनी और सखा-सखीवाले रूपद्वंद्व या भावद्वंद्व की मान्यता के बीज भी हमें कृष्णकर्णामृत में मिलते हैं :

लालावेणुरवामृतैकरसिकां लावण्य लक्ष्मीमयीं।
बालां बाल तमाल नील वपुषं वंदे परां देवताम्॥

—कृष्णकर्णामृत, ३-६६

कृष्णकर्णामृत में चंद्रावली जैसी अन्य सखी-सहचरी गोपियों के प्रेम का भी वर्णन मिलता है :

राधा मोहन मंदिरादुपगतः चंद्रावलीमूचिवान्
राधे क्षेमयेऽस्ति, तस्य वचनं श्रुत्वाह चंद्रावली।
कंस क्षेममये विमुग्धहृदये, कंसः क्व दृष्टस्त्वया
राधा क्वेति विलज्जितो नतमुखः स्मेरे हरिः पातु वः॥

—कृष्णकर्णामृत, ३-१०६

भारती और भारतेन्दु

डॉ० चन्द्रकान्त मुदालियर
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०

सन् १७५७ से १८५७ ई० तक के कंपनी शासन के कारण भारतीय जनता में पाश्चात्य संस्कृति व सभ्यता की ओर आकर्षण बना रहा। भारत के लोगों के मन में एक तरह की हीनता की भावना घर कर बैठी थी। जनता अंग्रेजों से विमुक्त होना चाहती थी, लेकिन अंग्रेजीपन से नहीं। यह बात जितनी विलक्षण थी, उतना ही उसका हल करना भी कठिन था।

ऐसे वातावरण में जनता को जगाने और ठीक रास्ते पर लाने के लिए महापुरुषों की आवश्यकता पड़ी। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में हुए इन महापुरुषों का जन्म एक प्रकार से समकालीन रहा। बंगाल में राजा राममोहन राय का जन्म सन् १७७४ में हुआ तो रामलिंगस्वामी तमिलनाडु में सन् १८२३ में जन्मे थे। धार्मिक जागृति लाने और सामाजिक पुनरुत्थान में इन दोनों का बड़ा हाथ रहा। ठीक इसी समय (सन् १८२४ में) गुजरात ने दयानंद सरस्वती को जन्म दिया और बंगाल ने श्री रामकृष्ण परमहंस (सन् १८३६ में) को। इन महापुरुषों द्वारा स्थापित प्रार्थना-समाज, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज आदि संस्थाएँ नये समाज के निर्माण के प्रयत्न में आज तक लगी हुई हैं।

धार्मिक एवं सामाजिक जागरण के साथ-साथ महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आंदोलन के कारण लोगों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई। लोग भाषा, साहित्य और कला के विकास की ओर ध्यान देने लगे।

इन महापुरुषों के क्रम में दो और साहित्यिक महर्षि पैदा हुए : एक उत्तर-भारत में और दूसरे दक्षिण में। ये हैं भारतेन्दु और भारती। भारतेन्दु का जन्म सन् १८४८ में हुआ और भारती का जन्म सन् १८८२ में। इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत निबंध का विवेच्य है।

भारतेन्दु का जन्म

भारतीय साहित्य में सेठ अमीचन्द एक मुख्य व्यक्ति माने गये हैं। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन-काल में सेठ अमीचन्द का बड़ा नाम था। अमीचन्द की वंश-परंपरा में श्री गोपालचन्द के पुत्र के रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जन्म लिया था। गोपालचन्द में काव्य-प्रतिभा प्रचुर मात्रा में थी। बचपन से ही उनमें कविता करने की प्रवृत्ति रही। अपने पिता जी से निरन्तर प्रोत्साहन और आशीर्वाद पाने का सौभाग्य भी इनको मिला। काशी की जनता ने इनको 'भारतेन्दु' की उपाधि से अलंकृत किया। केवल ३५ वर्ष की आयु में ही भारतेन्दु जी ने लगभग १२५ ग्रन्थों की रचना की।

एक नाटककार के रूप में इनको अत्यधिक ख्याति प्राप्त हुई है। इनके नाटकों में प्राचीन व

नवीन के संघर्ष की तीव्र प्रतिध्वनि है। इन्होंने दो प्रकार के नाटक लिखे : मौलिक व अनूदित। मौलिक नाटकों में "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति", "चन्द्रावली", "भारत-दुर्दशा", "नीलदेवी", "अंधेर-नगरी" आदि हैं। इन नाटकों में इन्होंने जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों से सामग्री ली है। "चन्द्रावली" में प्रेम का आदर्श, "नीलदेवी" में ऐतिहासिक वृत्त, "भारत दुर्दशा" में देश-दशा का चित्रण है। उनके अनूदित नाटकों में "विद्या सुन्दर", "धनंजय विजय", "मुद्राराक्षस" और "भारत जननी" आदि है।

भारतेन्दु ने अपने को अन्य भाषाओं के ज्ञान से भी विपश्चित बनाया। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी के अतिरिक्त गुजराती, मराठी और बँगला आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया।

भारतेन्दु को हिन्दी गद्य का जन्मदाता कहा जाता है। हिन्दी गद्य में भावावेश से परिपूर्ण भावात्मक शैली के दर्शन सर्वप्रथम भारतेन्दु की रचनाओं में ही होते हैं। उन्होंने हिन्दी गद्य को संस्कृत की क्लिष्ट एवं बोझिल शैली से मुक्त किया। (भारती ने भी "मणिप्रवालम्" शैली से तमिल को विमुक्त किया।) लोगों में राष्ट्रीय चेतना लाने में इनका योगदान रहा।

महाकवि सुब्रह्मण्य भारती का जन्म

महाकवि भारती का जन्म तमिलनाडु में सन् १८८२ में हुआ। भारतेन्दु की तरह ये भी बचपन में ही माता को खो बैठे। इनकी काव्य-प्रतिभा की झलक बचपन में ही दिखायी पड़ी। सन् १८९८ मे काशी गये और वहाँ रहकर संस्कृत का अध्ययन किया। काशी में रहकर विद्याभ्यास करते समय भारतेन्दु नाम से वे परिचित हुए।

भारतीय जनता को उनका महत्व बताकर उनमें राष्ट्रप्रेम और भाषाप्रेम जगाने मे ये भारतेन्दु से आगे थे। भारतेन्दु ने उस समय घोषणा की कि :

'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल।'

इधर भारती ने अपनी मातृभाषा का यशोगान करते हुए कहा : "हमारी ज्ञात भाषाओं में तमिल जैसी मीठी भाषा हमे और कही नही मिली। कंबर, वल्लुवर और इलंगो जैसे कवि भी हमारी नज़र में नही आये।"

हिन्दी के गद्य क्षेत्र में भारतेन्दु का जितना योगदान रहा, उतना भारती का तमिल के काव्य-जगत् में भी रहा। लोगों में राष्ट्रप्रेम जगाने में भारती को जितनी सफलता मिली, उतनी शायद ही और किसी को मिल सकती है। इनकी काव्य-भाषा रक्त की भाषा थी और जनता के भावों के साथ खेलती थी। भावात्मक और बौद्धिक स्तर पर लोगों की धारणाओं में विकासोन्मुख परिवर्तन लाने का अनुपम क्षमता इस राष्ट्रकवि में छिपी हुई थी।

ये सामाजिक पुनरुत्थान में किसी से पीछे नही रहे। सामाजिक कुप्रथाओं का इन्होंने खुलकर खण्डन किया।

भारतेन्दु के समान कवि भारती भी अधिक समय तक जीवित नहीं रहे, लेकिन इस अल्प आयु में समाज के सभी क्षेत्रों में प्रविष्ट होकर एक उच्च श्रेणी के सामाजिक नेता होकर दिवंगत हुए। नारी-जागरण एवं नारी-स्वातंत्र्य हेतु किये गये उनके प्रयास श्लाघ्य हैं। नारी को शिक्षा से वंचित करना और उनको समान अधिकार देने से इनकार करना—ये दोनों बातें भारती की दृष्टि में पाप हैं। छुआछूत का खंडन करते

हुए जब उन्होंने अपने विचार निडर होकर प्रकट किये, तब स्वयं इनके कुल के लोग इनसे घृणा करने लगे। लेकिन भारती ने कभी इसकी परवाह नहीं की; क्योंकि उनका उद्देश्य पवित्र था।

भारतेन्दु के समान ये भी बहुभाषा विज्ञ थे। वे तमिल के अतिरिक्त अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी, फ्रेंच आदि भाषाएँ जानते थे।

आत्म-परिचय देते हुए भारतेन्दु ने लिखा है :

"सेवक गुनीजन के चाकर चतुर के हैं,
कबिन के मीत चित हित गुनगानी के।
सीधेन सौं सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सौं,
हरिश्चन्द्र नगद दमाद अभिमानी के॥
चाहिबे की चाह काहू की न परवाह,
नेही नेह के दिवाने सदा सूरत निवामी के।
सरबस रसिक के सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा-रानी के॥"

महाकवि भारती की प्रतिज्ञा में हमें उनकी स्वसंस्कृति-निष्ठा, स्वभाषा-प्रेम का पूर्ण परिचय मिलता है और सच्ची भारतीय आत्मा के दर्शन होते हैं :

(१) जहाँ तक हो सके तमिल में ही बोलूँगा और लिखूँगा और उसी में सोचूँगा। मैं सदा परा-शक्ति का ध्यान करूँगा और उनके बारे में लिखूँगा।

(२) समय का पूर्णतया सदुपयोग करूँगा।

(३) आत्मप्रशंसा नही करूँगा।

(४) अज्ञानियों के मन में सम्मान पाने की चेष्टा करूँगा।

(५) झूठ, धोखा और खुशामद आदि द्वारा धनोपार्जन नहीं करूँगा।

(६) सतत् परिश्रम के द्वारा सांसारिक आपदाओं को पाऊँगा। सांसारिक संपदा न प्राप्त होने पर भी 'ईश्वर की इच्छा' मानकर सन्तुष्ट हो जाऊँगा।

(७) सदा प्रसन्न मुख, मधुर भाषण और स्पष्ट हृदय के साथ रहूँगा।

इस प्रकार महाकवि भारती राष्ट्रकवि, समाज-सुधारक, सच्चे देशभक्त और लेखक आदि कई रूपों में प्रसिद्ध हुए। सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्रों में तमिलनाडु के विकास के मूल में महा-कवि भारती का बड़ा हाथ है। जिस प्रकार हिन्दी जनता भारतेन्दु के प्रति कृतज्ञ है और उनके काव्यों से प्रेरणा प्राप्त करती है, उसी प्रकार तमिलनाडु के आबाल-वृद्ध नर-नारी महाकवि सुब्रह्मण्य भारती के काव्यों और रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। तमिलनाडु में आज उपलब्ध जन-जागरण का मूल कारण महाकवि सुब्रह्मण्य भारती ही हैं।

प्रेम-भक्ति के वातायन से कबीर

डॉ० कुसुम श्रीवास्तव
एम० ए०, पी-एच० डी०

भक्ति मूलतः उदात्तीकृत प्रेम है। इस प्रेम को स्त्री-पुरुष के सन्दर्भ में शृंगार तथा अन्य विभिन्न संदर्भों में वात्सल्य, स्नेह आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। यही प्रेम जब चिन्मुख होकर परमात्मा के प्रति होता है, तब भक्ति की संज्ञा पाता है। अध्यात्म के क्षेत्र में मात्र प्रेम को आधार बना कर भक्तों, आचार्यों ने भक्ति को एक नया आयाम दिया है। उसे परम प्रेमरूपा, अनुरक्ति की पराकाष्ठा कहा गया है तथा समस्त विधि निषेधों से परे माना है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में कबीर निर्गुण धारा के प्रतिनिधि कवि कहे जाते हैं। यह स्पष्ट है कि भक्ति व्यक्ति-परक है और ज्ञान विचार-परक। जब ब्रह्म निर्गुण और निराकार है तो उसकी उपासना ज्ञान से ही संभव है, भक्ति से नहीं; किन्तु कबीर की साधना की यह विशेषता है कि उन्होंने निर्गुण और निराकार की उपासना ज्ञान से उतनी नहीं की, जितनी भक्ति से की है। निराकार परमात्मा को भक्ति ग्राह्य बनाने के लिये उन्होंने प्रतीकों और रूपकों का आश्रय ग्रहण किया है। इससे निराकार ब्रह्म भी माता, पिता, राजा, स्वामी, पति आदि के स्पष्ट व्यक्तित्व से समन्वित होकर भक्ति के क्षेत्र में आ जाता है। कबीर ने इस भक्ति को सम्पूर्ण रूप से प्रेम के अन्तर्गत ही माना है और इस प्रकार निराकार ब्रह्म को प्रेम के माध्यम से सर्वसुलभ बना दिया है।

शास्त्रीय दृष्टि से वैधी-भक्ति वह धारा है, जो अपने दोनों किनारों से बंधी रहती है और प्रेम-भक्ति वह बाढ़ है, जो अपने दोनों किनारों का बन्धन तो मानती ही नहीं; वरन् सामने जो कुछ पड़ जाता है, उसे भी बहा ले जाती है। कबीर की भक्ति ऐसी ही है; इसमें निर्गुण, सगुण, ज्ञान और वैराग्य सभी भगवत्प्रेम में पर्यवसित हो गए हैं। भगवत्प्रेम ही उनका साधन है और वही उनका साध्य।

कबीर एक भावुक भक्त हैं। उन्होंने प्रेम-भक्ति का शास्त्रीय स्तर पर प्रतिपादन नहीं किया है और न वे शास्त्रीय ज्ञान से परिचित ही रहे होंगे; अतः उनकी प्रेम-भक्ति के अध्ययन में हमें भाव विकास की क्रमिक अवस्था, प्रेम के भेद-प्रभेद अथवा स्तर आदि की कोई क्रमबद्ध सरणि ढूँढ़ने का प्रयास नहीं करना चाहिये। प्रेम-भक्ति का आधार भगवत्प्रेम की सान्द्रता है और वह कबीर की वाणी में परिव्याप्त है।

परम प्रेम, रूपाआलोकमयी

कबीर की भक्ति नारदीय भक्ति के समान परम प्रेमरूपा है। समस्त संशयों का उच्छेद कर के हृदय को आलोकित करने वाली है :

पंजरि प्रेम प्रकासिया, जागी जोति अनंत।
संसे छूटा सुख भया, मिला पियारा कंत॥

अमृत-स्वरूपा

प्रेम-भक्ति भक्त का भगवान् के प्रति सर्वथा ध्वंस रहित प्रेम है। यह अविचल प्रेम भक्त को भगवान् से संयुक्त कर देता है। यह अटल संयोग ही अमृतत्व है। कबीर भी राम से तादात्म्य स्थापित कर चुके हैं, उनके लिये मृत्यु का भय कहाँ? संसार को मरणशील बताकर अपने को मृत्यु की पहुँच से परे मानने का जो स्वर कबीर में है, उसमें उनकी अहंमन्यता नहीं है; वरन् एक प्रेमी भक्त का भगवान् के साथ अपने अटल संयोग का अगाध विश्वास है:

हम न मरें मरिहै संसारा।
हमका मिला जिआवन हारा॥
हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं।
हरि न मरें हम काहे को मरिहैं॥

नान्यास्पृहा

भक्त इस अमृतत्व की अनुभूति तभी कर सकता है, जब उसने अपने हृदय को भगवत्प्रेम के अतिरिक्त अन्य सभी अभिलाषाओं से शून्य बना लिया हो। इसे ही नारद पाँच रात्र में 'अनन्य ममता विष्णौ ममता' तथा भक्ति रसामृत सिन्धु में 'अन्याभिलषिता शून्यं' कहा गया है। भक्त कबीर भी यही अनुभव करते हैं कि जब तक लोकेषणा, फलकामना का सम्पूर्ण त्याग नहीं हो जाता, तब तक प्रेम-भक्ति का अनुभव नहीं किया जा सकता:

जब लगि भगति सकाम है, तब लगि निरफल सेव।
कहै कबीर वह क्यों मिले, निहकामी निजदेव॥

कबीर की समस्त आशाओं-आकांक्षाओं के केन्द्र राम हैं। सांसारिक सुख उन्हें स्पर्श नही कर पाते। सागर की अगाध जलराशि के बीच भी सीपी अपना सम्पुट नहीं खोलती, उसे तो केवल स्वाति की एक बूँद चाहिये:

आसा एक जू राम की, दूजी आस निरास।
जैसे सीप समंद में, नहीं स्वाति बिन प्यास॥

चित्तद्रवी वृत्ति

श्री मधुसूदन सरस्वती ने द्रवीभूत चित्त की भगवान् सर्वेश्वर के प्रति धारावाहिक वृत्ति को प्रेम-भक्ति कहा है। कबीर भी भगवान् के प्रति द्रवीभूत चित्तवृत्ति का प्रतिक्षण अनुभव करते हुए भक्ति रस के आस्वादन में मगन हो जाते हैं। 'कँवल कुवाँ' में स्थित प्रेम रस को कबीर सुरति की ढेंकुली बना कर प्रेम की रस्सी से खींच लेते हैं और उसका पान करते हुए आत्मविभोर हो उठते हैं:

सुरति ढोकुली लेज लौं मन नित ढोलनहार।
कँवल कुवाँ में प्रेम रस पीवत बारम्बार॥

और

जो जन भाउ भगति कछु जानें ताको अचरजु काहो।
जैसे जल जलहीं ढुरि मिलिओ त्यों ढुरि मिलयो जुलाहो॥

निरतिशय आनंददायिनी

आनंदमयता भक्ति का परम गुण है। इसका माधुर्य अकथ्य है, इसीलिये नारद से इसे 'मूका-स्वादनवत्' कहा है। इसकी अभिव्यंजना में कबीर की वाणी भी मूक हो उठी है :

अकथ कहानी प्रेम की कछु कहीं न जाइ।
गूंगे केरी सरकरा बैठे मुसकाइ॥

षट्गुणमयी

प्रेम-भक्ति को आचार्यों ने षट्गुणमयी कहा है :

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत सुदुर्लभा।
सान्द्र विशेषात्मा श्री कृष्णाकर्षिणी च सा॥

प्रेमी भक्त कबीर की वाणी में यद्यपि इन छः गुणों का कोई क्रमबद्ध वर्णन नहीं मिलता, तथापि उसमें इन सभी गुणों का स्वाभाविक विकास मिलता है।

क्लेशघ्नी

भक्ति का क्लेशघ्नी स्वभाव समस्त क्लेशों का निवारण करता है। शास्त्रों में प्रसिद्ध क्लेश हैं : अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश। इनकी सामूहिक संज्ञा है माया। कबीर के शब्दों में भक्ति ही एक ऐसी अद्भुत जड़ी है, जिसे सूँघते ही क्लेशकारिणी माया नष्ट हो जाती है :

हमारे गुरु दीन्हीं अजब जरी।
पाँचो नाग पचीसों नागिनी सूँघत तुरत मरी॥

शुभदा

भगवान् से विमुख करने वाले विषयों में वितृष्णा और भगवद् विषय में अनुरक्ति—अनुकूलता, कृपा, सत्य, सरलता, समता, धैर्य, गांभीर्य, मानवत्व, अमानित्व आदि सद्गुण शुभ हैं। भक्ति इन गुणों की प्रदाता है इसलिए शुभ है। ये सभी सद्गुण सदाचरण के आधारभूत तत्व हैं। कबीर की वाणी में आचार-प्रवण रूढ़ि बहुल धर्म के स्थान पर सत्य की लौ, सत्याचरण, समदृष्टि, सहिष्णुता, निरभिमानिता का जो उत्कर्षमय संदेश मिलता है; उसका उत्स प्रेम-भक्ति का 'शुभदा' स्वभाव ही है।

मोक्षलघुताकृत

भक्ति का आनन्द मुक्ति से बड़ा है, इसीलिये साधारणतः जिन्हें पुरुषार्थ कहा जाता है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—वे भक्ति के लिये कोई महत्व नहीं रखते। परम पुरुषार्थ मोक्ष उनके लिये नगण्य है। कबीर ने इसे बड़े सशक्त ढंग से द्विधाहीन भाषा में कहा है :

राम मोहि तारि कहाँ लै जइ हौं।
सो बैकुंठ कहौ धौं कैसा करि पसाउ मोहिं दइहौ॥
जउ तुम मोकों दूरि करत हौ तो मोहिं मुकुति बतावहु।
एकमेक रमि रह्यो सभनि में तौ काहे भरमावहु॥

सुदुर्लभा

प्रेम साधना का यह मार्ग असि-धारा मार्ग है। पल-पल में विचलित होने वाला अधीर साधक प्रकम्पित पग से जब इस पथ पर बढ़ता है, तब वह कट कर गिर पड़ता है; अविचल साधक पार उतर जाता है :

भगति दुहेली राम की, जस खंडे की धार।
जो डोलै सो कटि पड़े, निहचल उतरै पार॥

सान्द्र विशेषात्मा

प्रेम-भक्ति भगवत्प्रेम का सान्द्र रूप है। इस प्रगाढ़ प्रेम में समस्त साधनों की समाप्ति हो जाती है। भक्त ही भगवन्मय नही होता, भगवान् भी भक्तमय हो जाते हैं। यह मिलनानुभूति उन्हें एक निराले रंग में रंग देती है :

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ।
राम सनेही यूँ मिले, दोनउँ बरन गँवाइ॥

कृष्णाकर्षिणी

'कृष्ण' शब्द व्यापक अर्थ में परमात्मा का वाचक है, केवल कृष्णावतार तक सीमित नहीं है। भक्ति का यह गुण भगवान् को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। तीव्र प्रेम की चुम्बकीय शक्ति से भगवान् स्वयं भक्त के निकट खिंच आते हैं :

कबीर भया है केतकी, भँवर भए सब दास।
जहँ-जहँ भगति कबीर की, तहँ-तहँ राम निवास॥

कबीर की प्रेम भक्ति रूप का अरूप के प्रति पूर्ण समर्पण है। ससीम और असीम का वह प्रेममय मिलन है, जहाँ बूंद अपने को समुद्र में खो देती है और समुद्र बूंद में खो जाता है :

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
बूँद समानी समुद्र में सो कत हेरी जाइ॥

यह प्रेमानुभूति की पराकाष्ठा है, पूर्ण एकत्व की स्थिति है। इसे दर्शन की किसी विशिष्ट संज्ञा—अद्वैत, केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैतादि द्वारा अभिहित करना कठिन है और अपर्याप्त भी। इस रसात्मक अनुभूति में भक्त और भगवान् भिन्न हैं अथवा अभिन्न, यह कहना कठिन है। भगवत रसिक के शब्दों में :

नाँही द्वैताद्वैत हरि, नाहिं विशिष्टाद्वैत।
बँधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छाद्वैत॥

यह प्रेम-भक्ति की चरम अवस्था है। पूर्ण निष्ठा, अगाध विश्वास और निष्कम्प दीप-शिखा की भाँति ज्योतिर्मयी चित्त की एकतानवृत्ति के सहारे बढ़ते हुए भक्त कबीर परम प्रेयान् के लिए अपार आकुलता का अनुभव करते हैं। उनके विरहाकुल नयन उस अरूप प्रियतम की अनन्त प्रतीक्षा में पथरा-से जाते हैं, उसका नाम पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ जाते हैं। प्रेमी भक्त की विरहिणी आत्मा वधू अपने मन प्राण के सम्पूर्ण स्नेह को उँड़ेल कर प्राणों का दीप जलाती है, उस रूप नामातीत प्रियतम के पथ को सजाती है; तब कहीं आत्म-साक्षात्कार का अपूर्व सुख मिलता है :

इस तन का दीवा करौं, बाती मेलौं जीव।
लोही सीचौं तेल ज्यों, तब मुख देखों पीव॥

दिव्य प्रेम की उज्ज्वल जलधारा में आकण्ठ मग्न कबीर भगवान् के और भगवान् उनके हो जाते हैं। अविनाशी कंत से मिलन हो जाता है, साधना पूरी हो जाती है। भगवान् के प्रेममय स्वरूप की प्रेमानुभूति के अखण्ड आनंद के अनन्त विस्तार में डूबे कबीर की एकमात्र अनुभूति रह जाती है :

हरि रंग लागा हरि रंग लागा।
मेरे मन का संसय भागा॥
साँचे मन तैं साहिब नेरं, झूठे मन तैं भागा।
हरि जन हरि सों ऐसे मिलिआ, जैसे सोने संग सुहागा॥

तुलसी की विनय-पत्रिका में भक्ति के विविध भाव

डॉ० (श्रीमती) माधुरी मिश्र
एम० ए०, पी-एच० डी०

'विनय-पत्रिका' तुलसीदास की दूसरी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना है। तुलसीदास की भावनाओं का जितना सहज रूप हमें उनकी इस रचना में मिलता है, किसी अन्य रचना में नहीं मिलता। 'मानस' यदि उनकी साधना का आदर्श प्रस्तुत करता है, तो 'विनय-पत्रिका' उन आदर्शों की अपने जीवन में साधना। इसके अतिरिक्त भी 'विनय-पत्रिका' का महत्व उल्लेखनीय है। हिन्दी के ही नहीं कदाचित् विश्व के सर्वश्रेष्ठ आत्मनिवेदनात्मक साहित्य में 'विनय-पत्रिका' के अनेक गीतों की गणना होगी।

तुलसीदास की रामभक्ति के स्वरूप पर जब हम विचार करते हैं तो स्पष्ट देखते हैं कि वह मानवता की एक महान् कल्पना पर आधृत है। यही कारण है कि उनके पात्र पहले मानव हैं और फिर राम-भक्त हैं। इस विषय में वे कृष्ण-भक्त कवियों से ही नहीं, अग्रदासादि राम-भक्ति की मधुर-धारा के कवियों से भी बहुत पृथक् हैं। इस संदर्भ में यदि उनकी तुलना की जा सकती है तो कबीर आदि निर्गुण उपासक भक्तों से। किन्तु एक बात में वे उनसे भी भिन्न हैं, निर्गुण धारा के भक्त अपनी भक्ति की निष्पत्ति के लिये हठयोग का आश्रय लेते हैं, ज्ञान का आश्रय लेते हैं और मुक्ति की कल्पना करते हैं। तुलसीदास का साधन-साध्य सभी कुछ राम-भक्ति है। वह निष्केवल प्रेम है और वह प्रेम जिस राम से करने का वे उपदेश करते हैं, वे राम हैं मानवता के सबसे बड़े प्रतीक। इसलिये तुलसीदास की राम-भक्ति निरी आध्यात्मिक साधना ही नहीं, वह उतना ही एक नीतिमूलक जीवन-दर्शन भी है।

जीव और ब्रह्म की अपेक्षा तुलसी का मायाविचार ही अधिक गूढ़ होकर सामने आता है। 'विनय-पत्रिका' के इस पद को देखिये, जिसमें तुलसीदास ने सत्य, असत्य और दोनों की ही प्रबलता से पृथक् रहकर आत्मतत्त्व में लीन होने का उपदेश दिया है :

'केसव कहि न जाइ का कहिए ?
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए ॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥' ––विनय-पत्रिका, पद १११

आत्मतत्त्व में लीन होने का यह उपदेश तो संगत है, परन्तु देखना यह चाहिए कि इन तीनों में से तुलसीदास किसको मुख्य समझते थे ? तुलसीदास अपनी स्थिति को स्वयं ही स्पष्ट कर देते हैं :

'हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी।'

—विनय-पत्रिका, पद १२०

वस्तुतः यह प्रपंच तो मृषा है, किन्तु जो तापों का अनुभव हमें प्रतिक्षण हो रहा है, वह कैसे नष्ट हो? इस विषय में तुलसीदास का निष्कर्ष है :

'तुलसिदास सब विधि प्रपंच जग जदपि झूठ स्रुति गावे।
रघुपति भगति संत संगति बिनु को भवत्रास नसावै॥'

—विनय-पत्रिका, पद १२१

यदि तत्वदृष्टि से देखा जाए तो इसमें तुलसीदास ने अपने पक्ष को स्पष्ट करके रख दिया है।' 'जदपि झूठ स्रुति गावै' से स्पष्ट है कि तुलसीदास परमार्थतः विधिप्रपंच अथवा संसार को झूठ ही मानते हैं, परन्तु वह उसकी मीमांसा में मग्न नही होते। कारण यह है कि उसकी मीमांसा से भ्रम दूर नही होता। अतः इस भव-जाल से मुक्त होने का मार्ग राम की भक्ति और संत की संगति से ही है।

यह संसार चित्त का विलास है तो इसका सच्चा स्वरूप भी उसी चित्त में भासित होता है, जो राम की भक्ति से स्वच्छ, निर्मल और प्रसन्न हो चुका है।

अब हमें यह जानना है कि तुलसीदास ने जिस रामभजन को राजमार्ग कहा है, वस्तुतः वह है क्या? रामभजन को लेकर जो कबीर आदि निर्गुण संत चले थे, वह राजमार्ग नहीं था, अपितु वह 'कल्पहिं पंथ अनेक' का ही परिचायक था और 'श्रुतिसम्मत' भी नहीं था। तुलसीदास ने जिस रामभजन को लिया है, वह सबका जाना-समझा और मनभाया हुआ है। तुलसीदास का परम आदेश तो यह है :

'स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयनन निरखि कृपा समुद्र हरि अंग जग रूप भूप सीताबरु॥
इहै भगति बैराग्य ग्यान यह हरि तोषन यह सुभ ब्रत आचरु॥
तुलसिदास सिव मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुं नाहिन डरु॥'

—विनय-पत्रिका, पद २०५

यहाँ पर तुलसीदास का शिवप्रतिपादित, कल्याणकारी राजमार्ग हमारे सम्मुख आ जाता है। मूर्तिपूजा के विषय में तुलसी का मत है :

'मन, इतनोई या तन को परम फलु।
सब अंग सुभग बिंदुमाधव छबि, तजि सुभाउ, अवलोकु एक पलु।'

—विनय-पत्रिका, पद ६३

तुलसीदास ने यहाँ इस बात का उल्लेख नहीं किया कि लोग किस प्रकार 'बिन्दुमाधव' की पूजा करते हैं। उनका ध्यान तो केवल इस पर रहा है कि 'बिन्दुमाधव' किस प्रकार किसी के हृदय में बस जाते हैं और उसकी बुद्धि उनके स्वरूप में रम जाती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि तुलसीदास मूर्ति-

पूजा को ठीक नहीं समझते। उनकी दृष्टि में मूर्तिपूजा की उपयोगिता है, किन्तु वह इसे कलियुग का प्रमुख साधन नहीं मानते और इसी से कहते भी हैं :

'कलियुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना।
सब भरोस तजि जो भजि रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि।
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥'

—मानस, उत्तर० १०३

'विग्रह' के रूप में तुलसीदास बिन्दुमाधव के भक्त थे और वे कहते हैं :

'तुलसिदास भवत्रास मिटै तब, जब मति इहि सरूप अटकै।
नाहिंन दीन मलीन हीन-मुख कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भटकै।'

'जब मति इहि सरूप अटकै' से प्रकट ही है कि तुलसीदास यहाँ स्वरूप में ही मति को लीन करना चाहते हैं, कुछ पूजा-विधान अथवा अर्चामात्र में नही। तुलसीदास के इस पद से इतना और भी विदित हो जाता है कि वे वास्तव में यति थे। कारण, यदि लोग ही इस विग्रह के प्रमुख उपासक हैं।

राम के स्वरूप को तुलसी ने बहुत सराहा है, परन्तु साधना के क्षेत्र में उन्होंने जो महत्व राम के नाम को दिया, वह उनके रूप को नहीं। तुलसीदास अन्तर्बाह्य दोनों को प्रकाशित करने के लिए राम-नाम को ही ठीक समझते हैं और संक्षेप में सहज भाव से कह जाते है :

'हिय निर्गुन नैनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहु पुरट सम्पुट लसत तुलसी ललित ललाम॥'

साधु-समाज के विषय में जब हम तुलसीदास के विचार जानने का प्रयत्न करते हैं, तो ज्ञात होता है कि उनके किसी भी ग्रंथ का अवलोकन करने पर हमें कही 'साधु', कही 'विप्र' और 'चरित' शब्द तो सर्वत्र ही मिलता है। तात्पर्य यह कि तुलसीदास ने 'चरित', 'विप्र' और 'संत' को ही सराहा है और इन्हीं के माध्यम से लोक तथा परलोक दोनों को ही साधा है। यह सत्य है कि तुलसीदास ने 'संत' को विशेष महत्व दिया है; किन्तु उसकी जो कसौटी उन्होने दी है, वह लोक से उदासीन आत्माभिमुख मनमौजी संत की नहीं है।

साधुओं के असंख्य गुण हैं, किन्तु यदि उनमें 'परहित' नही तो कुछ भी नहीं। इस विषय में राम की स्पष्ट वाणी है :

'परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई।
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउं तात जानहिं कोविद नर॥'

सारांश यह कि जिसमें लोकहित नहीं, वह साधु नहीं। अन्ततः मानना ही होगा कि तुलसी का साधु-मत वस्तुतः लोकहित का प्रतिपादक है, उसका विरोधी नही। राम-भक्ति की भूमिकाओं की समष्टि तुलसीदास ने प्रायः की है और इस प्रकार के समष्टिप्राय पदों के अतिरिक्त राम-भक्ति की कुछ अन्य भूमिकाओं को भी, जैसे—लोक-संग्रह-वृत्ति, वैराग्य-वृत्ति, तन्मयता तथा शुद्ध प्रेमासक्ति को भी यथेष्ट प्राधान्य मिला है।[1] अत्यन्त सुन्दरता के साथ भावाश्रित, कर्माश्रित तथा ज्ञानाश्रित भक्ति-मार्ग की प्रायः

---

१. विनय-पत्रिका, पद २०४, २०५, २६८, ८४।

समस्त प्रमुख भूमिकाएँ इन पदों में समाविष्ट हुई हैं। राम-भक्ति के लिए शिव-भक्ति एक स्वतंत्र भूमिका है और बिना शिव-कृपा के राम-भक्ति नहीं प्राप्त हो सकती।[1] तुलसीदास राम के नित्य रूप का ही ध्यान करते हैं। तुलसीदास के राम केवल अवतारी राम नहीं है, बल्कि उनकी एक नित्य लीला भी है और तुलसीदास इन्हीं राम का ध्यान करते हैं। भक्त होने के नाते स्वभावतः भक्ति को उन्होंने ज्ञान-विज्ञानादि सभी के ऊपर महत्व दिया है और उसी को साध्य भी माना है। फलतः यहाँ भी हम तुलसीदास के व्यक्तित्व की वह महानता स्पष्ट रूप से देखते हैं, जो अन्यत्र देखी है। जिस प्रकार राम साहित्य के इतिहास में उनका स्थान अमर है, उसी प्रकार उन्होंने राम-भक्ति के इतिहास में भी अपना अमिट स्थान बना लिया है। उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति ईश्वरीय या उच्च मानवता के गुणों का विकास और उसके प्रति प्रेम-भाव है। इसीलिये वे निर्गुण ब्रह्म का जप न कहकर राम-रूप सगुण ईश्वर की आराधना की बात कहते हैं। उनकी यह व्याख्या बहुत प्रगतिशील है।

राम के शील स्वभाव को हृदयंगम करना तुलसी की भक्ति या मानवता का मुख्य रूप है। अतः निश्चित है कि उनकी भक्ति जटिल, वैयक्तिक, ऐकान्तिक, एकांगी साधना न होकर सर्वांगीण सामाजिक जीवन का सुन्दर दर्शन है। उनके भक्ति-मार्ग का द्वार सबके लिये खुला है। भक्ति का अंकुर उग आने पर मनुष्य बुराई से दूर हो जाता है, जबकि अन्य मार्गों में, जिनमें अपनी साधना के सहारे का अहंवाद विद्यमान है, विकारग्रस्त हो जाने का भय सदैव रहता है। इस मार्ग में राम के गुणों का, सम-विषम परिस्थिति में उनके आचार का तथा उनकी कृपा का सदैव सहारा है, अतः मार्ग से भ्रमित होने का डर इसमें नहीं है। इस प्रकार भक्ति-मार्ग की सरलता और निश्चयता के द्वारा तुलसीदास लोगों के हृदयों में गहन आस्था एवं आस्तिकता भर सके, जिसके बिना निराशा के अंधकार में जीवन बोझिल हो जाता। उसी जीवन के प्रति आस्था को प्राप्त करने के लिए आज भी हम महात्मा तुलसीदास के पास जाते हैं और यही उनके युग-युग और जन-जन में प्रिय होने का रहस्य है।

●

---

१. विनय-पत्रिका, पद १०-२१।

तुलसी और ब्राह्मणवाद

डॉ० उदयभान मिश्र
एम० ए०, पी-एच० डी०

तुलसीदास जी ने ब्राह्मणों की बड़ी प्रशंसा की है, उनके माहात्म्य का बार-बार उल्लेख किया है। इतना लिखा है कि यदि कोई उन्हें पण्डे-पुजारियों का वकील कह बैठे, तो कोई आश्चर्य नहीं। भागवत धर्म की मानवतावादी धारा पर जाति-पाँति का बोलबाला फिर बुलन्द करना और उसे फिर वेदसम्मत बताकर निम्न वर्णों के मुँह बन्द करना, भक्तिगत समानता द्वारा सामाजिक समानता की भूलभुलैया में डालकर निम्न वर्णों के सम्पूर्ण अधिकार ब्राह्मण के हाथ में दे देना और स्वय भगवान् से इसका समर्थन करा देना; यही तो हमें 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' में विशेष रूप से मिलता है।

तुलसी मानते हैं कि जब समाज में वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है तो वह समाज निरन्तर दु ख पाने लगता है। जिस समाज मे वर्ण व्यवस्था पल्लवित और कुसुमित होती रहती है, उस समाज में सदा सुख की वर्षा होती रहती है। लोगों के पास भय, रोग और शोक भूल कर भी नही फटकता। 'कलियुग' में 'वर्ण-धर्म' छिन्न-भिन्न हो जाता है, किन्तु रामराज्य स्थापित होने पर उसकी तूती बोलने लगती है। इस प्रकार यह एकदम स्पष्ट है कि तुलसी वर्णाश्रमवादी थे।

तुलसी वर्ण को जन्मजात मानते हैं। मनुष्य जन्म से ही विप्र, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कुल में जन्म लेता है। काकभुसुण्डि, गरुड़ से अपनी जन्म-जन्मान्तर की कथाएँ सुनाते हुए कहते हैं कि एक जन्म में मैं अयोध्या में शूद्र कुल में पैदा हुआ था। राम भी अपने पुरुषार्थ और शक्ति की प्रामाणिकता परशुराम के सामने अपने 'वंशगत-शौर्य' के आधार पर देते हैं। चूँकि वे रघुवंशी हैं, इसलिए युद्ध से भागना या शत्रु के सामने हथियार डाल देना उनके लिए कल्पनातीत है।

तुलसी के वर्ण-धर्म में 'विप्र' समाज का श्रेष्ठतम प्राणी है। तुलसी जब मानस की रचना करने के लिए बैठते हैं तो विप्र की बन्दना करते है। जब अपने आराध्य राम की प्रार्थना करते हैं तो उसके साथ ही विप्र को भी पूजना नही भूलते हैं। ब्राह्मणों का प्रसन्न होना सब मंगलों की जड़ है। उनका क्रोध करोड़ों कुलों को भस्म कर देता है। शिव कहते हैं : जो इन्द्र के वज्र, मेरे विशाल त्रिशूल काल के दण्ड और विष्णु के भयंकर चक्र के मारे भी नही मरता, वह भी विप्र-द्रोह रूपी अग्नि में भस्म हो जाता है। द्विज से बैर करने वाले का वंश नही चल सकता। जिस प्रकार जाड़े के मारे मच्छर और डाँस नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण से द्रोह करने पर कुल का नाश हो जाता है। जब ब्राह्मण शाप दे देता है तो विष्णु के प्रिय द्वारपाल जय, और विजय तक भी 'असुर' योनि में पहुँच जाते हैं। मुनि कहते हैं, हे राजन ! काल भी तुम्हारे चरणों पर सिर नवाएगा, केवल एक ब्राह्मण कुल को छोड़कर। ब्राह्मण कुल से जोर-जबरदस्ती नहीं चलती। विजय प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण का सत्कार अभेद कवच है। जगत् में पुण्य एक ही है, दूसरा नहीं। वह है मन, कर्म

और वचन से ब्राह्मणों की पूजा करना। भगवान् राम को वे ही लोग प्रिय हैं, जो ब्राह्मणों के चरणों में भक्ति रखते हैं। वह जन्म धन्य है, जिसमें ब्राह्मण की अखण्ड भक्ति है। जप, तप, व्रत, दया, संयम, नेम के साथ ही मनुष्य को गुरु, गोविन्द और विप्र के चरणों में प्रीति रखनी चाहिए। राम-राज्य में समाज का हर व्यक्ति उदार, उपकारी और ब्राह्मणों का भक्त होता है। कलिकाल में अधर्म बढ़ जाता है और लोग माता-पिता, गुरु और ब्राह्मण का तिरस्कार करने लगते हैं। भगवान्, अपनी इच्छा से देवता, पृथ्वी, गौ और ब्राह्मण के लिए अवतार लेते हैं। भक्त, भूमि, भूसुर, सुर के हितों की रक्षा के लिए ही भगवान् मनुष्य का रूप धारण करते हैं।

जब असुरों का अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और ब्राह्मण, गौ, देवता और धरती चीखने लगते हैं, तब प्रभु अवतार लेकर सज्जनों का कष्ट दूर करते हैं। अवतार लेकर भगवान् ब्राह्मणों की पूजा करते हैं। युद्ध करने के लिए प्रस्थान करते समय वे ब्राह्मणों की वन्दना करते हैं। युद्ध जब उन्हें बहुत भयंकर लगने लगता है तो शक्ति प्राप्त करने के लिए वे मन ही मन ब्राह्मण के चरणों को प्रणाम करते हैं––जिनके बल पर वे युद्ध में विजय प्राप्त कर सकें। राम वसिष्ठ (ब्राह्मण और गुरु) का परिचय अपने सखा बन्धुओं से देते हुए कहते हैं : ये हमारे कुल के पूज्य गुरु वसिष्ठ हैं। इन्हीं की कृपा से मैंने युद्ध में राक्षसों पर विजय प्राप्त की है। इस प्रकार राम ब्राह्मण के कष्ट को दूर करने के लिए जन्म लेते हैं। उन्हीं ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त करके राक्षसों का संहार करते हैं और फिर ब्राह्मणों को अभय तथा सुखी बनाते हैं। ये ब्राह्मण यज्ञ कराते हैं, मंत्रणा देते हैं। महत्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन के समय राजा के साथ रहते हैं। गद्दी पर बिठाने के लिए उत्तराधिकारी का चुनाव करते समय राजा ब्राह्मण की राय लेता है। राज्याभिषेक के समय इन ब्राह्मणों का रहना आवश्यक है। जब सीता को बिदाई देने के लिए जनक चलते हैं तो विप्र समाज तथा विप्र मंत्री उनके साथ रहता है। ये द्विज मंगल-अवसरों पर वेद पाठ करते हैं। दान लेते हैं और इसके अतिरिक्त ये ब्राह्मण 'संदेशवाहक' का भी कार्य करते हैं। इसलिए कि ये अवध्य हैं। शत्रुपक्ष में भी संदेशवाहक की हैसियत से ये खुले-आम जा सकते हैं। हनुमान जब विभीषण के घर में प्रवेश करने लगते हैं तो विप्र का रूप धारण कर लेते हैं। जब सुग्रीव हनुमान को राम के पास उनका भेद लेने के लिए भेजता है तो हनुमान 'विप्र' का वेश धारण कर राम के पास जाते हैं। जब राम के वाण से समुद्र व्याकुल हो गया और जब उसके सामने बचने का कोई दूसरा उपाय न रह गया तो विवश होकर उसने राम की शरण में जाने की सोची, लेकिन प्रश्न था जाए कैसे? फिर उसने विप्र का रूप धारण कर जाने का निश्चय किया––क्योंकि विप्र सदा 'अवध्य' होता है।

इस प्रकार हमने देखा कि तुलसी के हृदय में ब्राह्मणों के प्रति अगाध श्रद्धा है; किन्तु इस श्रद्धा का अर्थ यह नहीं कि वे विचारों के वशीभूत होकर शूद्रों या अन्य जातियों की अधमता चाहते थे। जब वह 'विप्र' शब्द का उच्चारण करते हैं तो उनके मानस में समाज का वह ज्योतिर्मय स्तर कौंधने लगता है; जो ज्ञान, सत, विवेक का वाहन करनेवाला; समस्त सृष्टि के कल्याण की बात सोचने वाला; मनस्वी, भविष्यद्रष्टा और परहित धर्म को सबसे बड़ा धर्म मानने वाला होता है। सर्वजन हिताय और सर्वजन सुखाय की मंगल साधना में जो रत रहता है। तप बल की अग्नि से सदा प्रज्ज्वलित रहनेवाले विप्रों का उनके सामने चित्र रहता है। राम, परशुराम से कहते हैं : 'हे देव! हम क्षत्रियों के पास तो केवल एक ही गुण है––वह है यह 'धनुष'; किन्तु आप ब्राह्मणों के पास तो परम पवित्र नौ गुण सदा विद्यमान रहते हैं। शम, दम, तप, शौच, क्षमा,

सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता वाले ब्राह्मणों के सामने तो हम क्षत्रिय सदा हारे हुए हैं। हमारे अपराधों को क्षमा कीजिए।'

यह है वास्तविक विप्र का स्वरूप; जिसकी तुलसी वन्दना करते हैं, उनके राम वन्दना करते हैं और तुलसी और राम दोनों समाज को 'विप्र-पूजा' का आदेश देते हैं। 'विप्र वह होता है जो व्यवहार क्षेत्र में जनसमूह के प्रति उदार और उपकारी हो।' यही बात उनकी इस चौपाई में दर्शायी गयी है 'सब उदार, सब पर उपकारी, विप्र चरन सेवक नर नारी।' जिस द्विज में क्षमा, शील और परोपकार की भावना है, वही द्विज राम को प्रिय है, ऐसा वे अपने मुख से कहते हैं।

इसे क्षुद्र जातीयता के चश्मे से देखने का प्रयास हमें नहीं करना चाहिए। तुलसी की विप्र-पूजा मनुष्य की विराट अन्तर्गर्भा शक्तियों की पूजा है। जहाँ मानव की यह श्रेष्ठतम और पवित्रतम शक्ति अपनी मर्यादा से गिर जाती है, वहाँ तुलसी उसकी घोर निन्दा करते हैं। वे वास्तविक 'विप्र' के समर्थक हैं, न कि पतित विप्र के, वे तो स्पष्ट लिखते हैं :

'सोचि अ विप्र जो वेद विहीना
तजि निज धरम विषय लय लीना।'

तुलसी को जातीय पक्षपाती और रूढ़ ब्राह्मणवादी हम तब कह सकते थे, जब वे 'वेद-विहीन', 'धर्म-च्युत' ब्राह्मणों की भी स्तुति गाते। वे तो ऐसे ब्राह्मणों पर थूकते हुए लिखते हैं :

'विप्र निरच्छर लोलुप कामी, निराचार शठ वृषला स्वामी।

तुलसी के सामने जाति-पाँति की रूढ़ कल्पना नहीं थी। वे जब भी विप्र, शूद्र, क्षत्रिय या वैश्य का नाम लेते हैं तो उनका ध्यान उनके कर्मों की ओर पहले जाता है। वे वर्णधर्म को इसलिए स्वीकार करते हैं कि वह मनुष्य को सुखी बनाता है; उसे भय, शोक, रोग से मुक्त करता है। भले ही आज उसकी आवश्यकता नहीं है :

'वरनाश्रम निज निज धरम
निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख
नहिं भय शोक न रोग॥'

तुलसी के वर्णाश्रम धर्म में यह कभी सह्य नहीं था कि शूद्रों के लिए सड़कें वर्जित कर दी जाएँ या सड़कों पर थूकने के लिए उन्हें अपने साथ पुरवा लेकर चलना पड़े। उनका वर्णाश्रम धर्म इन अतिवादी कट्टरताओं से मुक्त था। उनके राम के राजघाट पर शूद्र भी उसी प्रकार स्नान करता है, जिस प्रकार विप्र। उनके राम शूद्र निषाद से गले मिलते हैं। उसे अपना भाई मानते हैं। श्रेष्ठ-ऋषि वसिष्ठ निषाद से दौड़ कर लिपट जाते हैं

इसी 'मानव धर्म' के वशीभूत होकर राम शूद्र शबरी के जूठे बेरों को बड़े चाव से खाने लगते हैं। गोस्वामी जी ब्राह्मणपूजक होते हुए भीह रिजन उत्थान के प्रबल समर्थक थे। उनके काकभुसुण्डि शूद्र योनि में भी हर मन्दिर में पहुँच कर जाप किया करते थे और मंत्र दीक्षित बन सकते थे।

सारांश यह है कि चहुँ ओर से परखनेवाले समाज के समीक्षक तुलसीदास को, जिन्होंने विप्र

को 'विप्र निरच्छर लोलुप कामी, निराचार शठ नृषला स्वामी' कह कर बहुत ही नीच कह डाला है। यदि कोई कहे कि वह ब्राह्मण या विप्र के पक्षपाती और शूद्र कहे जाने वाले व्यक्तियों के द्रोही थे, तो हम तो यही कहेंगे कि उसने तुलसीदास को समझा ही नहीं।

एक जगह तुलसी ने यह भी लिखा है कि 'शूद्र' ताड़ना का पात्र है। यहाँ भी तुलसीदास जी ने जातीय रागद्वेष से प्रेरित होकर नहीं लिखा है। इसे समझने के लिए हमें इस कथन का सन्दर्भ समझना होगा। राम अपनी सेना के साथ समुद्र के किनारे ठहरे हुए हैं। उनकी स्त्री सीता को रावण अपहरण करके लंका में उठा ले गया है। राम लंका पर चढ़ाई करने की पूरी तैयारी कर चुके हैं; किन्तु रास्ते में समुद्र है। बिना उसे पार किए लंका कैसे पहुँचें ? अतः उस पर सेतु बनाना है। वे समुद्र से मार्ग देने की प्रार्थना करते हैं, किन्तु समुद्र अपने मद में चूर है। राम की प्रार्थना अनसुनी कर देता है। इस प्रकार दिन बीतते चले जा रहे हैं और आज्ञा न प्राप्त कर सकने के कारण लंका पर चढ़ाई करने और सीता को मुक्त करने में विलम्ब हो रहा है। तब राम 'बिनु भय होइ न प्रीति' की नीति अपनाते हैं। 'विनय न मानत जलधि जड़' को वे अपने बाण के प्रहार से विकल कर देते हैं---तब समुद्र उनकी शरण में आता है और त्राण की भिक्षा माँगते हुए राम की इस दण्ड-नीति का औचित्य स्वीकार करता है ।

यहाँ हमें तुलसी का निरपेक्ष अध्ययन करना है। निश्चित रूप से समुद्र द्वारा 'शूद्र' को नीच माना गया है और उसे ताड़ना देने का भी सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।

जब इतिहास के आलोक में तुलसी के युग पर दृष्टि डालते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि मुगल काल में समाज में स्त्री और शूद्र की स्थिति बहुत कारुणिक और हेय थी। इनका समाज में तनिक भी सम्मान नहीं था---यह बात सोलहों आने सही है। इसलिए 'समुद्र जब शूद्र को बिना किसी औचित्य के ही ताड़ना का अधिकारी बताता है तो वह मुगलकालीन समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य' का प्रतिनिधित्व करता है। उस समय ये तीनों जातियाँ शूद्रों के प्रति ऐसा ही व्यवहार करती थीं।

अब देखना यह है कि क्या तुलसी भी समुद्र के इस कथन के साथ हैं। उत्तर मिलता है---कहीं नहीं और 'मानस' में शूद्र का प्रतीक 'निषाद' और नारी की प्रतीक 'सीता' दोनों की आराधना करते हैं। वे इन्हें स्वयं उच्चासन पर बिठाते हैं और अपने राम से भी बिठवाते हैं।

इस तरह काकभुसुण्डि जब यह कहता है कि वह एक जन्म में अयोध्या में शूद्र योनि में उत्पन्न हुआ था तो तुरन्त अपने गुणों का भी हवाला देता है : धन मद मत्त परम बाचाला, उग्र बुद्धि उर दंभ विसाला !

'मैं खल मल संकुल मति, नीच जाति बस मोह।
हरिजन, द्विज देखे जरऊँ, करउँ विष्णु कर द्रोह ।।'

वास्तव में तुलसीदास जाति को जन्मना और कर्मणा दोनों का समन्वय मानते हैं। शूद्र योनि में जन्म लेकर काकभुसुण्डि तब तक नीच जाति के विशेषण से सम्बन्धित नहीं होता; जब तक उसमें धन-मद, वाचालता, उग्र, बुद्धि अपार दंभ, ईर्ष्या, और अपकार की भावना के दर्शन नहीं होते।

तुलसीदास वर्णाश्रमवादी थे, इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र---सब की अलग-अलग मर्यादा और सबका अलग-अलग शील स्थापित किया है; किन्तु उनका वर्ण-धर्म वह वर्ण धर्म नहीं था, जो

महाजनपद युग के बाद मुगल-काल तक आते-आते कट्टरवादी और निष्ठुर हो गया था; जिसमें 'अस्पृश्यता', 'खानपान में भेद' और शूद्रों के साथ पशुता का व्यवहार जैसे घृणित कीड़े लग गए थे।

तुलसीदास अपने वर्ण-धर्म को लचीला बनाने के आकांक्षी हैं। वर्णधर्म की आत्मा को वे अपने मानव-धर्म में देखने लगते हैं—जिसमें परहित सबसे बड़ा धर्म है और 'बड़े भाग मानुष तन पावा' जीव की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

तुलसी का मानव-धर्म मुगलकालीन विकृत वर्ण-धर्म की ही प्रतिक्रिया में उत्पन्न होते हुए भी प्राचीन काल के निष्कलुष वर्णधर्म का ही पवित्र स्थान है। मानव-धर्म 'वर्ण-धर्म' का उसके पवित्रतम रूप में स्थापित होने का प्रयास है।

रीतिकालीन साहित्य का भौगोलिक विस्तार

डॉ० वै० वेंकटरमण राव
एम० ए०, पी-एच० डी०

१-० प्रास्ताविक

यह सर्वमान्य सत्य है कि प्राकृतिक अवस्था और मानव जीवन में आधार-आधेय का सम्बन्ध है। जीवन की आधारभूत सामग्री का स्रोत भौगोलिक परिस्थितियों में ही निहित रहता है। इसी आधारभूत सामग्री के अनुसार किसी देश या काल की जीवन-पद्धति बहुत कुछ निश्चित होती है। भौगोलिक परिस्थितियाँ और संपत्ति जीवन की बाह्य सज्जा को ही समृद्ध नही बनातीं, जीवन-यापन की विधियों के द्वारा मनुष्य की रुचि, उसके सांस्कृतिक विकास और साहित्य रचना को भी अत्यधिक प्रभावित करती हैं। भौगोलिक परिस्थितियाँ सांस्कृतिक अंतरावलंबन और सांस्कृतिक आदान-प्रदान को भी निश्चित करती हैं। भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थितियों ने ऐतिहासिक रूप से देश के चिंतन को विकास की दिशा प्रदान की है। अनेक जातियों का आगमन और अनेक सांस्कृतिक तत्वों का मिश्रण या समन्वय अव्यक्त रूप से देश के भौगोलिक तत्वों के कारण ही माने जा सकते हैं।

प्राय: सभी विद्वानों ने भौगोलिक परिस्थितियों और संस्कृति एवं साहित्य के सम्बन्ध को स्वीकार किया है। किसी देश का प्राकृतिक सौन्दर्य काव्यगत भावात्मक सौंदर्य की पृष्ठभूमि बनाता है। प्रकृति की विविध सज्जाएँ उसके अप्रस्तुत-विधान को समृद्ध करती हैं। उद्दीपन सामग्री का निरूपण, ऋतु-वर्णन आदि तो भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर ही संपन्न होते हैं। कवि की कल्पना और अनुभूति के साथ संगति बिठानेवाली शक्ति प्राकृतिक उपकरणों में है। प्रकृति के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि त्वरित गति से बदल सकती है, पर उसके प्रति कवि की सौंदर्य-बोध-परक दृष्टि कम बदलती है। इसीलिए अनेक काव्य-रूढ़ियाँ प्राकृतिक उपादानों के सम्बन्ध में दीर्घ काल तक चलती रहती हैं। प्रकृति के विशिष्ट अंगों पर कुछ सांस्कृतिक परम्पराएँ या विश्वास भी बन जाते हैं। कवि भी परंपरा से संस्कृत और समादृत प्राकृतिक रूपों को काव्य में स्थान देता है और भावात्मक संस्पर्श से प्रकृति को सजीव करके अपने काव्य-विधान को विस्तार देता है। काव्य सृष्टि प्राकृतिक वातावरण से विच्छिन्न होकर न प्रभावोत्पादक बन सकती है और न समग्र या सजीव। यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि काव्य का अस्तित्व प्राकृतिक उपजीव्य के बिना संभव नहीं है।

प्रस्तुत लेख में रीतिकालीन काव्य से संबद्ध भौगोलिक विस्तार तथा उन परिस्थितियों का यथासंभव काव्य में निरूपण करने का प्रयत्न किया गया है। रीतिकालीन काव्य की भाषा ब्रज-भाषा रही है। रीतिकालीन काव्य क्षेत्र ब्रजभाषा व्यवहार क्षेत्र से बहुत बड़ा है। ब्रज की सीमाओं से बाहर के कवियों ने भी ब्रजभाषा काव्य का विस्तार किया है। इसीलिए भिखारीदास ने यह स्पष्ट किया है कि ब्रजभाषा काव्य के लिए ब्रज में निवास की आवश्यकता नहीं है:

'सूर केसव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्मा,
चिंतामणि, मतिराम, भूषण सुजानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट नेवाज, निम्भा,
नीलकण्ठ, मिश्र सुखदेव मानिए॥
आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादि
अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए।
ब्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमान्यो
ऐसे ऐसे कविन की बानी सों जानिए॥'

१-१ ब्रजभाषा काव्य-क्षेत्र

मिखारीदास ने स्पष्ट निरूपित किया है कि ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में अनेक उस भाषा क्षेत्र के घेरे से बाहर के हैं। इस बृहत्तर क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार करते हुए पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है : "ब्रज की वंशी की ध्वनि के साथ अपने पदों की अनुपम झंकार मिलाकर नाचनेवाली मीराँ राजस्थान की थी, नामदेव महाराष्ट्र के थे, नरसी गुजरात के थे, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भोजपुरी भाषा क्षेत्र के थे—बिहार में भोजपुरी, मागधी और मैथिली भाषा क्षेत्र में भी ब्रजभाषा के कई प्रतिभाशील कवि हुए हैं।" इससे यह निश्चित होता है कि ब्रजभाषा काव्य का बृहत्तर क्षेत्र बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान को भी समेट लेता था। इन प्रांतों को यदि रीतिकालीन साहित्य की देशगत इकाई के निर्धारण में छोड़ भी दिया जाय—क्योंकि यह भक्तिकालीन ब्रजभाषा काव्य का बृहत्तर क्षेत्र कहा जा सकता है—तब भी रीतिकालीन साहित्य की देशगत इकाई कम से कम एक दूसरे घेरे तक तो अवश्य ही रहती है; जिसकी सीमाएँ ब्रजभाषा व्यवहार क्षेत्र की सीमाओं से भिन्न हैं।

१-२ रीतिकालीन काव्य का विस्तार क्षेत्र

रीतिकालीन काव्य के विस्तार क्षेत्र का निरूपण अनेक आधारों पर किया जा सकता है। लेकिन सबसे वैज्ञानिक कवियों के स्थानों के आधार पर किया गया निरूपण ही माना जा सकता है। इसका समर्थन रीतिकालीन आश्रयदाता राजाओं के राज्यों की स्थिति से भी हो सकता; पर विवेचन की सुविधा और सुबोधता के लिए रीतिकाल के कवि जिन-जिन स्थानों से संबद्ध थे, उनकी एक प्रतिनिधि सूची नीचे दी जा रही है। सीमा-निर्धारण की दृष्टि से महत्वपूर्ण कवियों की यह सूची निम्नलिखित क्षेत्रों के अनुसार विभाजित करके दी गयी है। प्रमुख क्षेत्र ये हैं:

१. पारिभाषिक रूप से ब्रज क्षेत्र
२. पूर्वी क्षेत्र—मिर्जापुर, कानपुर, हरदोई, इटावा, लखनऊ
३. भोजपुरी क्षेत्र—बनारस
४. राजस्थान
५. बुन्देलखण्ड
६. बृहत्तर क्षेत्र।

१-२.१ पारिभाषिक रूप से ब्रज क्षेत्र

आगरा—कुलपति मिश्र, अलीमुहीब खाँ, रसिक सुमति; मथुरा—ग्वाल कवि, सूदन; रामपुर (मथुरा के पास)—गणेश बख्श; वृन्दावन—रसिक गोविंद, ब्रजवासीदास, नवीन कवि, घनआनंद।

१-२.२ पूर्वी क्षेत्र

तिकबापुर (कानपुर)—चिंतामणि, मतिराम, भूषण; माड़ी (कानपुर)—दत्त; दौलतपुर (रायबरेली)—सुखदेव मिश्र; इटावा—देव, सबलसिह चौहान; बसुवा गोविंदपुर (ग्वालियर)—बिहारीलाल; अन्तर्वेद (फतेहपुर)—कालिदास, नेवाज, कवीन्द्र (उदयनाथ), दूलह; कालपी—श्रीपति; बिलग्राम (हरदोई)—रसलीन; कन्नौज—मनीराम मिश्र; शाहजहाँपुर—चंदन; मकरंदनगर (कन्नौज)—देवकीनंदन; डोंडिया खेरे (रायबरेली)—थान कवि; बैंसी (रायबरेली)—वेनी बंदीजन; लखनऊ—बेनी प्रवीन, ललकदास; मल्लावाँ (हरदोई)—सम्मन; मिर्जापुर—कृष्णदास; असोथर—शंभूनाथ मिश्र; अयोध्या—जनकराज शिव मणि; शृंगवेरपुर (इलाहाबाद)—तोषनिधि; प्रयाग—श्रीधर या मुरलीधर; जौनपुर—रणधीर सिंह।

१-२.३ भोजपुरी क्षेत्र

काशी (बनारस)—गंजन, हरिनाथ, मनियारसिह, रघुनाथ, गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव, ब्रह्मदत्त; गणेश चौबेपुर (बनारस)—चन्द्रशेखर, रामसहाय दास; प्रतापगढ़ (अवध)—भिखारीदास; चौरागाँव (काशीराज्य)—रघुनाथ; गोरखपुर—ऋषिनाथ; अयोध्या—जनकराज शिरोमणि, लखिराम, द्विजदेव।

१-२.४ राजस्थान

मारवाड़—जसवंतसिंह; भरतपुर—सोमनाथ; जयपुर—शिवसहाय दास, ब्रजनिधि, जनराज, पद्माकर, जयचन्द्र; नरवरगढ़—रामसिंह; कृष्णगढ़—नागरीदास, सुन्दरकुमारी बाई; बसोथर—शंभुनाथ, भगवंतराय खीची; बाँदा—बोधा; जैतपुर—ठाकुर, मंडन; कोटा—मुकुंदसिंह; समथर—नवलसिंह; मेड़ता (जोधपुर)—वृन्द; जोधपुर—चन्द्रशेखर वाजपेयी; मेवाड़—मानकवि।

१-२.५ बुन्देलखण्ड

बुन्देलखण्ड—छत्रसाल, हरिकेश; पन्ना—रूपसाहि, करण कवि, पजनेस, बख्शी हंसराज, बोधा, हरिदास कायस्थ; चरखारी—प्रतापसाहि, गुमान, विक्रमसाहि, बलदेव ब्राह्मण; मऊ—लाल कवि, मंचित; रीवाँ—विश्वनाथसिंह, घनश्याम शुक्ल, समनेस, महाराजा मधुकर राज सिंह; दतिया—रसनिधि, नारायण; ओरछा—केशवदास, गोप कवि; असनी—ठाकुर, बैरीसाल; जैतपुर—मंडन।

१-२.६ बृहत्तर क्षेत्र

अहमदाबाद (गुजरात)—दलपतिराय, वंशीधर; पटियाला—उमादा ।, निहाल, संतोषसिंह; महाराष्ट्र—भूषण; दिल्ली—वीर आलम; गढ़वाल (श्रीनगर)—रतन कवि आदि।

१-३ भौगोलिक स्थिति

उपर्युक्त समस्त भूभाग का अधिकांश भाग मैदान है। कहीं-कही पहाड़ियाँ और टीले बिखरे हुए हैं। राजस्थान मरु भूमि है। यह क्षेत्र जलवायु की दृष्टि से गर्मियों में बहुत गरम और जाड़ों में बहुत शीतल रहता है। पश्चिमी क्षेत्र की अपेक्षा पूर्वी क्षेत्र में वर्षा अधिक होती है। राजस्थान में धूल भरी आँधियाँ चलती हैं, जो ब्रज तक को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार के पर्वत, नदियाँ और सागर नहीं हैं, जो जलवायु को प्रभावित कर सकें।

राजस्थान की ही भाँति बुन्देलखण्ड की स्थिति नहीं है। इसकी भौगोलिक स्थिति का परिचय एक कवि ने इस प्रकार दिया है :

'इत जमुना उत नर्मदा, इत चंबल उत टोंस।
छत्रसाल सों लरन की, रही न काहू हौंस॥
उधर समतल भूमि, गंग जमुन सुबहति हैं।
प्राची दिशा केमूर, सान कासं सुलसति है॥
दक्खिन रेवा विंध्याचल, तन सीतल करनी।
पश्चिम में चंबल, चंचल सोहत मन हरनी॥
तिन मधि राजे गिरि, बन सरिता सहित मनोहर।
कीर्तिस्थल बुन्देलन, को बुंदेल खंडवर॥'

ब्रज की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। ब्रज की प्राकृतिक शोभा का वर्णन पौराणिक साहित्य मे भी पर्याप्त मिलता है। कृष्णवार्ता से सम्बन्धित भूमि होने के कारण काव्य और इतिहास में यहाँ के पशु, पक्षी, वनस्पति आदि का वर्णन भी मिलता है। वनस्पति की दृष्टि से मथुरा जिले के आसपास का ब्रज प्रदेश पुराण काल में वनों के लिए प्रसिद्ध था। आज लगभग समस्त भूमि कृषि योग्य बन गयी है। प्राचीन वनों के अवशेष के रूप मे करील, पीलू, सिरस, ढाक आदि के वृक्ष आज भी मिलते हैं। करील और तमाल साहित्य में भी विशेष रूप से वर्णित हैं। कृषि-कर्म के साथ पशुपालन का व्यवसाय भी प्रचलित है। जाट, गूजर और अहीर जातियाँ पशुपालन से विशेष रूप से सम्बद्ध हैं। जंगली जानवरों में कोई विशेष हिसक पशु नहीं मिलते।

संक्षेप में यही रीतिकालीन काव्य-क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति है। आगे इस क्षेत्र मे रहनेवाले रीतिकालीन कवियों के साहित्य के आधार पर पशु, पक्षी और वनस्पति पर विचार किया गया है।

१-४ रीतिकालीन साहित्य में उपलब्ध प्राकृतिक-स्थिति

वैसे रीतिकालीन कवि का प्रकृति से कम सम्बन्ध था। वह परंपरागत प्रकृति वर्णन से ही संतुष्ट रहता था। फिर भी भौगोलिक पर्यावरण का उस पर प्रभाव पड़ना साधारण बात है। बारह-मासा, ऋतु-वर्णन आदि को परंपरागत ही कह सकते हैं। पर रीतिकालीन काव्य में कृष्ण और उनकी शृंगार लीलाओं का प्राधान्य रहा। इसलिए ब्रज के रूढ़ पक्षी और वृक्षों आदि का वर्णन काव्य में मिल जाता है। ये रूढ़ वर्णन भी स्थानीय वैशिष्ट्य से विच्छिन्न नहीं हैं।

१-४.१ नदियाँ और पहाड़

रीतिकालीन साहित्य में यमुना, गंगा, नर्मदा, बेतवा और गोदावरी का उल्लेख मिलता है। इनमें गोदावरी का सम्बन्ध रामकथा के माध्यम से ही बन पाया है। यमुना का सम्बन्ध व्रज और कृष्ण लीलाओं से है। यमुना का वर्णन प्रायः कृष्णलीलाओं के साथ ही संबद्ध है :

१. **कज्जल कलित अँसुवन के उमंग संग दूनो होत रंग रोज जमुना के जल में।**
——भू० ग्रं०, २७६।१८०

२. **कूल कलिंदजा के सुख मूल लतानि के वृंद वितान तने हैं।** ——भि०, २, ५७।१५

३. **कहै पद्माकर कलिंदी के कदंबन पै।**
मधुपनि कीन्हों आइ महत मवासो है॥ ——पद्मा०, ३८७।१६४

४. **जमुना तीर तमाल-तरु मिलित मालती-कुंज।** —वि०, १२७।५७

सिर्फ भूषण को छोड़कर अन्य सभी उद्धरणों में यमुना का सम्बन्ध कृष्ण-वार्ता से ही है। व्रज की बाह्य सीमाओं पर गंगा भी आती है। कुछ कवियों ने इसका वर्णन भी किया है। गंगा का धार्मिक दृष्टि से ही विशेष महत्व है (भू० ३४५।१९४), (वि० ५७६।२३९, पद्मा० २८।२४३)। छत्रसाल के साथ बेतवा का वर्णन मिलता है (भू० ५०९।२२९)। इस प्रकार रीतिकालीन साहित्यकारों के सामने यमुना और गंगा ही प्रमुख रह जाती हैं।

पहाड़ों में केवल गोवर्द्धन पहाड़ का वर्णन मिलता है, जो कृष्ण की एक लीला से सम्बद्ध था। यह व्रज की भौगोलिक स्थिति का एक भाग भी है। इसका प्रायः सभी कवियों ने उल्लेख किया है। सुमेरु (भू० २२१।१६६, घनआ० १०३।३३), मलय (घनआ० ६०।२०) आदि पर्वतों के वर्णन तो कवि-रूढ़ियों से संबद्ध ही हैं।

१-४.२ पेड़-पौधे

रीतिकालीन कवियों ने वातावरण के प्रभाव के लिए कभी उपमान रूप में और कभी केवल नाम गणना के रूप में कुछ वृक्षों का उल्लेख किया है। कहीं-कहीं स्थानीय दृष्टि से औचित्य का अतिक्रमण भी हो गया है। व्रज की जलवायु को ध्यान में न रखकर लवंग, इलायची, दाख और सेव (भू० २०-२१।१३३) की स्थिति भी दिखलाई गयी है——(भू० ३६।१३४, घनआ० २८५।९१)। इस प्रकार के वर्णन चमत्कार, पांडित्य प्रदर्शन और तत्कालीन रुचि की दृष्टि से किये गये है और काव्य में उनका रूढ़ वर्णन परंपरा से चला आया है। इस प्रकार के वृक्षों में आते हैं तमाल, पलास, केतकी, कदली, कदंब, अशोक, कुंद, अनार आदि।

कुछ ऐसे वृक्षों के नाम भी रीतिकालीन रचनाओं में मिलते हैं, जो साहित्य में रूढ़ नहीं हुए हैं और जिनका वर्णन स्थानीय वैशिष्ट्य की दृष्टि से किया गया है। धतूरा, करौंदा, आक, पीपल, पलास, जंबीर, जवासा आदि वृक्ष या पौधे प्रायः काव्य-रूढ़ नहीं हैं। इनका परिगणन स्थान प्रभाव को प्रदर्शित करता है। व्रज की प्रकृति के सौंदर्य पक्ष में कदंब का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वर्षा की फुहारों में सुवास मिलाकर एक सुन्दर वातावरण प्रस्तुत कर देता है। वर्षा-ऋतु के वर्णन में पद्माकर ने कदंब की इसी स्थिति का वर्णन किया है :

बरसत मेह नेह सरसत अंग अंग
झरसत जैसे जरत जवासो है।
कहै पद्माकर कलिंदी के कदंबन पै
मधुपनि कीन्हों आइ महत मवासो है। —पद्मा० ३८७।१६४

ब्रजभाषा के कवियों को कदंब कुंजों में केलि-क्रीड़ा करते हुए कृष्ण की झाँकी मनोरम लगती है। घनआनंद की भावना इस प्रकार है :

'फूले कदंब तरें करें केलि सखा चहुँ ओर महा छवि सोही।' —घनआ० ३८८।१२०

कृष्ण की बाँसुरी से गूंजते हुए ब्रजभाषा साहित्य में कदंब के समान ही महत्वपूर्ण स्थान तमाल का है। यह एक छोटा-सा वृक्ष होता है, जिसका तना श्याम रंग का होता है। तमाल की कुंजों का भी कृष्ण की शृंगार केलि के साथ घनिष्ट संबंध रहा है। घनआनंद की कल्पना तमाल को छोड़कर कृष्ण की क्रीड़ा का वर्णन नहीं कर पाती :

'ललित तमालनि सों बलित नवेली बेलि,
केलि रस झेलि हसें लह्यो सुख सार है।' —पद्मा० ६०।२०

कदंब, तमाल और करील ब्रज के विशेष वृक्ष या झाड़ी हैं। कृष्ण की वार्ता के साथ इनका प्रयोग स्थानीय रंग भर देता है।

१-४.३ फल

फलों में मुख्यत: इन फलों का वर्णन या उल्लेख मिलता है। बिम्बाफल, नासपाती, किसमिस, दाड़िम, कोहर (इन्द्रायन फल), निबोरी, अंगूर, आम, जम्बूफल, श्रीफल आदि। इनमें निबोरी, दाड़िम, आम और श्रीफल स्थानीय भी हैं। शेष केवल साहित्य में प्रयुक्त फलों के रूप में ही हैं।

१-४.४ फूल

रीतिकालीन कवियों ने कुछ पुष्पों का भी वर्णन किया है। इनमें कमल का वर्णन तो परम्परा से सिद्ध है। इसके अलावा कोकनद, कमल, कंज जैसे नाम और प्रकार रीतिकालीन कवियों में मिलते हैं। ये सभी कवियो में मिल जाते हैं। चंपा, चमेली, मालती, केतकी, मौलसिरी (मौलश्री), किंसुक, सोनजुही, कुंद, माधवी, कचनारि, बरना, सेवती (सेमंती) और पांडुर भी प्रसिद्ध पुष्प हैं। ये स्थानीय भी माने जा सकते हैं। इनका सम्बन्ध राजोद्यानों से भी था। राजोद्यानों से सम्बद्ध होने के कारण दरबारी रुचि के शृंगार के साथ इनका योग होना स्वाभाविक था। इनमें कुछ कृष्णवार्ता से भी सम्बद्ध हैं। इनका वर्णन भी कहीं नाम गणना के रूप में और कहीं उपमान के रूप में मिलता है। एकाध स्थान पर केसर का भी वर्णन है। देव ने उद्दीपन रूप में केसर का वर्णन किया है।

१-४.५ पक्षी

पक्षियों का उल्लेख भी स्थान-स्थान पर रीतिकालीन साहित्य में मिलता है। इन पक्षियों में कुछ का उद्दीपन सामग्री के रूप में प्रयोग होता रहा है; जैसे कोकिल, चातक, मोर, कीर आदि। कुछ पक्षियों

का सम्बन्ध काव्य में प्रयुक्त कवि-समयों से है। इनमें ये आते हैं : चकोर के चन्द्रमा के अपलक देखने और अंगार चुगने की रूढ़ि। हरियल पक्षी के विषय में प्रसिद्ध है कि वह पृथ्वी पर नहीं बैठता। जब आता है तो अपने पंजों में लकड़ी को दबा लेता है। चकई-चकवा रात को वियुक्त हो जाते हैं। पपीहा बादल को देखकर 'पीउ-पीउ' की ध्वनि करता है। इन प्रसिद्ध काव्य-रूढ़ पक्षियों में आँखों का प्रसिद्ध उपमान खंजन, गति का प्रसिद्ध उपमान हंस भी आ जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ सामान्य पक्षी भी है, जो स्थानीय हैं और जिनका वर्णन लोक-संस्कृति और लोक-साहित्य में विशेष रूप से मिलता है। इनमें बाज, गीध, कौआ, गोरैया, बगुला, बतख, तीतर, चील, घूघू और कुही जैसे पक्षी आते हैं। मोर का वर्णन तो कवियों ने विशेष रुचि से किया है। क्योंकि इसका सम्बन्ध कृष्णवार्ता से भी है। मैना काम-शास्त्रीय पद्धति में स्थान रखती है। फुटकर पक्षियों में सारस, कुलंग और महूप जैसे पक्षी आते हैं। इन पक्षियों में कुछ का सम्बन्ध ब्रज की भौगोलिक स्थिति से है।

१-४.६ पशु

भूषण ने एकाध छंद में कुछ ऐसे पशुओं की गणना की है, जो भारत से बाहर के है। इन वर्णनों में नाम गणना की रूढ़ि ही विशेष रूप से सक्रिय है। प्राकृतिक स्थिति पर इनसे कुछ भी प्रकाश नही पड़ता। हाथी राजवर्ग से सम्बद्ध थे। इनका वर्णन दान, युद्ध आदि के साथ मिलता है। इनका उपमान के रूप में भी प्रयोग मिलता है। पक्षियों की अपेक्षा पशु वर्णन में रीतिकालीन कवियों ने कम ध्यान दिया है।

१-५ ऋतु-वर्णन और प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव

ब्रजभाषा कवियों ने ऋतुवर्णन में विशेष रुचि ली है। पर ऋतु-वर्णन भी परंपरागत ही अधिक है। वसंत और पावस रीतिकालीन कवियों को विशेष प्रिय रहे हैं। इनका वर्णन क्षेत्रीय प्रभावों से प्रायः मुक्त ही है। वही फूलों की परिगणन पद्धति, वही रूपक-विधान और शृंगारिक वसंत वर्णन मिलता है, जो परंपराबद्ध है। फिर भी यत्र-तत्र ऋतु-वर्णन में स्थानीय प्रभाव भी दिखाई देता है।

ग्वाल कवि ने क्षेत्रीय प्रभाव को ध्यान में रखकर सरसों के खेतों का भी वर्णन किया है :

'सरसों के खेत की बिछायस वसंत बनी,
तामें खड़ी चाँदनी बसंती रति कंत की।।'

वर्षा के वर्णन में कदंब के फूलने का उल्लेख स्थानीय माना जा सकता है।

ग्रीष्म ऋतु में हिन्दी क्षेत्र व्याकुल हो जाता है। राजस्थानी मरुभूमि से आनेवाली गर्म आँधियाँ और दिन भर चलनेवाली ज्वलनशील लू इस क्षेत्र की ग्रीष्मकालीन विशेषता है। लू चलने का वर्णन सेनापति, देव, ग्वाल, बिहारी जैसे कवियों ने किया है। श्रीपति ने तेज हवा चलने के साथ धूल-धूसरित होने का भी वर्णन किया है। इस ऋतु का प्रायः सभी कवियों ने भयंकर रूप दिखलाया है। बार-बार पानी पीने की इच्छा करती है, फिर भी प्यास नहीं बुझती :

'जब पियौ, तब पियौ, अब पियौ फेर अब।
पीवत हूँ पिवत बुझति न प्यास पापिनी।।' —ग्वाल कवि

समस्त क्षेत्र कुम्हार के आवाँ जैसा लगता है। किसी कवि ने पुट-पाक की प्रक्रिया से ग्रीष्म ग्रस्त इस क्षेत्र की तुलना की है.:

'बरनि बताई, छिति व्यौम की तताई, जेठ
आयौ आततताई पुट-पाक सौ करतु है।'

गर्मी की नृशंसता से बचने के लिए जो सामंतीय विधान किया जाता है, उसका वर्णन रीति-कालीन विशेषता है। इन वर्णनों में फव्वारों, गुलाबजल, खसखानों, इत्र, बरफ, तहखानों आदि का विस्तृत वर्णन कवियों ने किया है। इस प्रकार के वर्णनों की पृष्ठभूमि में हम स्थानीय ग्रीष्मकालीन स्थिति को देख सकते हैं।

ग्रीष्म की ही भाँति हेमंत और शिशिर भी विशेष त्रास देती हैं। अधिकांश कवियों ने ठंडी हवा का वर्णन किया है और कुछ ने शीतकालीन बादलों का भी। मनुष्य जीवन पर इसके प्रभाव का चित्रण भी किया गया है। रजाई का उपयोग, तेल लगाकर गरम पानी से नहाना, आग रखना आदि इस ऋतु की स्थानीय विशेषताएँ हैं। उच्चवर्ग में यह ऋतु विशेष भोग-विलास की ऋतु होती है। इसमें शाल-दुशालों का उपयोग होता है। काम-क्रीड़ाओं का भी विशेष चित्रण मिलता है। इसके साथ ही कुछ गर्मी देनेवाले भोज्य पदार्थों का भी उल्लेख है। इस सम्बन्ध में पद्माकर का यह छंद द्रष्टव्य है :

'गुलगुली गिल में गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चाँदनी है चिक हैं चिरागन की माला हैं।
कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा हैं सजी
सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं अरु प्याला हैं॥
सिसिर के पाला के न व्यापत कसाला तिन्हें
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं दुसाला हैं बिसाला चित्रसाला हैं॥' --पद्मा० ३९१।१६५

इस प्रकार वसंत, वर्षा और शरद का वर्णन तो परिपाटीबद्ध ही मिलता है। पर ग्रीष्म, हेमंत और शिशिर के वर्णन में स्थानीय भौगोलिक-स्थिति विशेष प्रकट होती है।

१-६ निष्कर्ष

प्रस्तुत सर्वेक्षण के आधार पर कह सकते हैं कि भौगोलिक स्थिति और रीतिकालीन साहित्य का आधार-आधेय सम्बन्ध है। रीतिकालीन कवियों पर जितना भी परंपरागत वर्णनों का आरोप लगाया जाय, फिर भी उन पर क्षेत्रीय प्रभाव अवश्य है। भौगोलिक पर्यावरण से कवि स्वयं को पूर्णतः मुक्त नहीं कर सका है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत विधान पर भौगोलिक पर्यावरण का यह प्रभाव उनकी रचनाओं से ही सिद्ध हो जाता है। इन्हीं उपकरणों द्वारा रीतिकालीन काव्य-सौंदर्य भी कुछ उभरा है। स्थानीय नदियाँ, पहाड़, पक्षी और फल-फूल आदि का प्रवेश तो रीतिकालीन साहित्य में हो पाया है, लेकिन पशुओं का प्रवेश बहुत कम हुआ है। इसका कारण तत्कालीन काव्य प्रवृत्ति में देखा जा सकता है। इनका वर्णन तत्कालीन दरबारी वातावरण में अप्रस्तुत ही था। ये शृंगार-भावना के उद्दीपक नहीं हो सकते थे। अतः इनका प्रवेश नहीं हो पाया था। रीतिकालीन साहित्य में भौगोलिक स्थिति का एक स्फुट चित्र ऋतु-वर्णन से भी स्पष्ट होता है, जिस पर भौगोलिक स्थिति का अमिट प्रभाव परंपरागत वर्णनों के परदों की आड़ से स्पष्ट दिखाई देता है। ●

रीतिकालीन हिन्दी का

शाक्त-साहित्य और आचार्य कुलपति मिश्र

डॉ० विष्णुदत्त राकेश
एम० ए०, पी-एच० डी०

शक्ति के सौम्य रूप को लेकर भक्त कवियों ने शृंगार और वात्सल्य के माधुर्य-परक क्रीड़ा क्षेत्र में शक्ति और शक्तिमान के अद्वय सम्बन्ध की स्थापना की। कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति के रसिक सम्प्रदाय में शक्ति के मधुर रूप की अभिव्यंजना पर अधिक बल दिया गया। नाम-स्मरण, कृपा का सिद्धान्त, रति-चक्र, गो-लोक की कल्पना, गुरुवन्दना, लीला-गान तथा महाभाव के वैष्णव सिद्धान्त शाक्तों के शक्तिपात, भैरवीचक्र, रूपदर्श, उरजस्पर्श, अष्टदत्त प्रतीकात्मक महाभाव से प्रभावित है। इसीलिए हरिनाम के साथ दीनता, इष्टदेव की महत्ता, भक्त-वत्सलता, भय प्रदर्शन तथा षडैश्वर्य सम्पन्नता एवं मनोरम्य उपासना का प्रचलन उत्तरवर्ती भक्त कवियों में दिखाई देता है। सन्तों में योगाचार प्रभावित शाक्त-साधना की योग क्रियाओं तथा बीजाक्षरों की सांकेतिक प्रक्रिया परिग्रहण की प्रवृत्ति अधिक है। बृहत् ब्रह्म संहिता (२-४-१७३) ने शक्ति और शक्तिमान के जिस सामरस्य की स्थापना पर अधिक बल दिया, वह अर्द्ध-नारीश्वर के रूप मे काव्य और साधना दोनों में ही उपास्य सिद्ध हुआ। गौड़ीय कवियों ने तो षडैश्वर्य सम्पन्नता में मधुर रस अथवा राधा-कृष्ण विषयक शृंगार की अवतारणा कर स्नेही युगल की प्रतिष्ठा की। गौड़ीय संस्कृत कवियों ने शास्त्रीय पद्धति पर इस विग्रह की रचना कर गतानुगतिकता पर बल दिया, किन्तु हिन्दी कवियों ने इस पक्ष को अधिक स्वतन्त्र और भावस्पर्शी बनाया। दुर्गा जैसे उग्र रूप की साधना वैष्णव कवियों ने मंगलाचरण और असाध्य कार्य साधक देवता के रूप में ही की। सूरसारावली (५५ पृष्ठ) में 'कहुँ एक दुर्गा देवि जान कै, जोरि विप्र निजधाम; करत होम चहुँ भाँति वेद धुनि, सब विधि ,पूरन काम' तथा तुलसीकृत मानस में 'वरदायनी पुरारी पियारी' कह कर इस तथ्य की पुष्टि की गई है। ब्रह्मयामल तंत्र कथित 'रामो दिव्यांगना भोगी, रामोज्ञानवतां वरः, रमा तरंग सहिता, रामभार्या रति प्रिया' जैसे निर्णय के अनुसार कालान्तर में राम और सीता में भी सौम्य रूप की कल्पना रसिकता के आधार पर कर ली गई। किन्तु भोग्य और भोक्तृ शक्ति को चिन्मय मान लेने से उनकी तन्त्रात्मक प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनी रही। वामाचारी शाक्त प्रक्रियाओं का संकेत भी अभिचारिक प्रसंगों में भक्त कवियों ने प्रस्तुत किया। 'जाइ कपिन सों देखा वैसा, आहुति देत रुधिर अरु भैसा' जैसे मानस के (निकुंभिला पूजन प्रसंग) प्रसंग इस पद्धति की ओर संकेत करते हैं। किन्तु साधारण रूप से वैष्णव कवियों ने शक्ति के समयाचारी रूप को ही स्वीकार किया है।

मध्यकाल में विरचित देवी भक्ति सम्बन्धी रचनाओं में सीधरकृत सप्त सतीराछंद, कुशललाभ कृत देवी सातसी, भवानी छंद, ईसरदासकृत देवियाण, पीरदान कृत गुण हिंगलाल रासो, जसवन्तकृत त्रिपुर सुन्दरी की वेलि, लधराजकृत कालकाजी का दृश, देवी विलास, अजीतसिंह कृत दुर्गापाट भासा, रामदान कृत करणी रूपक, कुलपति कृत दुर्गाभक्ति चन्द्रिका, अजीतसिह कृत भवानी सहस्रनाम, श्रीकृष्ण

भट्ट रचित दुर्गाभक्ति तरंगिनी, पद्माकर कृत गंगा लहरी, उत्तमचन्द भण्डारी कृत नाथ-पंथियों की महिमा, उमेदराम कृत ब्रह्म कवच, चैनरामकृत जानकी सहस्रनाम, मानसिंह कृत नाथ पुराण, रसपुंजकृत कवित्त श्री माताजी का तथा श्यामराम कृत दुर्गा विनोद महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही रीतिकालीन जड़सामन्तवाद, प्रगतिगामी सामन्तवाद से टकराया। श्रमिक तथा कृषकों के सिसकते जीवन का नेतृत्व शिवाजी, छत्रसाल तथा सूरजमल ने किया। विदेशी सत्ता से टकरा कर तत्कालीन जीवन के अस्तित्व रक्षण की प्रक्रिया में राष्ट्रीय एकता के भाव की परियोजना ने महत्वपूर्ण प्रेरणा दी। पुनः शक्ति संचय के प्रयत्न इसीलिए देसी रियासतों और राज्यों में हुए। फल-स्वरूप कवियों ने पुनः शक्ति के गीत गाए, पर उनका आधार परम्परा की रक्षा और सांस्कृतिक अभिरक्षण ही बना रहा। सूरजमल कृत वंश भास्कर, जीवनलाल कृत गंगाशतक, दुर्गाचरित्र, गणेशपुरीकृत वीरविनोद, गुलाब जी कृत रुद्राष्टक, गंगाष्टक, शारदाष्टक, दुर्गास्तुति, मुरारिदान कृत वंश समुच्चय, जगदीशलाल कृत महावीर अष्टक, रामनाथ कृत शिवाष्टक, सतीचरित्र, शंभुशतक, दुर्गाष्टक, जयदेवकृत राधाशतक तथा अन्य फुटकर कवित्त शक्ति के लोकरक्षणमूलक राष्ट्रीय संगठनात्मक रूप को लेकर आगे चले हैं।

रीतिबद्ध कवियों में मंगलाचरण के रूप में ही शक्ति के दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी अथवा काली रूप का चित्रण हुआ है। सेनापति तथा गंग में इसी प्रकार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। परकीयातत्व के परिग्रहण से गोपीभाव तथा तज्जन्य रसिकता का प्रभाव राधातत्व और सीतातत्व पर देखा जा सकता है। देवी भागवत वर्णित सीता-राधा रूप प्रतिष्ठा के समानान्तर न होकर यह चित्र सहजिया सम्प्रदाय की धारणाओं के अवशेष रूप प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में शक्ति उपासना, पौराणिक तान्त्रिकों की चमत्कारपूर्ण जीवन गाथा, अस्तित्वमूलक धारणा, लोक-रक्षण तथा लोकरंजन की प्रवृत्ति को लेकर चली है। दुर्गासप्त-शती के अतिरिक्त तन्त्रोक्त दश महाविद्याओं का स्वरूप निर्धारण करने वाले तथा सृष्टि पक्ष पर विचार करने वाले कवि अत्यन्त विरल हैं, सभी ने शिव-पार्वती के मंगल आख्यान का ही कथन अधिक किया है। तन्त्रोक्त शाक्त-साधना के प्रतिपादनों में रीतियुग में केवल कुलपति मिश्र की दुर्गाभक्ति चन्द्रिका का नाम लिया जा सकता है। तन्त्रोक्त नाद प्रक्रिया और दश महाविद्या निरूपण सर्वप्रथम 'चन्द्रिका' के उत्तरार्द्ध की रचनाओं में मिलता है। उक्त दो विधान समयाचारी साधकों के प्रमुख लक्ष्य रहे हैं। अतः गुरु कृपा से प्राप्त इस रहस्यात्मक विधान का उल्लेख कवि ने वशीकरण, आकर्षण, उच्चाटन आदि सिद्धियों के लिए 'चन्द्रिका' में किया है। देखिये :

'छोभिनि अरु आकर्षिणी, करतिवश्य उन्माद,
महा अंकुसाखेचरी बीज जोनि मुद्रादि।
तिहु पुर मोहन चक्र में रखवारे चालीस,
जो निश्चलचित ह्वै छुटै तोरोकत कमलीस।
दसों महाविद्यारु बहु बरनै अंग विलास,
इह ठां कुलपति मिश्र नौ गुरु ते होइ विकास—' —दुर्गाभक्ति चंद्रिका

अब इस स्थल पर हम कुलपति की शक्ति साधना पर विचार इन्हीं दो प्रमुख सन्दर्भों में करेंगे।

कुलपति की शक्ति साधना

कुलपति ने दुर्गासप्तशती का अनुवाद, पाठ की रीति तथा अर्गला-कवच, कीलक आदि का विधान दुर्गाभक्ति चन्द्रिका में दिया है। वह इस कृति को लौकिक और पारमार्थिक सिद्धि का साधन मानते हैं।[1] मार्कण्डेय पुराण सम्मत आख्यान को कवितावद्ध कर कवि ने परम्परा का पालन 'अनुवाद काव्य' की दृष्टि से किया है, किन्तु उत्तरार्द्ध में दस महाविद्याओं के स्वरूप का निर्णय प्रस्तुत करते हुए कवि ने अपनी तन्त्र प्रधान दृष्टि का परिचय दिया है। कवि स्वतन्त्र कथन की अपेक्षा शास्त्र वाक्य को आधार मान कर चला है।

अहिर्बुध्न्य संहिता में बहुधा विभाजित माया के रूप में इसी पराशक्ति की प्रतिष्ठा की गई है।[2] इसी को परावाक् कहते हैं। महार्थ मंजरीकार ने इसे सूक्ष्मा कहा है। सप्तशती में 'चितिरूपेण या कृत्स्नं एतद् व्याप्यस्थिता जगत्' कह कर इसकी व्यापकता का परिचय दिया गया है। वाग्रूपिणी भगवती चैतन्य प्रदातृ होने के कारण 'सा नो मन्द्रेषमूर्ज दुहाना, धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु' के रूप में निर्विकल्प ज्ञान देने वाली है, इसीलिए मन्त्रों में मूलाक्षर रूप से रहने वाली मातृका, शब्दों में ज्ञान, ज्ञान में चिन्मयातीता तथा शून्य साक्षिणी रूप अजा का 'अण्डमध्ये (हिरण्यगर्भ-ब्रह्म) प्रधानादि कार्यजातमभूत्रूप, महाभूतात्मकं सर्व जगत्स्थावर जंगमम्'—रूप में चित्रण शास्त्रों के अनुरूप ही कवि ने प्रस्तुत किया है :

'पूरन काम करैं जन के दुख पुंज हरैं जग को सुख दानी,
अक्षर होत हैं मंत्र सबै जे रटैं रसना तुव नाम को बानी।
कीजै कृपा यति को जु कहैं अब वर्णन की कविता रस सानी,
चेतन जाते कहावत ब्रह्म सु ब्रह्म में चेतनता तू भवानी।'

इसी प्रकार त्रिपुर सुन्दरी की संस्तुति के लिए भी कवि ने आचार्य शंकर प्रणीत सौन्दर्य लहरी का आश्रय लिया है। शंकराचार्यकृत 'अशेष ब्रह्माण्ड प्रलय विधि नैसर्गिक मतिः, श्मशानेष्वासीनः कृत-भासित लेपः पशुपतिः। दधौ कंठे हालाहलमखिल भूगोल कृपया भवत्याः संगत्याः फलमिति च कल्याणि कलये'—श्लोक की छाया से संवलित कुलपति की निम्न संस्तुति देखिए :

'व्याल गरैं दृग लाल करैं निस द्यौस चबात रहै गर को,
भूत भयानक संग फिरैं समसानहिं मानत हैं घर को।
रारि सदा सब ही सौं करैं न डरैं वह जानत तौ वर को।'
नित सुन्दरि तू हो कटाछ पियूष सौं सींचि के ज्यावत है हर को।

माण्डूक्योपनिषद् में नाद रूपा शक्ति अपर प्रणव रूप धारण करने के कारण ब्रह्म की चेतनता कही गई है। शिव शक्ति की क्रियाशक्ति बिन्दु कहलाती है। शुद्ध बिन्दु को महाबिन्दु महामाया तथा

---

१. **'याते अवर न जगत में नुति दूजी है कोइ।**
संतति संपति रिपु विजय सुमिरत कविता होइ।'

२. **'देवते परं ज्योतिरेक एव परः पुमान। स एव बहुधा लोके मायया भिद्यते स्वया,**
सर्वभावात्मिका लक्ष्मीरहंता पारमात्मिका, तद्धर्म धर्मिणी देवी भूत्वा सर्वमिदं जगत्।

अशुद्ध बिन्दु को माया कहते हैं। शक्ति तथा बिन्दु का सम्बन्ध भेद ज्ञान कहलाता है। इसी भेद ज्ञान के सहारे शुद्ध बिन्दु में शिव क्षोभ उत्पन्न करते हैं, जिससे शब्द और अर्थ की दो धारायें चलती हैं। इन दोनों की पृथक्-पृथक् चार अवस्थायें परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी होती हैं। इन दोनों का कारण बिन्दु अचित कहलाता है। भेद ज्ञान समाप्त होने के बाद ही शिव का साक्षात्कार होता है। शक्ति और शिव के अद्वय से सामरस्य बिन्दु का आविर्भाव होता है। इसमें तदनुरूप चैतन्य स्फुरित होता है। इस बिन्दु को पूर्ण गिरि पीठ तथा चैतन्य को बाण लिंग कहते हैं, यही पश्यन्ती वाक् की स्थिति है। पराशक्ति काम रूप पीठ में आत्मगर्भस्थ विश्व की नित्य स्थिति की द्रष्टा है। भेद ज्ञान न होने से यह विक्षोभ रहित है। यहाँ से शब्द के साथ इच्छा का उन्मेष होता है। देश और काल की सीमायें यहीं से प्रारम्भ होती हैं। यहाँ ज्ञान शक्ति का उदय होता है। इसी बिन्दु रूप भूमिका को जालन्धर पीठ कहते हैं। इस बिन्दु से अभिव्यक्त चैतन्य को इतर लिंग कहते हैं। मध्यमा वाक् का जन्म यही होता है। अन्तर्मुखी आकर्षण की बाह्याभिव्यक्ति के लिए यहीं से क्रिया शक्ति सचेष्ट होती है, इसे उड्डीयान पीठ तथा तज्जन्य चैतन्य को परलिंग कहते हैं। इसकी अभिव्यक्ति वैखरी कही जाती है। पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी को इच्छा, ज्ञान, क्रिया तथा प्रणय के अ, उ, म कहा जाता है। ओम्, उमा, शक्ति के अस्तित्व और शक्तिमान का प्रतीक है। यह त्रिकोणात्मिका आद्या शक्ति त्रिपुर सुन्दरी या श्री विद्या कही गई है।[१] इस त्रिकोण की तीन रेखायें पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी तीन प्रकार के शब्द या इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप तीन शक्त्यंश की प्रतीक है। त्रिकोण का मध्यबिन्दु परावाक् अथवा अम्बिका और शान्ता इन दो शिव शक्त्यंश का साम्य भावापन्न रूप है, इसी बिन्दु समन्वित त्रिकोण से वाह्य जगत् का आविर्भाव होता है।[२] अथर्ववेद के एक सूक्त में इसका उल्लेख 'यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः वत्सः कामदुघो विराजः सगुहा चक्रे तन्वः परावैः' मंत्र में हुआ है। यह त्रिभुजाकार योनि शक्ति का प्रतीकात्मक आधार है और विराज इस त्रिभुज में स्थित बिन्दु रूप शिव का प्रतीक।

शाक्त चिन्तन में सृजन प्रक्रिया का श्रेय शक्ति को है। शिव तटस्थ भाव से आत्मशक्ति की लीला देखते हैं। पराशक्ति शिवयुक्त होकर परम शिव के रूप में सामरस्य लाभ भी करती है और अभिव्यक्त होकर विश्व के आविर्भाव का बीज भी बनती है। ध्वनिवादी शिव को 'अ' तथा शक्ति को 'ह' (क्रमशः अग्नि और सोम) कहते हैं और इनके सामरस्य को अहं कहते हैं। साम्य भंग होने पर यही अहं अथवा बिंदु शुक्ल और रक्त रूप में बदल जाता है। इसी को संवित् चैतन्य अथवा चित्कला कहा गया है। अग्निरूप शिव से पराशक्ति द्रवित होकर अमृत स्नान करती है, जिसे ब्रह्मानन्द स्वरूप कहा जाता है। यह अंश शक्तिभाव के प्राधान्य के कारण पुष्टि प्राप्त करता है, इसी तेज रूप बीज से नाद ध्वनित होता है। इस नाद में सृष्टिभूत बीज रूप से निहित रहते हैं। नाद अभिव्यक्त होकर त्रिधारात्मक आधार ग्रहण करता है। विमर्श अथवा पराशक्ति का शरीर यही त्रिकोण है। इसमें प्रकाश शुक्ल बिन्दु अथवा सोम रूप है तथा विमर्श अग्नि रूप लाल बिन्दु है। दोनों का समभाव परमात्मतत्व का द्योतक है।

---

१. सैव पराशक्ति—सैव पुरत्रयं शरीर त्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती महा त्रिपुर सुन्दरी व प्रत्यक् चितिः।

२. शक्ति साधना : महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज : शक्ति अंक, पृष्ठ ५८।

इसे काम कहते हैं। सिद्धों ने इसी को कुलिश कहा है। अग्नि और सोम, काम की कलायें हैं। इन तीनों का समन्वित रूप आद्या शक्ति का अमूर्त विग्रह है। इस त्रिकोण का मध्यविन्दु शक्ति का मुख अग्नि और सोम बिन्दु स्तन युगल तथा सम्मिलित त्रिकोण की 'ह' रूप भुजाएँ योनि रूप में कल्पित हैं। यह शिव शक्ति के सम्मिलन से उत्पन्न लीला रूप तरंग की परिचायक हैं। तीनों प्रान्तों के बिन्दु स्थूल, सूक्ष्म और कारण कहे जाते हैं। जब ये तीनों बिन्दु अन्तर्मुखी होते हैं, तब रेखा रूप में अन्तर की ओर प्रवाहित महाबिन्दु में सिमट जाते हैं। इसे तुरीय बिन्दु अथवा महाकारण बिन्दु कहा जा सकता है। इसी केन्द्र बिन्दु में शिव-भक्ति का मिथुन अनादि काल से चल रहा है। सिद्ध और बौद्ध योगियों की 'युगनद्ध' अवस्था का रहस्य यही है। त्रिबलया कारा कुण्डलिनी स्फोट इसी रूप का अन्तर्मुखी कारण है। शक्तिमार्गी शब्द के अनुसन्धान को साधना का मूल सूत्र मानते हैं। बिन्दु रूपा कुण्डलिनी स्वातन्त्र्य शक्ति से विक्षुब्ध होकर नाद विकसित करती है। सन्तों में गुरुकृपा, वैष्णवों में पुष्टि या अनुग्रह तथा शाक्तों में यह प्रक्रिया शक्ति-पात पर आधारित होती है। पूर्ण चैतन्य सम्पत्ति के लाभ के लिये इसे उद्‌बुद्ध किया जाता है। षट्चक्र अज्ञान अथवा आवरण के द्योतक हैं, जिनके क्रमिक भेदन द्वारा बिन्दुभूमि प्राप्त होती है। बिन्दु अर्ध रोधिनी नाम से प्रसिद्ध है, नाद इसी चक्रभेद से उत्पन्न होता है, यद्यपि साधना की दृष्टि से यह कठिनतम मार्ग है, नाद चैतन्य का सूचक है, इसी के द्वारा मनोराज्य के अन्त होने पर पराशक्ति का साक्षात्कार होता है। देवी चक्र इसी साधना का संकेतात्मक रूप है। यह पराशक्ति समस्त शक्तियों का मूलाधार है, अतः सर्व सुख प्राप्ति के लिए इस प्रक्रिया की मानसिक धारणा परम महत्व रखती है। कुलपति के शब्दों में सुनिए :

'मूलाधार अनाहत बाणी, सुनि कै जगी सुषुमणा नाडी।
वा मुख तें धुनि द्वैविध पाई, वर्णमयी धुनि रूप कहाई।'

इसी प्रकार महाभाव दल पर संस्थित सरस्वती की उपासना और ध्यान का फल भी कवि ने नाद प्रक्रिया सम्मत प्रस्तुत किया है :

'व्योम इंदु बस दल पंकज लहि, बर्ण आठ, आठौं पत्रनु चहि,
द्वै द्वै सुर केसरनि गनावौं, सब बरनन सों वृत्त बनावौ
मध्य मातृका सरसुति ध्यावौ, मनोवांछित फल तबही पायौ,
भाल शशिकला लोचन तीन, जटा उजलता लीनी बीन,
वरनु पचासन देइ बनाइ, उरज भार लचकत छवि पाइ,
पक्ष अक्ष मालारु हस्त वर, पुस्तक अमृत कलस वायें कर,
कुंद कपूर सुधा सम तन छवि, पद्मासन जुत ध्याइ होइ कवि,
कवि पण्डित यश सौं जीवै बहु, धनपति होई धनद दूजौ बहु।'

शक्ति का स्फुरण वाला चैतन्य अंश ही शिव और शक्तिमान है। अतः नादरूपा चैतन्य शक्ति का निरूपण 'मूलाधार अनाहत वाणी' तथा 'ब्रह्म में चेतनता तू भवानी' पदों में कवि ने किया है। शेष सप्तशती के प्राधानिक, वैकृतिक तथा मूर्त्ति रहस्य का वर्णन कवि ने चन्द्रिकों के उत्तरार्द्ध में

प्रस्तुत किया है। 'दुख भय दारुण रोग दूरि करि' की भावना से प्रेरित होने के कारण कवि ने इन रहस्यात्मक मुद्राओं के ध्यान को लौकिक अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि में सहायक माना है।

कुलपति की तन्त्रनिष्ठा और दश महाविद्यानिरूपण

निगमोक्त विराड् विद्या आगम में महाविद्या नाम से प्रसिद्ध है। विश्वरूप प्रजापति दशावयव होने से दशाह, दशहोता, दशाक्षर नामों से भी व्यवहृत होता है। कौशीतिकी ब्राह्मण में प्रतिष्ठा दशमहः (२७।२), शतपथ मे दशाक्षरा वै विराट् (१।१।१), तैत्तरीय में यज्ञों वै दशहोता (२।२।१।६) कह कर उक्त तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। 'न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्'—इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार एक अक्षर कम हो जाने पर भी विराट् का विराट्पना अक्षत रहता है। सबसे पहले शून्य बिन्दु था, जिसका अर्थ पूर्ण है, यह ब्रह्माक्षर का उन्मुख रूप है, इसी से ९ अक्षर का विराट् उत्पन्न हुआ। पूर्वोक्त विराट ९ अक्षर का है, इसीलिए ९ संख्या की प्रधानता है। प्रथम शून्य बिन्दु होने से ९ की समाप्ति पर एक के सम्बन्ध से वही शून्य दस बन जाता है। संख्याओं के गुणन में अन्ततोगत्वा ९ रह जाता है। १०वाँ वही पूर्णरूप है, उसी को महाकाल या विश्वातीत परात्पर कहते हैं। उस शून्य रूप पूर्ण पुरुष के पेट में ९वाँ अक्षर विराट् रूप यज्ञ पुरुष समाविष्ट है। उसी पूर्ण रूप को १०वाँ प्रतिष्ठा नामक अहः कहते हैं। १० संख्या में एक का स्वतन्त्र विभाग है, वही बिन्दु है, ९ का स्वतन्त्र विभाग विराट् है। इस प्रकार निगमोक्ता सृष्टि विद्या १० भागों में विभक्त है अर्थात् एक ही पुरुष १० भागों में विभक्त हो रहा है। यह पुरुष का शक्ति प्रपंच है जो दशधा विभाजित है, यही दशधा प्रकृति महाविद्याएं हैं। आगम-शास्त्र में इन्ही की प्रतिष्ठा है। महाकाली, अग्रतारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी धूमावती, बगलामुखी, मातंगी और कमला, ये नाम इन महाविद्याओं के है। कुलपति ने इनका क्रमशः निरूपण चन्द्रिका के उत्तरार्द्ध में किया है।

शाक्त प्रमोद कालीतन्त्र के अनुसार तथा तारातन्त्र के अनुसार कुलपति ने 'मुंडमाल भूषित सरीर नाचति अति सहमति, चढ़ि पिसाच के कंध बहुत लै संग महि भ्रमति। विकराल वदन अति घोर रूप, सिर छुटे वेस भुज चारि रूप। असि महि रक्त अरु चाप हाथ, विवि वरद अभय मुद्रा सनाथ' कहकर काली का निरूपण किया है।

शाक्त प्रमोद के छिन्नमस्तातन्त्र के अनुरूप ही कुलपति ने 'वपुलस इव रस सोरह नवीन, उपवीत नाग कुच उच्च पीन। विपरीत सुरत रति काम पीठ, बर्ननी डाकिनी संग ईठ। बर्ननी लाल रंग छुटे केस, प्रत्यंग वसन बिनु मधुर भेस। मुद्रिका मुख्य युत अकल ध्यान, अब कलातीत कटि सुख निधान। इहं भाँति छिन्न मस्तकहि ध्याइ, याही शरीर भवपार जाइ' छिन्नमस्ता का निरूपण किया है।

शाक्त प्रमोद, तन्त्र में 'विवर्णाचंचला दुष्टा दीर्घा च मलिनाम्बरा, विमुक्त कुन्तला वै सा विधवा विरलद्विजा, काकध्वज रथारूढ़ा विलम्बित पयोधरा, शूर्पहस्ताति रुक्षाक्षी धृतहस्ता वरान्विता' लक्षण के अनुरूप ही कुलपति ने 'विवर्ना महाचंचलास्यां रूपा, बड़ी वस्त्र मैले लये हाथ सूपा। छुटै कैस रुखे फटे दाँत कड्ढै, चढ़ी रथ्य पै दुज्जनो भीत बड्ढै। महे हाथ में भूत को दीठि रूखी, बड़े रुख से रोम या सीरु भूखी' कह कर धूमावती का निरूपण किया है।

शाक्त प्रमोद के बगलामुखी तन्त्र वर्णित 'जिह्वाग्रमादाय करेण देवी बामेन्शत्रून परिपीड़यन्तीम'

"देवी त्वच्चरणाम्बुजार्चनकृते यः पीतपुष्पांजलि", "तस्यामित्र मुखस्यवाचि हृदये जाड्यं भवेत्तत्क्षणात्", आदि श्लोकों के समान ही कुलपति ने भी 'रंग पीत साजि आसन दुकूल, करिपीत ध्यानु दै पीत फूल, घन प्रलय अस्त्र की नोंक धार, खल बुद्धि जीभ बाँधहु अपार" पद द्वारा बगलामुखी का वर्णन किया है। इसी प्रकार "श्यामां शुभ्रांशु मालां' के अनुरूप 'वचन लाज सोभा ससि वदनी, बाला काम सकति दुख कदनी, लक्ष्मी मांतगेश्वरि भज कवि" कह कर कवि ने मातंगी का निरूपण किया है।

शाक्त प्रमोद के भुवनेश्वरी तन्त्रोक्त 'बालरविद्युतिमिन्दु किरीटां तुंग कुचां नयनत्रय युक्ताम्" वर्णन के अनुरूप ही कवि ने "परभात सूरज भास, सिर विमल ससि परकास, दृग तीन जीतनि भीन, भुज चार कुच उर पीन, कर पास अंकुस वरद, भय हरित ज्यों पर करद, तन लता अति सुकुमार, लचकति चलति कुच भार" कह कर भुवनेश्वरी के ध्यान का वर्णन किया है। "वाणीज विमल शशि सत्वरूप, रुचि नील काम मोहन अनूप, छवि हेम सकति सुख साज देइ, सब सुगम लेहि बालाहि सेइ" वर्णन में "नीलग्रीवो विलोहितः" तथा 'नील विशाल पिंगल जटाजूटैकनागैर्युता", जैसे लक्षण काम कर रहे हैं।

भैरवी तन्त्रानुमोदित 'उद्यद्भानुसहस्र कान्तिमरुणां **क्षोमांशिरो** मालिकां--वर्णन से प्रभावित होकर कवि ने "महालक्ष्मी तुव प्रभारस, वाणी सुनत महेश, करन लगे कवि काम कै रजधरि भैरव भेस, तुव सुदृष्टि सों सूर ससि, विधि क्षिति अनल मिलाप, व्यापिनि व्योम अनन्त तू देवि दूर करि पाप" आदि दोहों में भैरवी का वर्णन किया है।

कमलातन्त्रोक्त "कान्त्याकांचनसन्निभां हिमागीरि मुख्यैः चतुर्भिर्गजैः" वर्णन के आधार पर कवि ने "अति अरुण कमल आसन बनाइ, तहँ तपत काक छवि तन लखाइ, मणि जटित कलस पीयूषधार, सीचत सु अंग हिय भुजा चार, सिर स्वच्छ मुकुट अरु तीन नैन, मुस्कान सहस ससि उदित ऐन"--कह कर रमा या कमला का चित्रण किया है।

अन्त में तन्त्रसार वर्णित "मुक्तापीत पयोदमौक्तिक जवावर्णैर्मुखैः पंचभिः' के अनुसार तथा षोडशी तन्त्रोक्त "बालार्क मण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम्। पाशांकुशशरांश्चापं धारयन्ती शिवां भजे" के अनुरूप कवि ने लगभग ६० पद्यों में त्रिपुर सुन्दरी के स्वरूप और महात्म्य का वर्णन किया है। आचार्य शंकरकृत "वृषो वृद्धो यानं विषयशनकाशा निवसनं" तथा "दधौ कण्ठे हालाहलमखिल भूगोल कृपया" "श्मशानेष्वासीनः कृत भसित लेपः पशपतिः" आदि विरोधी वर्णनों के आधार पर कवि ने भी "त्रिपुरा के चरन सरोजनु कौ बरनत" "आनन तेरो सुधा सरसीरुह" "व्याल गरै दृग लाल करै" तथा "भूत भयानक संग फिरै" जैसे पद लिख कर त्रिपुर सुन्दरी की महिमा का गान किया है। सरल सृष्टि विधायिका रूप में ही कवि ने इसका चित्रण किया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कवि ने महाविद्याओं का निरूपण तन्त्राधार पर किया है। दुर्गा भक्ति चन्द्रिका के सर्वेक्षण से तो कवि की तन्त्र निष्ठा में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता उनकी तन्त्रात्मक दृष्टि के स्पष्टीकरण के लिए उक्त विवेचन को हम पर्याप्त समझते हैं।

*

रीतिकालीन वीरकाव्य 'दिग्विजय'

⊙

प्रो० नर्मदाप्रसाद गुप्त

रीतिकाल में वीरकाव्य-परम्परा का विशेष महत्व है। शृंगारकाव्य भोगमूलक दृष्टि के कारण जीवन के अलस पक्ष से संबद्ध है, परन्तु वीरकाव्य जागरूक जीवन का काव्य है। यद्यपि जिस प्रकार शृंगार-काव्य आश्रयदाताओं के रंजन के लिए रचा गया, उसी प्रकार वीरकाव्य भी उनकी प्रशस्ति में लिखा गया, तथापि शृंगारकाव्य में तत्कालीन ह्रासोन्मुखी संस्कृति के चित्र अंकित हुए हैं जबकि वीरकाव्य में उत्साह-पूर्ण वातावरण के निर्माण की चेष्टा है। उसमें देश की रक्षा का संकल्प, स्वाधीनता की भावना, अशिव तत्वों के प्रति विद्रोह और विजय की आस्था के मिले-जुले स्वर झंकृत हुए हैं। इस नई ऊर्जा और शक्ति से सम्पन्न काव्य का उचित मूल्यांकन आवश्यक है। अब तक समीक्षकों की दृष्टि इस ओर नहीं गई है और शायद इसका प्रमुख कारण वीरकाव्य-ग्रंथों की संख्या का कम होना है। यदि बुन्देलखण्ड के ग्रंथागारों में खोज की जाए तो अनेक ग्रंथ प्रकाश में आ सकते हैं और तब संभव है कि हमें इस तथ्य को स्वीकार करना पड़े कि रीतिकाल में वीरकाव्य का उतना ही महत्व है जितना कि शृंगार काव्य का। इस सम्भावना की पुष्टि के लिए कवि 'हरिकेश' की कृति 'दिग्विजय' प्रस्तुत की जा सकती है।

हिन्दी के इतिहासकार और 'दिग्विजय'

मिश्रबंधुओं ने मिश्रबंधु-विनोद प्रथम भाग, पृ० ११५, ११८ में सबसे पहले कविवर 'हरिकेश' की चर्चा कुछ विस्तार से की है, परन्तु उसमें 'दिग्विजय' का कोई उल्लेख नहीं मिलता। भाग २ (६६१) में खोज रिपोर्ट के आधार पर 'महाराज जगतसिह 'दिग्विजय' का नाम दिया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'हरिकेश' का नाम तक नही है। पं० गौरीशंकर जी द्विवेदी ने 'बुन्देल वैभव' में 'जगतराज की दिग्विजय' ग्रंथ 'हरिकेश' द्वारा रचित बतलाया है, पर उसके संबंध में कोई टिप्पणी तक नहीं दी। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने भी खोज रिपोर्ट और मिश्रबंधु विनोद का आधार लिया है। हस्तलिखित ग्रंथों की सूची द्वितीय भाग पृ० ६१८ में 'जगतराज दिग्विजय' लिपि काल सं० १९५६ दिया गया है। इस प्रकार 'दिग्विजय' का उल्लेख भर हुआ है, उसका महत्वांकन नहीं।

रचना-काल

ग्रंथ में उसके रचयिता और रचना-काल के संबंध में कुछ भी नहीं मिलता। अनेक छंदों में दी हुई छाप और ग्रंथ के अंत में लिखित पंक्तियों से इतना स्पष्ट है कि ग्रंथ के रचयिता कवि 'हरिकेश' द्विज थे। 'बुन्देल वैभव' में उन्हें महाराज छत्रसाल का दरबारी कवि माना गया है, परन्तु 'दिग्विजय' के अनुसार वे

पन्ना छोड़कर महाराज छत्रसाल के पुत्र जैतपुर-नरेश महाराज जगतराज के आश्रय में आ गये थे। वहीं उन्होंने अपने ग्रंथ की रचना की। ग्रंथ के अंतिम छंदों में कवि स्वयं कहता है कि उसने अपनी रचना महाराज जगतराज को सुनाई थी और महाराज ने प्रसन्न होकर उसे हाथी-घोड़े, हीरे-जवाहरात और ग्राम आदि भेंट किए थे :

ताही समय हरिकेश पढ़ि दिग्विजय श्रवण कराय।
सुन महामति जगनेश तब क्षण सुतन समेत उराय॥ (छंद सं० ८३२)
दिय साजि सजि कुंजर विजय गज विजय बाजी बाज दे।
जिहि नाम जाहिर विजयपुर सो गाँव ठाँव दराज दे॥ (छंद सं० ८४२)

स्पष्ट है कि ग्रंथ की रचना जगतराज के जीवन-काल में ही हुई थी। ग्रंथ में जगतराज द्वारा दलेल खाँ के मारे जाने का वर्णन है और उसका समय अगहन सुदी २, संवत् १७७६ दिया गया है। उसके बाद जगतराज की प्रयाग, काशी, मांडौ, रीवा आदि राज्यों की यात्रा का वर्णन है। मंगलगढ़ दुर्ग की नींव डालने का समय जेठ सुदी १०, सं० १७७७ दिया है। अतएव निश्चित है कि ग्रंथ की रचना सं० १७७७ के बाद में हुई होगी। बुन्देलों के इतिहास में मुहम्मद खाँ बंगश के आक्रमण, जोकि १७२४ ई० से १७२८ ई० तक हुए, अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। बंगश ने जगतराज की राजधानी जैतपुर पर घेरा डाला था और दुर्ग को अधिकार में कर लिया था। इस घटना का वर्णन इस ग्रंथ में आवश्यक था क्योंकि उन हमलों के बीच भी जगतराज ने अद्भत वीरता दिखाई थी परन्तु उन घटनाओं की कोई चर्चा इस ग्रंथ में नहीं है। इस प्रकार ग्रंथ का रचना-काल संवत् १७७७ और संवत् १७८१ (ईसवी १७२४) के बीच सं० १७७९-८० के लगभग होना संभव है।

कथावस्तु और उसकी ऐतिहासिकता

प्रस्तुत प्रति के आरम्भ में कवि ने अब्दुल समद की लड़ाई का वर्णन ३२ पृष्ठों में किया है। इस युद्ध के नायक महाराज छत्रसाल हैं और दिग्विजय से इसका संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। मूल पुस्तक 'अथ दिग्विजय लिख्यते' से प्रारंभ होती है। वहाँ से पृष्ठ संख्या १ आरंभ हुई है। इस विवेचन में मैं केवल दिग्विजय को ही लूंगा परन्तु यह भी संकेत देना चाहूँगा कि कवि ने छत्रसाल के संबंध में और भी लिखा होगा जो अब तक उपलब्ध नहीं हो सका।

इस प्रबंध काव्य की मुख्य घटना दलेल खाँ का युद्ध है जो कि बुन्देलखण्ड के इतिहास की महत्व-पूर्ण घटना है। दलेल खाँ इतिहास प्रसिद्ध वीर पठान दिलेर खाँ है जो कि बुन्देलखण्ड में बुन्देलों का दमन करने के लिए भेजा गया था और जिसने बुन्देलों को कालपी से खदेड़ दिया था (महाराजा छत्रसाल बुन्देला: डा० भगवानदास गुप्त पृ० ७८)। अंतिम युद्ध मौधा (मौदहा, जिला हमीरपुर, उ० प्र०) में जेठ बदी ३०, सं० १७७८ (मई १५, १७२१ ई०) को हुआ और दिलेर खाँ मारा गया (महाराज छत्रसाल बुन्देला : डा० भगवानदास गुप्त पृ० ७९ का फुटनोट क्रम १२)। अतएव घटना की ऐतिहासिकता में कोई संदेह नहीं रह जाता। अंतर केवल इतना है कि इतिहास के ग्रंथों में जगतराज और दिलेर खाँ के बीच केवल एक युद्ध का वर्णन है जबकि 'दिग्विजय' में दो प्रमुख युद्धों का। पहला युद्ध गहबरौ में हुआ जिसमें जगतराज

घायल होकर मूर्च्छित हुए और उनकी रानी विजय कुँअरि को रणक्षेत्र में उतरना पड़ा (दिग्विजय पृ० २४-२५)। कवि ने लिखा है कि इस युद्ध में महाराज छत्रसाल के अन्य पुत्र हिरदेशाह, अंगद, शालिवाहन आदि ने भी सक्रिय भाग लिया। इससे दिलेर खाँ का शौर्यसम्पन्न व्यक्तित्व निखर उठा है। अपने घायल पति को युद्ध से छीन लाने के लिए रानी विजयकुँअरि सैनिकों को उत्साहित करती है और चंडी की तरह शत्रुओं के सम्मुख संग्राम करती है। रानी की वीरता स्तुत्य है और जगतराज को घायल अवस्था में वापिस ले आना वीरता की अद्भत गाथा है। यह प्रासंगिक घटना ऐतिहासिक भी हो सकती है और काल्पनिक भी। इतिहास में इस तरह की (कोई) घटना का वर्णन नहीं है। इसी से मिलती-जुलती घटना लगभग १७२८ ई० (सं० १७८५) की जैतपुर घेरे की है। बंगश से जगतराज ने विकट युद्ध किया था और उनके घायल शरीर को महारानी जैतकुँअरि शत्रुओं से छीन लाई थीं। उनकी अद्भुत वीरता पर प्रसन्न होकर महाराज छत्रसाल ने उन्हें दो परगने इनाम में दिए थे (महाराजा छत्रसाल बुन्देला : डा० भगवान दास गुप्त पृ० ८६)। परन्तु कवि ने केवल सं० १७७७ तक की घटनाओं का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है, उसके पश्चात् घटित घटनाओं का वह साक्षी नहीं रहा। यदि वह इस घटना का दर्शक रहा होता तो इस रोमांचक घटना को भी निश्चित समेट लेता। अतएव विजयकुँअरि से संबंधित घटना भी ऐतिहासिक है। यदि कल्पित भी हो तो उसमें ऐतिहासिक संभावना निहित है।

जगतराज चेतना पाते ही दिलेर खाँ को युद्ध का संदेश भेजते हैं और परिणामस्वरूप दूसरा युद्ध मौधा में होता है। दिलेर खाँ युद्ध की तैयारी करता है, उसके सहायक उसे मना करते हैं। उसे अशुभ स्वप्न होता है फिर भी वह युद्ध के मैदान से पीठ नहीं दिखाता। सहायकों का मना करना, स्वप्न में अशकुन आदि का वर्णन रूढ़ि का पालन करने के लिए ही योजित किये गए जान पड़ते हैं। अंत में दोनों ओर की सेनाओं का जमघट, जगतराज की प्रतिज्ञा और दिलेरखाँ का लड़ते हुए मारा जाना आदि स्वाभाविक हैं। विजयोपरान्त जगतराज प्रयाग, काशी, मांडा, पाथरकछार, चित्रकूट, बाँदा आदि की यात्रा करते हैं। लौटने पर महाराज छत्रसाल उनकी प्रशंसा कर उन्हें खिलअत देते है। वास्तव में कथा यहीं समाप्त हो जाती है पर कवि ने मंगलगढ़ की नींव का वर्णन कर और विस्तार दे दिया है। कवि ने प्रसंगवश चन्देलों और बनाफरों की उत्पत्ति तथा उनसे संबंधित कुछ घटनाओं के संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किए है। वे ऐतिहासिक होते हुए भी कल्पना के आधार पर लिखे गए हैं। उनके प्रेरणास्रोत जनश्रुतियाँ रही है। इन वर्णनों से मुख्य कथा की ऐतिहासिकता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

'दिग्विजय' में प्रस्तुत कथा से ऐसा लगता है कि इतिहासकारों को अपने तथ्यों में संशोधन करना आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि दिग्विजय में दिलेर खाँ के मरने की तिथि अगहन सुदी २, संवत् १७७६ दी गई है—

सत्रा सौ छंहंतरा अगह शुध बुध दोज।
मौधा में जगनेश नं हनि दलेल तिहि रोज॥ (छंद ३४७)

डा० भगवानदास गुप्त ने यह तिथि संवत् १७७८ दी है। इसका ऊहापोह इतिहासकारों की बात है परन्तु उन्हें उपर्युक्त प्रमाण स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार बुन्देलों के इतिहास में भी दिग्विजय का एक अलग महत्व है।

भाव-सौंदर्य

दिग्विजय वीररस प्रधान प्रबंध काव्य है। उसमें युद्ध, दया, दान, धर्म वीर में युद्ध वीर के वर्णन अधिक हैं। जगतराज दो बार युद्ध करते हैं इसलिए युद्ध-वर्णन का कौशल अनेक छंदों में प्रकट हुआ है। 'लाल' कवि के 'छत्रप्रकाश' में भी इन वर्णनों की बहुलता है पर कवि की इतिवृत्तात्मक शैली के कारण वे इतने जीवंत नहीं हो सके। दिग्विजय के वर्णन इतने सजीव हैं कि उनके मुकाबिले में दूसरे वीर काव्य-ग्रंथों के वर्णन ठहर नहीं सकते। चौपही, नाराच, श्रवणसुखद, पद्धरी आदि छंदो के प्रयोग के कारण वर्णनों में गति आ गई है। बीच-बीच में कवित्त, हरिगीतिका, भुजंगप्रयात आदि वर्णनों में गंभीरता ला देते हैं। युद्ध-वर्णन का एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

धुवां धुंध धाई चहूं ओर कैसें। निहारें परें ज्यों धरा व्योम जैसें॥
कढ़ो कोश तें जोश बाढ़ी कृपाणी। मनौ विज्जुली ज्वालमाला प्रमाणी॥
महा तोपखानें छुटें सो बखानें। चलीं तोपचीं तीर तरवार वानें॥
वरच्छीं उछालीं सुभाले उछाले। करे मारि मीरान के घाव आले॥
लगें बांक जाकें सु बेवांक होवै। तहां खंजरें पंजरें फारि सोवै॥
उलंघें बचें नाहिं जंघें घले तें। तहां पेश कवचान विछुवा चले तें॥
लगें घाव गुरजान के वीर मुरझे गदा घाव के भाव सों मीर सुरझें॥ (छंद १८७ से १८९)

उपर्युक्त पंक्तियों में 'धुवाँ धुंध धाई', 'जोश बाढ़ी', पंजर फारि सोवै' आदि प्रयोग द्रष्टव्य हैं। मानवीकरण, नवीन विशेषण, उत्प्रेक्षा के चमत्कार के द्वारा वर्णन चमत्कारपूर्ण बन गया है; एक ही वजन के शब्दों (कोश-जोश, सुभाले-उछाले, बांक-बेवांक, खंजरै-पंजरै, उलंघै-जंघै, घाव-भाव) से प्रवाह और सौष्ठव आया है। इसी प्रकार सेना सज्जा का वर्णन अत्यंत स्वाभाविक है :

सजि सेन व्यूह अनी घनी। कवि कौन वरणि सकै मनी॥
चतुरंग रंगन सौ बनी। जनु घोर घुमड़ि घटा घनी॥
बहुरंग अंग तुरंग हैं। जहँ जब उमंग कुरंग हैं॥
बहु गजति मत्त मतंग हैं। गिरिराज अंग उतंग हैं॥
फहरें अनेक ध्वजान कीं। लहरें लगें पवमान कीं॥
ठहरें विमान समान कीं। घहरें सुवीर उजान कीं॥
धमकें सुधौंसन की मढ़ी। झमकें सुयोधन की बढ़ीं॥ (छंद १३३ से १३५)

फहरें, लहरें, ठहरें, घहरें, धमकें, झमकें प्रयोग अत्यन्त मधुर और ध्वनिपूर्ण हैं। भिन्न-भिन्न ध्वनियों की आवृति से युद्ध का वातावरण आभासित हो जाता है।

हरिकेश ने कुछ स्थलों पर मनोदशाओं के पूर्ण चित्र अंकित किए है और कहीं एक ही पंक्ति में सब कुछ अभिव्यक्त कर दिया है। दिलेर खाँ के वध के पश्चात् जगतराज महाराज छत्रसाल से भेंट करने महेवा पहुँचे। महाराज छत्रसाल उनसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। हर्ष की व्यंजना कवि ने बड़े कौशल से की है :

उदधि मयंक लखि उमग उछाह भरें कोकनद कोक ज्यों विलोकि भोर भानुकों।
मूक मुख वाणी मया कोविद सुबुद्धि पाय सुकवि कहाय कवि कवित प्रमान कों।

साधक सुसिद्धि पाय सिद्धि पाय हरि जैसें रंक धन पाय शूर समर समान कों।
मुख तनु धारें माया पुर मह विहारें मनों ता समय विलोकें छता जगत दिमान कों।(छंद ७६३)

इस कवित्त में उत्प्रेक्षाओं के माध्यम से महाराज छत्रसाल की आंतरिक मनःस्थिति को व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार कवि एक ही पंक्ति में दिलेर खाँ की विचित्र स्थिति का वर्णन करता है। दिलेर खाँ को जैसे ही सेल लगता है, वह धरती पर गिरकर अपनी तलवार उठाता है। वह घाव के कारण शब्दहीन हो जाता है पर न तो वह हार मानने के लिए तैयार है और न कोई दैन्य भाव उसके मुख पर है—"मार कढ़ै तिहि के मुख सों नहिं, हार कढ़ै नहि, होय न दीनौ।" उसकी विवशता का लघु चित्र बहुत सुन्दर है। भावों के इस चित्रण में कवि की मूल विशेषता यह है कि वह इन छंदों में जहाँ प्रबंध की कथा को गति देता है, वहाँ मुक्तक की रसात्मकता भी भर देता है। ग्रंथ के अधिकांश छंद मुक्तक की स्वतंत्रता, रसवत्ता और कसावट की कसौटी पर खरे उतरते हैं। ऐसे छंदों में कवि भूषण की लीक का अनुसरण करता प्रतीत होता है :

छत्र छत्रसाली कौ तुहीं तौ एक जगतराज राखौ जगतराजी लाली राखी हिन्दुवानें की।
पेश पेशवान की अपेश करि डारी वीर देश रीति राखी प्रीति राखी छत्र बानें की।
बनी ठनी अनी घनी हनी तू दलेल खाँ की धरा पै करी है बिना ठीक औ ठिकानें की।
नौंक राखी हिन्दु की सिपाही की शौक राखी साख राखी आपनी असाख तुरकानें की।
(छंद ३४५)

इस प्रकार के छंद भाव और भाषा की दृष्टि से भूषण के छंदों के समकक्ष रखे जा सकते हैं। भूषण के काव्य में उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक है परन्तु हरिकेश ने हिंन्दी के शब्दों से ही वही ओजमय दीप्ति सुरक्षित रखी है। यह कवि की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है।

चमत्कार की प्रवृत्ति

रीतिकाल में चमत्कार के प्रति सजग रहने की प्रवृत्ति सामान्य थी। दिग्विजय के कवि ने भी चमत्कार पर अधिक ध्यान दिया है। परन्तु चमत्कार भाव के उपकारक रूप में आया है। चुने हुए उपमानों का प्रयोग, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं के प्रति लगाव और अनुप्रास की अतिरिक्त रुचि इस प्रवृत्ति के द्योतक हैं। वर्षा के रूपक में कवि ने रूढ़ि का अनुसरण किया है और इस कारण वह चमत्कार के फेर में पड़ गया है :

आई रितु पावस समान सेन पंचम की वारिधर वीर तलवार जड़ताई है।
कहैं हरिकेश घनें घन से गराजें गज बाजि रव राजें बुंद तीर झर राई है।
तोपन तड़प्प गाज गजब भुशुंडिन की हूकन धुवां की धुंध सिंधु बहुताई है।
जोरें कौन जंग हिन्दु हद्द सों बगोड़ै कौन ओड़ै कौन आज जगतराज की अवाई है। (छंद २४८)

परम्परित रूपकों की योजना कदाचित् प्रबंध-रूढ़ियों के अनुसरण के हेतु की गई है और इन रूपकों की संख्या अत्यल्प है। अधिकांशतः नवीन रूपकों और उत्प्रेक्षाओं का उपयोग हुआ है और उनके द्वारा कल्पना का संयमित तथा अनुभूतिपरक रूप उभरा है। एक मौलिक रूपक द्रष्टव्य है :

छत्रसाल जू के दृग युगल चकोर चारु कटकवेव सिंधु उद्यत उदय भयौ।
कैरव कुटुंब अंबु सुहृद मर्याद वेल वारिचर भृत्य शब्द पूरित जयौ जयौ।
वीची चारु नारि कुल पहर की मरीचीं सीं रतन गनी गइं सो हेलया ठयौ ठयौ।
चन्द्र तें दुचंद जगतराज हरिकेश भनें चारौ ओर सुयश विराजति नयौ नयौ। (छंद ७५५)

सिन्धु के इस रूपक में चकोर, कुमुदनी के पुष्प, जल, बेलि, वारिचर, वीचियाँ, रत्न जगतराज रूपी चन्द्रमा के प्रति सहज आकर्षण रखते हैं। चन्द्रमा के व्यापक संबंधों की कल्पना द्वारा एक सुन्दर सांग रूपक की सृष्टि हुई है। यहाँ कवि का साध्य चमत्कार नहीं है। दिग्विजय में ऐसे रससिक्त अंशों की बहुलता है। उत्प्रेक्षाओं में कवि ने पौराणिक उपमानों का प्रयोग अधिक किया है। कहीं-कहीं उनमें कविता और मौलिकता है--"भुज पर लगीं द्वै तलवार। मानहु विजय वंदनवार।" में तलवार के घावों को वंदनवार का सादृश्य दिया गया है जो सटीक और नवीन है। वस्तुतः दिग्विजय पर रीतिकालीन प्रभाव बहुत कम है और इस कारण उसमें कोरी चमत्कार-वृत्ति नहीं मिलती।

छत्रप्रकाश से तुलना

'लाल' कवि द्वारा रचित 'छत्रप्रकाश' दिग्विजय की समकालीन कृति है परन्तु दिग्विजय से पहले प्रकाश में आ जाने के कारण उसे अधिक महत्व मिल गया है। यदि दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि दिग्विजय अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ रचना है।[1] कथावस्तु की दृष्टि से दोनों समान महत्व रखते हैं पर दिग्विजय में एक ही ऐतिहासिक घटना का विस्तार है जबकि छत्रप्रकाश में अनेक लड़ाइयों का वर्णन है। छत्रप्रकाश इतिवृत्तात्मक है इसलिए उसमें वह रसात्मकता और चमत्कार नहीं जो दिग्विजय में है। शब्द-योजना, भाषा, गुण शैली आदि दृष्टियों से भी दिग्विजय की महत्ता असंदिग्ध है।

मूल्यांकन

रीतिकालीन वीरकाव्य मुक्तक और प्रबंध दोनों रूपों में विकसित हुआ है। वीर मुक्तकों की रचना में भूषण सबसे आगे रहे। प्रबंध की परम्परा में 'छत्रप्रकाश' को ही अधिक महत्व दिया गया। परन्तु दिग्विजय के अध्ययन के पश्चात् हमें अपनी धारणा बदलनी पड़ेगी। वीर रस प्रधान प्रबंधों में दिग्विजय को ही शीर्ष स्थान का अधिकारी ग्रंथ मानना होगा। ऐतिहासिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से उसका महत् मूल्य है। दिग्विजय का अध्ययन रीतिकालीन वीरकाव्य की प्रबंध-परम्परा के विकास हेतु अत्यन्त आवश्यक है। आशा है कि यह प्रस्थापना इस परम्परा के विकास में योगदान दे सकेगी। दिग्विजय के बिना रीतिकालीन वीरकाव्य की प्रबंध-धारा उतनी प्रवाहमय और सरस नहीं हो सकेगी। हिन्दी के इतिहास में दिग्विजय के प्रदेय का मूल्यांकन एक नवीन दिशा निर्देशित करेगा, इसी संभावना के साथ दिग्विजय का परिचयात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। ●

---

१. मिश्रबंधु विनोद प्रथम भाग पृ० ११८ में 'लाल' कवि को उद्दंड कवि के रूप में भूषण और हरिकेश से अधिक प्रबल माना गया है पर ऐसा लगता है कि मिश्रबंधुओं ने उनके ग्रंथ 'दिग्विजय' को नहीं देखा जैसा कि उनके उपर्युक्त ग्रंथ के पृ० ११५ से प्रकट है।

बोधीदास कृत जोगवसिष्ठ कथा

⊙

डॉ० सुधाकर मिश्र

एम० ए०, पी–एच० डी०

हिन्दी का अधिकांश काव्य धर्म और दर्शन के क्रोड़ में पल्लवित-पुष्पित हुआ है, जिसमें सन्त कवियों का योगदान अभिशंसनीय माना गया है। अपने छल-छद्महीन हृदय की पुकार को जनता की वाणी में जनता के सामने रखने के लिए, ये कवि निरन्तर प्रयत्नवान थे। ज्ञान की वाणी सर्वगम्य नहीं होती, यही कारण है कि इन कवियों की रचनाएं बहुतों को अगम्य और दुरूह प्रतीत होती है। समर्थ विचारक होने के कारण, इनकी रचनाओं में चिंतन की विभिन्न भंगिमाएं अपने आप उभर आयी हैं। निर्मल शीशे में जैसे किसी मूर्ति का निर्विकार दर्शन होता है, उसी तरह इन्होंने अपने निर्मल चित्त में पवित्र, जीवनोपयोगी एवं मुक्ति-दायी विचारों को उनके स्पष्टतम रूपों में देखा था। अपने अनुभवों को ये सर्वथा सत्य समझते थे और सत्य-कथन किसी भय की अपेक्षा नहीं करता, इसी से ये कवि अपने विचारों को बिना किसी झिझक के कहने के अभ्यस्त हो गये थे। अपनी बात को जिस विश्वास के साथ इन कवियों ने कहा है, उस विश्वास के साथ कहनेवालों की संख्या अन्यत्र नहीं के बराबर है। इनका हृदय धार्मिक भावनाओं से उद्दीप्त था, शुद्ध काव्य-प्रेरणा से प्रेरित नहीं, और ये अपने ज्ञान के द्वारा सामान्य जन-जीवन में व्याप्त बुराइयों के उन्मूलन में संलग्न थे; अतएव इनकी रचनाओं में व्याप्त काव्य-तत्व की गौड़ता सुनिश्चित होने के कारण खटकती नहीं। हिन्दी ऐसे कवियों की एक लम्बी परम्परा से विभूषित है, परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि अब भी उसके बहुत से कवि पाण्डुलिपियों में अपना परिचय छिपाये, ग्रामीणों के बस्तों में बन्द पड़े हैं। ऐसे ही एक कवि हैं श्री बोधीदास, जिनकी रचना जोगवसिष्ठ[1] कथा की एक खण्डित प्रति मुझे कुछ समय पूर्व प्राप्त हुई है। यद्यपि इस कवि के सम्बन्ध में अभी तक विशेष जानकारी उपलब्ध नही हो सकी है, फिर भी इस काव्य की ही एक चौपाई से इतना अवश्य ज्ञात हो गया है कि बोधीदास किसी 'बनिया कुल' में उत्पन्न हुए थे :

"दास बोधी बनिया कुल माई। नाम प्रताप राखे सरनाई॥"

---

१. अ––ग्रंथकार––बोधीदास। लिपिकार––अज्ञात। अवस्था ठीक। पृ० सं० ८०। आकार ७॥×४॥। लिपि––नागरी। रचनाकाल––अज्ञात। लिपिकाल––अज्ञात।

ब––इसके कुछ पृष्ठ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में भी सुरक्षित हैं।

स––प्राप्त प्रति खण्डित है। प्रारंभ का पृष्ठ और मध्य के ३-४ एवं ८० के बाद के पृष्ठ गायब हैं।

जो पाण्डुलिपि मुझे प्राप्त हुई है, वह कम से कम ८०-९० वर्ष पुरानी प्रतीत होती है। इस पाण्डु-लिपि, काव्य पर पड़े विभिन्न कवियों के प्रभाव, काव्य-भाषा तथा नाम-महात्म्य में वर्णित संतों की नामावली को ध्यान में रखने पर बोधीदास जी १७वीं शताब्दी के कवि जान पड़ते हैं। कबीर की भांति ये भी बहुश्रुत एवं बहुज्ञ थे तथा ख्यातिलब्ध भक्तों एवं भारतीय चिन्तन परम्पराओं का इन्हें अच्छा ज्ञान था। काव्य पर पड़ी संस्कृत-साहित्य की छाप, इनके संस्कृतज्ञत्व का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

इस काव्य का प्रारंभ, मुनि वसिष्ठ द्वारा रामचन्द्र से कही गयी, त्रिविध तापों को नष्ट करनेवाली, शोकविमोचन और कामनाशक ब्रह्म-कथा के संक्षिप्त वर्णन से हुआ है :

"मुनिवसिष्ठ जो कथा बखानी। रामचन्द्र सुनि बहु सुख मानी॥
सो संछेप कहौं कछु गाई। जाते त्रिविध ताप नसि जाई॥
जोग बसिष्ठ कथा कर नामू। सोक मोचन अरु नासन कामू॥"

बोधीदास जी ने ब्रह्म का वर्णन विभिन्न विशेषणों के साथ किया है। इनके विचार से ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अविनाशी, अजर, अभय, अलख, निरंजन और अंतर्यामी है, तथा विधि हरि, हर सब इसी ब्रह्म का गान करते हैं :

"जाके रूप रेख कछु नाहीं। कर नहिं बदन अंग नहिं छाहीं॥
बिनु पद चलै देखै बिनु नैना। सुनहि स्रवनबिनु सहजे बैना॥
शब्द स्वरूप रहहि सब माहीं। दुख सुख ताहि कछु व्यापै नाहीं॥
निराकार निर्गुन अबिनासी। पूरन ब्रह्म निरंतर बासी॥"

इनके अनुसार ब्रह्म सर्व-व्यापी तथा जीव का आदि और अन्त स्थान है। सभी जीव उसी के अंश हैं और मृत्यु के बाद उसी में समा जाते हैं :

"एक ब्रह्म ज्ञानी लखैं, नाना रंग शरीर। मूल सूत जिमि एक है, अमित कहावै चीर॥"

विज्ञानी अचर-चर सबको ब्रह्ममय मानता है और ऊंच-नीच का भाव छोड़कर सबको सिर झुकता है :

जीव चराचर सारे प्रानी। सबै ब्रह्म जानै विज्ञानी॥
ब्रह्म जानि सिर सब को नावे। ऊंच नीच नहिं हिए बसावे॥

बोधीदास जी के अनुसार निर्वाण के लिए 'सर्व खल्वमिदं ब्रह्म' की भावना अनिवार्य है :

"ब्रह्म बिलोके ब्रह्म को, ब्रह्म ब्रह्म कहं खाए।
ब्रह्म ब्रह्म सों बोले, ब्रह्म ब्रह्म घर जाए॥
मनसा वाचा कर्मना, अस जाके विज्ञान।
अपर न जाने ब्रह्म तजि, आपु होए निर्वान॥"

बोधीदासजी ने मानव-शरीर को एक सुन्दर ऊर्ध्वमुखी वक्ष कहा है, जिसमें सुख और दुख रूपी

दो फल लगे हुए हैं। इस वृक्ष पर आत्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षी भी निवास करते हैं। जो पक्षी दोनों फल खाता है, उसे जीव कहते हैं। परमात्मा (परमहंस) एक भी फल नहीं खाता, इसलिए वह शरीर में अविकारी रहता है:

"बीछ सोहावन नर-तनु एका। ताकी मैं सब कहौं विवेका॥
पांच तत्व तरु डार: दस इन्द्रिय पल्लव बने।
त्रिगुन त्वचा सुधार: उर्धमुखी सो बीछ है॥
तामे लागे जुगल फल: दुख सुख है समतूल।
सुख भोगे सो दुख सहै: अंत होए बहु सूल॥
तेहि तरु पर पंछी दोए बासी। आतम परमातम अविनासी॥
पंछी एक दोउ फल खावे। एहि प्रकार ते जीव कहावे॥
परमहंस एको नहिं खाही। ताते अविकारी तनु माही॥"

संतों के समान शरीर को नश्वर मानकर भी बोधीदास जी ने उसे अज, विष्णु, महेश, सोम एवं दिनेश का निवासस्थान चित्रित किया है:

".....। या घट भीतर वस्तु घनेरा॥
या घट में अज विष्णु महेसा। या घट में रह सोम दिनेसा॥
या घट में रह जीव अविनासी। या घट पांचो तत्व सुखवासी॥"

जब जीव विषय-सुखों में अन्धा हो जाता है, तब उसे अपने स्वरूप का भी ज्ञान नहीं रहता:

"विषै स्वाद महं जीव भुलाना। अंध भया निज मरम न जाना॥
भिन्न-भिन्न इन्द्रिय सुख जाने। तब लगि नहीं ब्रह्म पहिचाने॥"

संसार मिथ्या है, सत्यमात्र ब्रह्म ही है। जो विश्व को सत्य समझता है वह अज्ञानी है:

सत्य विस्व जानहि अज्ञानी। जाते उपजे बिनसे प्रानी॥

तांत्रिकों के समान बोधीदास जी का भी विचार है कि यह संसार शब्दरूपी निराकार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। सर्वप्रथम उससे 'ओंकार' की उत्पत्ति हुई और बाद में पाँचों तत्वों का निर्माण हुआ। यही पाँचों तत्व पिण्ड—जन्म के कारण हैं:

पिण्ड-निर्माणकारी पंच महाभूतों के रंगों एवं उनके तेज से उत्पन्न शरीरस्थ पंच तत्वों का भी इस कवि ने सम्यक् निरूपण किया है:

"धरती पीअलि शेत जल: काला रंग अकास।
तारा रंग अग्नि कर: हरिअर रंग बतास॥
छिति के तेज रचो सब अंगा। अप के तेज से बनो अनंगा॥
पावक तेज ते जठर है राई। पवन तेज ते प्रान बनाई॥
गगन तेज ते सुरति संसारी। कहा मैं पांचों तत्व विचारी॥"

अज्ञानी सांसारिक दुःख:-द्वन्दों का सहन करता है, परन्तु ज्ञानी इससे मुक्त रहता है :

"ग्यान विहीन सहै दुख दंदा । ग्यानवंत नर परम अनंदा ।।"

शरीर में परमतत्व के दर्शन की तांत्रिक परम्परा से हिन्दी के प्राय: सभी संत कवि अवगत दिखाई पड़ते हैं। बोधीदास जी भी हठयोग-साधना से पूरी तरह परिचित थे, इसका ज्ञान हमें इनके द्वारा वर्णित शरीर में ब्रह्म-प्राप्ति के विवरण से मिलता है। आसन लगाने से लेकर अनहदनाद के सुनाई पड़ने तक की सम्पूर्ण क्रियाओं-प्रक्रियाओं का इन्होंने सविस्तर वर्णन प्रस्तुत किया है :

"प्रथमहि पंकज आसन साधे । दूजो दुवो शर? उलटि कए बांधे ।।"

ऐसा ब्रह्म-परायण योगी पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान पूर्ण एवं सोम के समान शीतल होता है। उसे पाप और पुण्य स्पर्श नहीं करते। उसका मन तत्व-चिंतन में इस तरह संलग्न रहता है कि अज्ञानी लोग उसे निद्रावशीभूत समझ बैठते हैं। उसके प्रेम-मुदित मन का मर्म विरले ही जानते हैं :

"अस जोगी जो है निर दंदा । जिमि पूरन पूरनिमा को चंदा ।।"

बोधीदास जी ने जीवन्मुक्त साधक का पूरा परिचय दिया है। उनके विचार से ऐसा साधक सम-दृष्टि होता है और उसके हृदय में किसी प्रकार का द्विधाभाव नहीं रहता। वह इष्ट और अनिष्ट को समान समझता है तथा कंचन एवं कांच में अंतर नहीं करता। योग-भोग, दुख-सुख, राजा-रंक, हित-वैरी, हर्ष-संताप, पुण्य-पाप, मान-अपमान, विधि-निषेध स्तुति-निन्दा, सब जीवन्मुक्त को एक जैसे प्रतीत होते हैं। कुल-परिवार उसे कृष्ण भुजंग जैसा और रति जैसी सुन्दरियों का सौन्दर्य उसे क्षार के समान दिखाई पड़ता है :

"पूरन ब्रह्म देखे सब ठाईं । रहे असंग ब्रह्म की नाईं ।"

ज्ञान और योग के समान बोधीदास जी ने इस ग्रन्थ में भक्ति का भी निरूपण किया है। इनके विचार से भक्ति ही वह साधन है जिससे सांसारिक क्लेश नष्ट होते हैं और नरक से छुटकारा प्राप्त होता है :

"भक्ति बिना नहिं मिटए कलेसा । पछिम जाए जो उगए दिनेसा ।।"

मुक्ति भगवत् प्राप्ति से होती है और भगवत् प्राप्ति भक्ति से :

प्रेम बिना न भक्ति उद्वंता । भक्ति बिना न मिले भगवंता ।।
बिनु भगवंत मुक्ति होए नाहीं । जरा मरन बिनु मुक्ति न जाहीं ।।

सन्त-भक्त कवियों की भांति बोधीदास जी का मन भी नाम महात्म्यगान में खूब रमा है :

"नाम की महिमा सुनो कछु भाई ।
जाते दोविधा सकल नसाई ।।"

ग्रन्थ में नवधाभक्ति का भी वर्णन उपलब्ध है ·

समुचित होए सुनहु काशीवराई । नवधा भक्ति कहों कछु गाई ॥
प्रथमहि गहे साधु गुरु पाया । दूजे सुनए राम जस राया ॥
तीजे भेष राम कर धरई । माला तिलक छाप अनुसरई ॥

(इसके बाद का पृष्ठ अनुपलब्ध है)

बोधीदास जी ने संतों की महिमा भी मुक्त-मन से गायी है :

"पर दुख देखि संत होंहि दुखी । पर सुख देखि संत होंहि सुखी ॥
परहित लागि संत सिर देहीं । पर दुख आपु अंगीछी के लेहीं ॥
अधम उघारन संत है : दुख मोचन भवहरन ।
विचार बनए सो कीजिए : हम सब तुमरी सरन ॥"

सन्तों के समान बोधीदास जी भी नारी-निंदा से परे नहीं रह सके। उनके विचार से नारी नरक का प्रकट स्वरूप है एवं उसके विचार से चलनेवाले व्यक्ति का कार्य कभी सफल नहीं होता :—

"जो जो चले नारि के बानी । सो सबके भी कारज हानी ॥
नारी नरक प्रकटहही लाई । हरि की भक्ति न जाई सोहाई ॥
नारि स्वरूप नरक के घानी । लागे सबहि बने कोई ग्यानी ॥"

इस प्रकार इस ग्रंथ में ज्ञान, भक्ति एवं योग का सुन्दर निरूपण हुआ है। कवि ने एक तरफ राम नाम की महिमा गाई है, भक्ति मार्ग की महनीयता प्रतिपादित की है तो दूसरी तरफ हठयोग द्वारा घट में ब्रह्म-दर्शन का चित्रण भी किया है। तांत्रिक साधना एवं भक्ति का मार्ग का यहाँ वैसा ही समन्वय उपलब्ध है, जैसा कबीर आदि संतों की रचनाओं में मिलता है। परन्तु सन्तों की पाखण्ड-खण्डन-परम्परा, रहस्यवादी प्रवृत्ति एवं चमत्कार प्रधान उक्तियों का इस ग्रंथ में बिल्कुल अभाव है।

भक्त कवि भीखजन

डॉ० कन्हैयालाल सहल
एम० ए०, पी-एच० डी०

भीखजन का जन्म तारगवंश में हुआ था। तारग लोगों को उच्च वर्ण के लोग न छूते हैं, न उनसे किसी प्रकार का लेन-देन करते हैं। इनका मोहल्ला भी सवर्ण हिन्दुओं के रहने के स्थान से गाँव के एक तरफ ही रहता है। कुओं पर सबके साथ इनको पानी भी नहीं भरने दिया जाता। ये लोग इतने पतित समझे जाते हैं कि प्रातःकाल इनका दर्शन भी अपकुशन माना जाता है। ये खेती-बारी का काम करते हैं और अन्य लोगों से अलग ही रहते हुए अपना जीवन व्यतीत किया करते हैं।

खेती-बारी से जो अवकाश मिलता, भीखजी उसे दादूपंथी साधुओं की संगति में बिताया करते थे। भीखजी के समय में फतेहपुर में कुछ प्रसिद्ध साहित्यिक साधु भी हो गये हैं जिनमें सुन्दरदासजी, चरनदास जी आदि मुख्य हैं। 'सुन्दर-ग्रन्थावली' के नाम से सुन्दरदासजी के ग्रन्थों का तो प्रकाशन हो चुका है पर कई अन्य साधुओं की रचनाएँ हस्तलिखित रूप में मठों में रहने वाले उनके शिष्यों के पास पाई जाती हैं। साधुओं की संगति से भीखजी भी रचना करने लगे और भगवान के भक्त हो गये। इन्होंने अपना आराध्यदेव श्री लक्ष्मीनाथ जी को ही बनाया जिनका मन्दिर शहर के बीच बाजार में स्थित है। इनकी यहाँ बड़ी भक्ति है और प्रायः नगर का प्रत्येक भक्त-नागरिक दर्शन के निमित्त प्रतिदिन इस मन्दिर में आया करता है। भीखजी इनकी भक्ति में इतने तल्लीन हो गये थे कि इनका दर्शन किये बिना न भोजन करते थे और न जल-ग्रहण करते थे। कुछ समय तक तो यह क्रम चलता रहा पर एक बार कुछ लोगों ने कहा कि तारगकुलोत्पन्न भीखजन का मन्दिर प्रवेश सवर्ण हिन्दुओं के लिए आपत्तिजनक है। अतः भीखजी को देवालय में जाने से रोक दिया गया। किन्तु वे तो भगवान का दर्शन किये बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करते थे। अपने आप को सर्वथा असहाय पाकर वे मन्दिर के पिछाड़ी रास्ते में बैठ गये और भगवान की भक्ति के बावन कवित्त उन्होंने बनाये जो बाद में 'भीखजी की बावनी' के नाम से प्रसिद्ध हुए। तीन दिन तक बिना अन्न-जल ग्रहण किये वे भगवान की स्तुति करते रहे। चौथे दिन सबेरे जब पुजारी भगवान की पूजा के निमित्त भीतर गया तो वे क्या देखता है कि मूर्ति पीठ फेरे हुए है और भगवान का मुंह पश्चिम की ओर है जिधर भीखजन तीन दिन से भूखे प्यासे बैठे हुए भगवान का भजन कर रहे थे। पुजारी ने मूर्ति को घुमाया पर मूर्ति फिर घूम गयी। इस बात की चर्चा सारे शहर में बिजली की तरह फैल गई और सब लोग असली बात जानने के लिए मन्दिर में इकट्ठे हो गये। सब लोगों ने भीखजी को परम भक्त समझ कर मूर्ति के ठीक सामने आम रास्ते पर मन्दिर में एक मोरी निकलवादी जिससे यह भक्त मन्दिर में आये बिना आम रास्ते से भगवान का दर्शन कर सके। जब तक भीखजी जीवित रहे तब तक तो यह मोरी थी। अब करीब पचास वर्षों से उसे बन्द करवा दिया गया है।

सं० १६८३ की पौष शुक्ला पूर्णिमा को 'भीखजन की बावनी' का निर्माण हुआ था जैसा कि निम्न-लिखित छप्पय से प्रकट होता है :

संवत सोलह सौ जु बरस तब हुतो तिरासी
पोख मास पख सेत हेत दिन पूरनमासी।
शुभ नक्षत्र जु पुस्य धर्‌यो जु कर्‌यो आसारज
कथो भीखजन ज्ञान जाति द्विज कुल आचारज।
सब संतन सों वीनती, अवगुण मोर निवारियहु।
मिलते से मिलता रहो, अनमिल अंक सवारियहु॥

'भीखजन की बावनी' की एक प्रति मेरे पास है जो सन् १९२२ में मुद्रित हुई थी। इसमें ५४ छप्पय हैं किन्तु इसका पाट बहुत अशुद्ध है। भीखजन के वंश में एक ऐसा आदमी है जो ५२ छप्पयों को कंठाग्र सुना सकता है। अपठित होने के कारण वह शब्दों का शुद्ध उच्चारण तो नहीं कर सकता पर उसके सुनाने और इस पुस्तक के छपे हुए छप्पयों में बड़ा पाठान्तर है। भीखजन के वंशज से पूछने पर ज्ञात हुआ कि भीखजन की बनाई हुई सब पुस्तकें कुछ समय पूर्व तो विद्यमान थी पर कच्चे घरों में आग लग जाने के कारण सब जल गई। भीखजन की बनाई हुई पुस्तकों में से 'भीख माला' नाम की एक और प्रसिद्ध पुस्तक है जिसके कुछ दोहे उक्त भीखजन के वंशज को याद हैं।

'भीखजन की बावनी' में से एक अन्य छप्पय उदाहरण के लिए यहाँ दिया जाता है :—

मंजारी कुल भेद, रक्त केशर परसंगा
नागरवेल बल संग, सहत माखी मल अंगा
किस्तूरी मृग नाभि, कटि पाटम्बर सोहै।
मणि विषधर उपजंत, फीम जूठनी जज मोहै।
पारस वंश पखान है, संख हाड सब कोइ कहै
हरिगुन हीत्वै भीखजन, नहिन कुल कारण चहै॥

अर्थात् बिल्ली की जेर अशुद्ध होते हुए भी लोग उसके प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, खून के प्रसंग में रहने पर भी केशर शुद्ध समझी जाती है, नागरवेल की उत्पत्ति भी अशुद्ध स्थान से ही होती है और शहद भी मक्खी के शरीर का मैल है। कस्तूरी हिरण के पेट से पैदा होती है, रेशम भी कीड़ों से तैयार होकर सुशोभित होता है और मणि साँप के सिर से उत्पन्न होती है तथा अफीम को भी, जो जूठन है, लोग प्रसन्नता पूर्वक खाते हैं। पारस पत्थर के वंश का है और शंख भी, सब जानते हैं, हड्डी के अतिरिक्त और क्या है? उक्त अशुद्ध चीजें भी भगवान के अर्चन-पूजन के निमित्त प्रयोग में आने के कारण शुद्ध समझी जाती हैं। इसलिए भीखजन कहते हैं कि भगवान के गुणों से प्रेम रखने वाले मनुष्य के लिए उच्च कुल की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती। कबीर भी इसी स्वर में स्वर मिला रहे हैं :—

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजियो ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान॥

गोस्वामी राधाचरण : प्रामाणिक रचनाएँ

डॉ० केदारदत्त तत्राड़ी
एम० ए०, पी-एच० डी०

आज सम्पूर्ण भारतेन्दु-युग के मंथन, पुनर्विवेचन और गवेषणा के आधार पर, नवीन तथ्यों को प्रकाश में लाकर पुनः पर्यवेक्षण की आवश्यकता प्रतीत होती है; क्योंकि युग-मानव के जर्जरित जीवन में सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक-साहित्यिक आदि नवचेतनाओं के तीव्र स्वर सञ्चारित कर उसे विकासोन्मुख करने का एकमात्र श्रेय उसी युग के कलाकारों को है। उस काल के जागरूक कलाकारों के व्यक्ति और साहित्यकार का न्यायोचित मूल्यांकन अभी शेष है।

श्री गो० राधाचरण जी अपनी बहुमुखी प्रतिभा एवं प्रौढ़ लेखनी के बल पर भारतेन्दु जी के परिकरों में सबसे आगे दिखाई पड़ते हैं। स्वयं बाबू भारतेन्दु जी भी उनका लोहा मानते थे। वस्तुतः गो० जी के व्यक्ति और साहित्यकार के दर्शन एक साथ ही विविध रूपों में होते हैं। वे समाज क्षेत्र में सजग प्रहरी, धर्म-क्षेत्र में श्री माध्वगौड़ीय सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य, राजनीति में राजनीतिज्ञ, प्रशासकीय क्षेत्र में अवैतनिक न्यायाधीश और साहित्य-क्षेत्र में एक जागरूक साहित्यिक थे। जैसा उनका उदात्त एवं विलक्षण व्यक्तित्व था वैसा ही कृतित्व भी। उनकी समस्त रचनायें युग-सन्धिकालीन प्रकाश-स्तम्भ हैं जिनके द्वारा उन्होंने एक ओर हमारे गौरव-गर्भित उज्ज्वल अतीत को सामने रखकर युग-मानव को सचेत किया और दूसरी ओर कुण्ठित जन-जीवन की विकृतियों का उद्‌घाटन करके समाज की आँखें खोलीं। उनके कृतित्व का विकास युग-जागरण की जनवादी व प्रगतिशील नव चेतना के रूप में हुआ है। गो० जी की मौलिक रचनाओं की संख्या लेख-निबन्धादि के अतिरिक्त भी सहज ही ५० को लांघ जाती है। इतनी बड़ी संख्या भारतेन्दु-युग के लिए विशेष महत्व रखती है।

गो० जी की सम्पूर्ण रचनाओं से हिन्दी-जगत अब तक अनभिज्ञ अथवा अल्पविज्ञ है। किसी आलोचक विद्वान द्वारा उनकी कृतियों की पूर्ण एवं प्रामाणिक सूची प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया गया। जो कुछ सहज ही प्राप्त हो सका उस पर भी अनेक भ्राँतियाँ उत्पन्न होने लगीं। इस सम्बन्ध में एक कटु सत्य हमारे सामने यह है कि मिश्रबन्धु और आचार्य शुक्ल जी की मान्यताओं को ही बाद के विद्वानों ने प्रायः बिना तथ्य-परीक्षण के स्वीकार किया। सौभाग्य से गो० जी के पौत्र श्री अद्वैत चरण जी हमारे मध्य हैं। उन्होंने मार्च सन् १९४६ को गो० जी के अभिन्न मित्र श्री वियोगीहरि जी के करकमलों द्वारा गो० जी के प्रसिद्ध पुस्तकालय का जीर्णोद्धार करके उसे सुव्यवस्थित रूप भी दिया किन्तु किसी भी विद्वान ने उनको एक पोस्ट-कार्ड लिखकर भी गो० जी की प्रामाणिक रचनाओं की जानकारी प्राप्त करने का कष्ट नहीं किया।

गो० जी ने अपने आत्म-चरित के अन्तिम आवरण पृष्ठ पर अपनी रचनाओं की एक तालिका भी प्रकाशित की है जिसमें उनकी सन् १८९५ से पूर्व की प्रायः प्रमुख रचनायें सम्मिलित हैं। विद्वानों ने इस

सूची के अनुसार भी उनकी रचनाओं का उल्लेख नहीं किया है। अस्तु, गो० जी की कुछ ऐसी रचनायें हैं जिनके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। यहाँ स्थानाभाव के कारण उन सब भ्रान्तियों का निराकरण तो सम्भव नहीं है किन्तु बहुत छान-बीन के बाद जो तथ्य सामने आये उनके आधार पर गो० जी की प्रामाणिक रचनाओं की सूची निम्न है :

मौलिक रचनायें

(अ) नाटक-प्रहसन

१. भंग-तरंग, २. श्रीदामा, ३. अमरसिंह राठौर, ४. कलिका, ५. चम्पकलता, ६. सती चन्द्रावली, ७. कामिनी कलानिधि, ८. कलंक्यवतार, ९. भारत-रोगी, १०. होली-हुर्दग, ११. बूढ़े मुंह मुहासे लोग देखें तमासे, १२. तन, मन, धन गुसाईं जी के अर्पण, १३. दफ़ा चौंतीस, १४. म्यूनिसिपल कमिश्नर, १५. आनरेरी मजिस्ट्रेट।

(आ) नवन्यास-उपन्यास

१. बाल विधवा, २. सर्वनाश, ३. अकलचन्द (अपूर्ण), ४. विधवा-विपत्ति, ५. जावित्री, ६. चतुर (अप्राप्त), ७. वीरबाला, ८. कल्पलता, ९. सौदामिनी।

(इ) लेख-निबन्ध भाषणादि

गो० जी के ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक, शिक्षा-सम्बन्धी और यात्रा-सम्बन्धी जीवन चरितात्मक विविध लेख, निबन्ध एवं भाषणादि की संख्या सहज ही २०० को लांघ जाती है। स्थानाभाव के कारण इतनी बड़ी तालिका यहाँ प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है, अधिकांश लेख, निबन्ध एवं भाषण आर्यावर्त, भारतजीवन बिहारबन्धु, भारत मित्र, कवि वचन सुधा, सार सुधा निधि, मित्र विलास, आर्य दर्पण, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका-मोहन चन्द्रिका, भारतेन्दु, हिन्दोस्तान, हिन्दुबान्धव, हिन्दी प्रदीप, श्रीकृष्ण चैतन्य चन्द्रिका आदि तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं की ही संजिकाओं में बन्द हैं।

(ई) स्तोत्र (व्यंग परिहास)

(१) नापित स्तोत्र, २. रेलवे स्तोत्र, ३. मूषक स्तोत्र, ४. वैद्यराज स्तवराज, ५. मच्छर स्तोत्र, ६. अंग्रेज स्तोत्र, ७. वेश्या स्तोत्र, ८. मेहत्तर स्तोत्र, ९. बूट स्तोत्र।

गोष्ठी साहित्य

(क) श्रीपाल और गोपाल का आलाप, दो मित्रों का संवाद, गंगा जमुना का वार्तालाप, रूसराज परमेश्वर का वार्तालाप, अमीर काबुल और बेगम की गुफ्तगू, हिन्दूराजा और हिन्दी पत्र, यजमान पुरोहित की दो-दो चोंचें, गुरुलाल वेग और भंगी लोगों का परम पावन संवाद।

(ख) **पंच**—दालभात में मूसलचंद, महा महा तर्पण, दावी सल्तनत मय खर्चा, हिंडोला लड़ाई भिड़ाई, वृद्ध विवाह, सिंह शार्दूल, भरत मिलाप।

पद्य साहित्य

श्री ब्रजेन्द्र विजय, वैष्णव बोधिनी, दामिनी दूतिका, पद प्रलाप, प्रेमबगीची, हित विशन्ति, निपट नादान, भारत संगीत, नव भक्तमाल, विधवा प्रलाप, धर्मगीत, प्रकृति वर्णन, दयाराम लार्ड लिटन, राजकुमार ड्यूक आफ एलबानी, लार्ड रिपन का षोडशोपचार, इलवर्ट बिल।

उक्त के अतिरिक्त लगभग ३५० प्रकीर्णपद विभिन्न छन्दों में ब्रजभाषा में उपलब्ध हैं। गोस्वामी जी की १२ अनूदित रचनाएँ तथा १ संपादित और संकलित ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन्होंने भारतेन्दु और श्रीकृष्ण चैतन्य चन्द्रिका का भी संपादन किया था। एक व्यक्ति द्वारा इतने विपुल साहित्य का सृजन करना उसकी महान प्रतिभा का परिचायक है।

हिन्दी रंगमंच को पं. नारायणप्रसाद जी 'बेताब' की देन

डॉ० विद्यावती लक्ष्मणराव नम्र
एम० ए०, पी-एच० डी०

नाटक चाक्षुप यज्ञ है तथा जनता को शिक्षित बनाने, जागृत करने और वैचारिक दृष्टि देने का यह एक प्रबल माध्यम है। सांस्कृतिक कार्यक्रमों में यह एक ऐसा सुन्दर व मनोरंजक कार्यक्रम है जिसके द्वारा जटिलतम समस्याओं को भी सरल और सुन्दर ढंग से जनता के सामने प्रस्तुत किया जा सकता है। क्रांति लाई जा सकती है। अन्य साहित्यिक विधाओं की तरह रंगमंचीय नाटकों का भी हिंदी साहित्य में अपना स्वतंत्र स्थान है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक व्यावसायिक रंगमंच पर हिंदी नाटकों का कोई अस्तित्व ही न था। राज्य था उर्दू नाटकों का। सीता माता भी रामचन्द्र से कहती थीं–"तुम मुझको क्या मिले हो कि मेरा खुदा मिला।" (तालिब बनारसी)। इस शताब्दी के दूसरे दशक तक का काल अनेक प्रकार के आंदोलनों और क्रांतियों का काल रहा है। ऐसे संक्रांति काल में भी राष्ट्रीयता का ध्यान रखते हुए पं० नारायणप्रसाद जी "बेताब" ने उर्दू नाटकों में भी गाने हिंदी में ही रखे। इसकी चर्चा करते हुए मराठी के प्रसिद्ध लेखक कैप्टन मा० कृ० शिदे ने अपने ग्रंथ "नाट्य संहिता" में लिखा है :

"१९ वीं शताब्दी तक पारसी रंगमंच पर उर्दू नाटक ही खेले जाते थे, और उनमें गज़ल, कव्वाली आदि ही पद्य के प्रकार होते थे। परन्तु बीसवीं शताब्दी का आरम्भ होने पर पारसी रंगमंच पर एक परिवर्तन दिखाई देने लगा। पं० नारायणप्रसाद "बेताब" ने उर्दू रंगभूमि पर हिन्दी भजनों व गीतों का प्रथम श्रीगणेश कर दिया। तत्पश्चात् अन्य नाटककारों ने भी उर्दू रंगभूमि पर हिन्दी का एक स्थान निश्चित कर दिया।"

सन् १९०१ में बेताबजी ने अपना प्रथम नाटक "कत्ले नज़ीर" जमादार की कम्पनी को दिया और लाहौर में इसके अभिनय से हिन्दी रंगमंच की सेवा का श्रीगणेश किया, जो १९४५ ई० तक अर्थात् ४५ वर्षों तक चलती रही। आपने १९०१ से १९१२ तक हिन्दी की ही एक शैली ऐसी उर्दू में हिन्दी गानों के साथ १५ नाटक लिखे जिन्हें सभी प्रकार के प्रेक्षक आसानी से समझ सकते थे। उन नाटकों के नाम हैं :

"कत्ले नज़ीर, हुस्ने फरंग, कृष्णावतार, मयूरध्वज, कसौटी, मीठा ज़हर, जो आप पसंद करें, जहरी सांप, अलीबाबा, फरेबे नज़र, वहम का पुतला, अमृत, फूट का फल, तौबाशिकन उर्फ इन्तकाम और गोरखधंधा।"

मीठा ज़हर, जो आप पसंद करें तथा गोरखधंधा क्रमशः शेक्सपियर के सिम्बेलीन, एज़ यू लाइक इट तथा कॉमेडी आफ एरर्स के अनुवाद हैं। फरेबे नज़र और जो आप पसंद करें ये दोनों नाटक मंच के लिए नहीं लिखे गए थे। बेताबजी ने इन दोनों नाटकों को अपनी उर्दू मासिक पत्रिका "शेक्सपियर" में केवल इसलिए प्रकाशित किया था कि पाठकों में नाटकों के प्रति प्रेम व रसोत्पन्न हो तथा अन्य भाषाओं के नाटकों से भी वे परिचित हो सकें। इन उपर्युक्त नाटकों में कत्ले नज़ीर, मीठा ज़हर, जहरी सांप, तौबाशिकन

और गोरखधंधा आदि बड़े ही लोकप्रिय हुए परंतु ज़हरी सांप तो सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ। एक बार बम्बई में प्राचीन नाटकों की नाट्य-स्पर्धा रखी गई थी जिसमें "ज़हरी सांप" को सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ था। दिग्दर्शक थे सोहराबजी केरांवाला जिन्होंने खुद "नाहरसिंह डाकू" अर्थात् नायक का काम किया था।

"गोरखधंधा" नाटक के साथ ही १९१२ ई० में बेताबजी के उर्दू नाटकों का युग समाप्त हो गया और हिन्दी पौराणिक नाटकों का युगारंभ हुआ जिसकी तैयारी यूँ तो सन् १९०१ से ही हो रही थी परंतु जिसका साक्षात्कार २९ जनवरी, १९१३ ई० को देहली के संगम थियेटर में "महाभारत" के रूप में हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने पौराणिक, सामाजिक व राष्ट्रीय आदि अन्य १० और नाटक लिखे जिनके नाम इस प्रकार हैं :

"रामायण, पत्नी-प्रताप, कृष्ण-सुदामा, शंख की शरारत (एकांकी), गणेश-जन्म, सीता-बनवास, कुमारी किन्नरी उर्फ़ मदर इंडिया, समाज, हमारी भूल और शकुन्तला।"

पौराणिक नाटकों में से आज भी कई नाटक जनमन की थाती बने हुए हैं, कई नाटकों का प्रदर्शन नई और पुरानी कंपनियों का कलाकार समूह आज भी करता रहता है; कई नाटक फिल्माए भी गए हैं और अनेकों को अंशतः तथा कृष्ण-सुदामा को सम्पूर्णतः आकाशवाणी बम्बई से अनेक बार प्रसारित किया गया है। पद्मविभूषण श्री पृथ्वीराज कपूर ने मैसूर आकाशवाणी से पृथ्वी थियेटर्स द्वारा संपूर्ण "शकुंतला" नाटक अभिनीत एवं प्रसारित किया था।

बेताबजी के "महाभारत" नाटक से हिन्दी पौराणिक नाटकों का युगारंभ होता है। "महाभारत" के मंच ने तो व्यावसायिक पारसी रंगमंच का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया था। वह इस प्रकार कि जो नाटकों से घृणा करने लगे थे और बहन-बेटियों को नाटक न दिखाने की प्रतिज्ञा कर बैठे थे उनकी प्रतिज्ञा टूट गई, अन्य नाटककारों तथा कंपनियों के मालिकों ने बेताबजी तथा सेठ कावसजी पालन जी खटाऊ द्वारा प्रशस्त किए गए मार्ग का अनुकरण करना श्रेयस्कर समझा। हिन्दू समाज ने बेताबजी को स्वर्ण-पदक देकर उनका बहुमान किया। देवियों ने तो इसे इतना आदर दिया कि सेठ कावसजी खटाऊ को उनके लिए ही प्रति सप्ताह एक खेल करना पड़ता था। इस नाटक के गाने जैसे "अजब हैरान हूँ भगवन तुम्हें क्योंकर रिझाऊँ मैं ?" आज भी बड़े भक्ति-भाव से गाये जाते हैं।

सामाजिक नाटकों में "समाज" और "हमारी भूल" इन दो नाटकों के नाम उल्लेखनीय हैं। यूँ तो प्रत्येक नाटक में किसी-न-किसी सामाजिक समस्या का समावेश है परन्तु इन दोनों नाटकों में तत्कालीन ज्वलंत सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। "कुमारी किन्नरी" राष्ट्रीय नाटक है जिसमें मिस मेयो द्वारा भारत पर की गई टीका का जवाब दिया गया है। इस नाटक का अभिनय दिसंबर १९२८ में कांग्रेस अधिवेशन के समय कलकत्ता के अल्फ्रेड थियेटर में हुआ था। नाटक का प्रभाव तो यह रहा कि टिकट पहले से ही एक महीने के लिये सुरक्षित हो गये थे। सामाजिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में हलचल मच गई। मंचन होने के लगभग दो सप्ताह बाद सेंसर बोर्ड को नाटक में राजद्रोह की गंध आने लगी और लेखक को लगभग डेढ़ महीने तक प्रतिदिन सेंसर बोर्ड में जाना पड़ा। नाट्यगृह में लगभग पचास सिपाही प्रतिदिन उपस्थित रहने लगे। सामाजिक कुरीतियों के प्रदर्शन का प्रभाव यह पड़ा कि कलकत्ता के धनिक वर्ग में एक खलबली मच गई जिसके कारण एक दिन नाट्यगृह में बेताबजी के जीवन का अंत कर देने का स्थिति भी आ गई थी किन्तु ईश्वर की अदृश्य कृपा से वह मनहूस घड़ी टल गई। ये प्रभाव स्वयं नाटकों की उद्देश्य सिद्धि के सफल प्रमाण हैं। शायद ही किसी हिंदी नाटककार को ऐसी विकट स्थिति का सामना करना पड़ा हो।

बेताबजी ने कुल २६ रंगमंचीय नाटकों की रचना की। तदुपरांत रंगमंच के प्रचलित व लोकप्रिय अंग रजट-पट के लिये भी ३२ चित्रपटों का योगदान दिया। नाट्येतर साहित्य में भी विविध विषयों पर उनकी ३६ कृतियाँ हैं। इस प्रकार उनकी रचनाओं की कुल संख्या ९४ होती है।

बेताबजी की साहित्य-सेवा का संक्षिप्त परिचय देने के बाद अब हम उनकी नाट्य-रचनाओं द्वारा सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक व राष्ट्रीय देन पर विचार करेंगे। नाट्याचार्य भरत मुनि ने कहा है :

"लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्,
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्॥"

'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में कवि कालिदास ने भी लिखा है :—

"····त्रैगुण्योद्भवमत्रलोकचरितं नाना रसं दृश्यते,
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्।"

श्लोक का अंतिम वाक्यांश "बहुधा अपि एकं" बड़ा महत्वपूर्ण है। भिन्न भिन्न अभिरुचि वाले दर्शकों को अपनी अपनी रुचि के अनुसार अंश ग्रहण करके समाधान प्राप्त हो। बेताब जी ने नाटकों में कथा संयोजन के समय ही नहीं अपितु पात्रों और भाषा-प्रयोग में भी इस बात का ध्यान रखा है। नाटकों की नान्दी में कहीं साकार की बन्दना है तो कहीं निराकार की और कहीं समन्वयवादी रूप को अपनाया गया है। परमेश्वर के सर्वव्यापी होने, उसकी शक्ति और सामर्थ्य में विश्वास होने के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे सुदामा गुरु से कहता है :

पाया न वह मुकाम कि वह देखता न हो,
ऐसी जगह कहाँ है कि परमात्मा न हो।

चारित्रिक उन्नति और दृढ़ता के लिए जीवन में सचाई और ईमानदारी इन दोनों बातों का होना परमावश्यक है। नाटकों के अनेक पात्र इन बातों की ओर बार बार हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। ईश्वर-भक्ति में मगन "महाभारत" का चेता चमार ठाकुर पूजा के अपराध में हर प्रकार के दण्ड भोगने के लिये तैयार है। वह दुर्योधन से निवेदन करता है :

"खता की मेरी मिट्टी ने इसे मिट्टी में मिलवालो,
जो संकट झेलने काबिल न हो वह मुझसे मिलवालो,
उधड़वा लो मेरी यह खाल जूते इसके सिलवालो,
मेरा बच्चा है इकलौता उसे कोल्ह में पिलवालो,
मगर दिल से न दिलवर को जुदा करवाओ दिलवालो।"

"पत्नी-प्रताप" में साध्वी रेवा सती अनसूया, पिता भूपेन्द्र, रानी माता और पति गोपाल गुप्त के अनुरोध पर जन-कल्याणार्थ सूर्योदय करने के लिये जान लेवा उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करती हुई कहती है :

"हालां कि इनकी बात में लपटें हैं आग की,
देती हूँ इसमें आहुति अपने सुहाग की।"

अछूतोद्धार भी हिंदू समाज की एक बड़ी विकट समस्या है। जिस युग में शूद्रों की परछाईं पड़ने पर भी धार्मिक भ्रष्ट हो जाते थे उस समय अर्थात् सन् १९१३ में बेताबजी ने इस समस्या को जनता के

सामने रखा था। वेदों के प्रमाण देकर शूद्र वर्ण को उन सभी कर्मों के करने का अधिकारी बताया था जो अन्य वर्ण करते हैं। देववाणी संस्कृत को भी "महाभारत" नाटक में स्थान दिया गया। "समाज" तथा "हमारी भूल" दोनों नाटकों में तो और भी अनेक सामाजिक बुराइयों का रोचक ढंग से पर्दाफाश किया गया है। अस्पृश्यता की समस्या को लेखक ने कितनी गहराई से देखा है। उदाहरणार्थ : समाज द्वारा पतित की गई मालती उच्च घराने की स्त्री है। मैले कपड़ों में वह अछूत मालूम होती है। उससे छू जाने पर धर्म के ठेकेदार सेठ मुरारीलालजी उसे भली बुरी सुनाने में कसर नहीं छोड़ते। वह इन्हें अच्छी तरह जानती है। उसका कुल गौरव इन्हें प्रत्युत्तर दिये बिना नहीं रहता। वह बेलाग कहती है :—"यदि मैं आज ही इस हिंदू समाज को तिलांजलि देकर मिसेज जेम्स बन जाऊं तो आपही मुझसे हाथ मिलाना अपनी इज्जत समझने लगें, पास बैठाने में अपनी आबरू मानने लगें, हाथ का सहारा देकर मोटर से उतारने लगें, मुझे क्या मेरे कुत्ते को भी पुचकारने लगें . . . तुम हिंदू नहीं ईसाइयों के बेकमीशन एजेंट हो जो मेरे जैसों को अपने दरवाजे से धक्के देकर हटाते हो और ईसाइयों की तादाद बढ़ाते हो।" मालती के इस कथन में समाज की नीच मनोवृत्ति और पतन का सच्चा प्रमाण है। हिन्दू समाज की वह मनोवृत्ति समाज में नासूर का काम कर रही है। "महाभारत" से "समाज" तक आते आते लेखक की आवाज तीव्रतर हो उठी है इसीलिये कि समाज जागृत हो, सावधान हो और अपने कर्तव्य को समझ कर सही रास्ते पर चले।

"समाज" नाटक में विधवा-विवाह सभा के सभापति हैं सेठ मुरारीलाल जिनका जीवन दोरंगी दुनिया है। साठ वर्षीय विधुर सेठजी उस कुमारिका से विवाह के इच्छुक हैं जिससे इनका बेटा विवाह करना चाहता है। वृद्ध-विवाह का पक्ष लेते हुए मुरारीलाल कहते हैं :—"बूढ़ों के विवाह से देश का लाभ ही लाभ है क्योंकि भारत में सैकड़ों भाई आये दिन दुष्काल से मर रहे हैं। ऐसे बुरे वक्त में देश की जन संख्या बढ़ाना देशद्रोहियों का काम है। यदि बूढ़ों का विवाह होगा तो औलाद पैदा न होने से जन संख्या भी नहीं बढ़ेगी और यदि बूढ़े पति के मरने पर किसी प्रकार औलाद हो भी गई तो वह वन पशुओं की खूराक हो सकेगी। अगर वह बच्चा वन पशुओं से बच भी गया तो इस महंगी के समय उसके पालन-पोषण की मुसीबत ईसाइयों के सर जायेगी, अपनी जाति इस खर्च से बच जायेगी।" क्या खूब दलील है। एक ही संधान में बूढ़ों की मनोकामना भी पूर्ण हो सकती है और राष्ट्र के सामने मुंह बाये खड़ी जन संख्या की समस्या का समाधान भी हो जाता है। मगर सभा में उपस्थित एक वृद्धा वहीं उनसे कहती है :—"यदि बूढ़ों के विवाह से लाभ ही लाभ है तो मैं अपने पुनर्विवाह के लिये १५-१६ वर्ष के कुमार को आमंत्रित करती हूं और वह भी इस शर्त पर कि मेरे मरने के बाद वह अपना पुनर्विवाह न करे।" सभापति इसे सहन न कर सके तो उसे बोलने से रोकने लगे परंतु निर्भीक संतप्त वृद्धा वहीं उनसे कहती है :—

"कपटी कुचाली जो कुरीतियों के सेवक हैं,
वही तो सभा में बने बैठे सभानाथ हैं।
नाम सरपंच पर मूरति प्रपंच की है,
पीने में हलाहल हैं देखने से क्वाथ हैं।
अबलाएं बेबस हैं कासे कहें, कहां जायें?
मुख में जबान है, न पैर हैं, न हाथ हैं।

"नारायण" तु ही लाज राख बहू बेटियों की,
छटे छटे छिनले ही डोलियों के साथ हैं।"

वृद्धा के ये विचार तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति (१९२८ तक) पर पूरा-पूरा प्रकाश डालते हैं। अन्याय के सामने वृद्धा का न्याय प्रिय मन विद्रोह कर बैठता है और भरी सभा में भी वह ऐसी बेलाग सुनाने में नहीं चूकती।

दहेज-प्रथा पर भी बेताब जी ने करारी चोट की है। इस प्रथा से उत्पन्न कठिनाइयों को समाज भली भांति जानता है फिर भी इसका त्याग करने के लिये तैयार नही होता, बल्कि इसे अच्छी तरह आश्रय दे रहा है। "हमारी भूल" में तारा कहती है:

"मरे कन्यायें क्यूंकर न क्वारी,
निर्धन जो बाप है यह भी बड़ा पाप है।
रहे जैसे के तैसे, लगन हो तो कैसे
कि पैसे को है रिश्तेदारी।"

कर्मफल सिद्धांत का प्रतिपादन तो लगभग सभी नाटकों में हुआ है। इस सिद्धांतानुसार प्राणीमात्र को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इसी से सुदामा की गरीबी को दूर करने के विषय में भगवान कृष्ण कहते हैं:

"कोई रास्ता नहीं है कर्म करके फल न पाने का,
कि इस खाते में रहता है हिसाब एक एक दाने का,
सुदामा भक्त भी है, मित्र भी है और सहपाठी,
मगर नाता नहीं है कोई लिक्खे को मिटाने का।"

धर्म के विषय में बेताबजी ने सहिष्णुता और समन्वयवाद को स्थान दिया है क्योंकि इससे भावनात्मक एकता दृढ़ होती है, परस्पर प्रेम-भावना की वृद्धि होती है तथा संगठन भी मज़बूत होता है।

नाटकों की प्रस्तावनाओं में या तो किन्ही मान्यताओं का शास्त्रोक्त समाधान है या फिर नाट्य-रचना के उद्देश्य का स्पष्टीकरण है या नाटक रूपी वृक्ष के बीज को बताने का उल्लेख और प्रदर्शन है। जहां "रामायण" में वानर, दशकंध आदि बातों का समाधान है, वहां "पत्नी-प्रताप" में सूत्रधार नटी से कहता है:

"इसीलिये हमारी आँखें माताओं और बहनों की उपस्थिति अधिकांश में चाहती हैं ताकि उनके निर्दोष और निर्मल हृदयों पर पातिव्रत धर्म की महिमा अंकित हो जाये और हमारे परम पावन उद्योग पर लगी हुई "कलंक" की वार्ता कलंकित हो जाये।"

आगा "हश्र" काश्मीरी के "सीता बनवास" नाटक को सेठ जमशेदजी माडन ने बेताबजी से पुनः लिखवाया था। यद्यपि नाटक के प्रथमांक में ही हश्र के कुछ दृश्य हैं शेष बेताबजी ने लिखा है: पूर्वार्ध हश्र, उत्तरार्ध बेताब। इसकी प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है:

"उन आचार्यों ने केवल वृक्ष का बयान किया है और हम वृक्ष के साथ उस बीज का भी महत्व दिखायेंगे जिसमें वह वृक्ष छुपा हुआ है।"

इस बीज को सिनेमा के प्लाट दृश्य द्वारा दिखाया जाता था। उत्तर रामचरित के लेखकों ने बीज की चर्चा कहीं नहीं की है। यह बात बेताबजी की अपनी विशेषता है।

अंग्रेजी राज्य में भारत दुर्दशा को देखकर जिस प्रकार भारतेन्दु बाबू को मानसिक पीड़ा हुई थी उसी प्रकार बेताबजी का मन भी देश की दुर्दशा को देखकर कराह उठा। रजत-पट साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में हुई है। देवी देवयानी फिल्म की स्तुति में कवि का हृदय ईश्वर के दीनबंधु होने की भावना से विद्रोह करता हुआ उसी से शिकायत करता है :--

"दीनबन्धु तुमरो नाम झूठ है कहानी,
ऐसी करतूत कोई हमने नहिं जानी।
हमसा है कौन दीन दुर्बल और धन बिहीन,
कौड़ी के तीन तीन फिर भी आनाकानी।
कानन में तेल डाल बैठ रहे दयाल
भारत का देखो हाल अन्न है न पानी। दीन०

मुहावरेदार सरल भाषा में अभिव्यक्त देश की स्थिति का वर्णन कितना सचोट है, सटीक है। यह स्तुति इतनी लोकप्रिय हुई थी कि छोटे बड़े सभी की जबान पर चढ़ गई थी।

मनुष्य अपना राष्ट्र-प्रेम अनेक माध्यमों से व्यक्त करता आया है और करता रहेगा। बेताबजी ने भी राष्ट्र-प्रेम को अनेक रूपों में व्यक्त किया है, जैसे--राष्ट्र की एकता और भलाई के लिये उन्होंने नाटकों में उस राष्ट्रभाषा हिंदी को स्थान दिया जिसकी राष्ट्र को परमावश्यकता थी और आज भी है। सन् १९१३, २९ जनवरी के दिन "महाभारत" की प्रस्तावना में उन्होने भाषा विषयक अपनी नीति की घोषणा इन शब्दों में की थी :--

न ठेठ हिंदी न खालिस उर्दू जबान गोया मिली जुली हो,
अलग रहे दूध से न मिसरी डली डली दूध में घुली हो।

पौराणिक चरित्रों और इतिहास को यथावत रखते हुए भी बेताबजी ने समस्यानुकूल उनमें कुछ ऐसे परिवर्तन और परिवर्धन किये हैं जो नाट्यकला की दृष्टि से आवश्यक थे। तदुपरांत भारतीय हिंदू धार्मिक संस्कृति और ऐतिहासिक संपत्ति को विकृत होने से बचाकर उन्होंने व्यावसायिक हिंदी रंगमंच को गौरव प्रदान किया। उनकी एक विशेषता विशेष रूप से उल्लेखनीय है--"वे रचते थे पुरानों से औ बचते थे पुरानों से।"

"शकुन्तला" नाटक की नान्दी तो संस्कृत में ही लिखी थी जिसे पृथ्वी थियेटर्स के प्रत्येक नाटक के आरंभ में गाया जाता था। थियेटर ने अपने सोलह वर्ष के जीवन-काल में अपने सारे नाटकों का २६६२ बार मंचन किया और इतनी ही बार यह नान्दी सारे भारतवर्ष में गाई गई। आज भी पृथ्वी थियेटर्स की जयंती पर थियेटर के प्रेमी कलाकार इसी नान्दी से अपना कार्यक्रम आरंभ करते हैं। हिंदी रंगमंच के इतिहास में यह एक ऐसी घटना है, एक नाटककार का ऐसा अप्रतिम सम्मान है जो अपने आप में बेमिसाल है। वास्तव में हमारे लिये यह बड़े गौरव की बात है। ●

कामायनी में चतुर्युगीन मानव-विकास का इतिहास

डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना
एम० ए०, डी० लिट्०

युग विभाजन––भारतवर्ष में मानव का इतिहास चार युगों में विभक्त है, जो कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलयुग कहलाते हैं। साथ ही यह कहा जाता है कि कृतयुग में राजा सगर हुए, त्रेता युग में प्रसिद्ध राजा राम हुए, द्वापर में श्रीकृष्ण तथा कौरव पांडव हुए और कलियुग महाभारत के युद्ध के उपरान्त प्रारम्भ हुआ है।[१] श्री ए० डी० पुसलकर का मत है कि कृतयुग के अंत तक आर्यों का विस्तार समस्त उत्तरी भारत में हो चुका था। जिसमें पश्चिम में काठियावाड़ और पूर्व में बिहार तथा पश्चिमी घाट और बरार तक इनके उपनिवेश स्थापित हो गए थे। इनके विस्तार की दक्षिणी सीमा, विंध्य और सतपुड़ा पर्वत तथा नर्मदा और ताप्ती नदियां थीं। द्वापर युग में आर्यों के उपनिवेश दक्षिण में भी स्थापित हुए। श्रीराम के समय में जन-स्थान, किष्किन्धा और लंका तक आर्यों के उपनिवेश स्थापित हुए थे और कलियुग का प्रारंभ होते-होते सारा भारतवर्ष इनके अधिकार में हो गया था। यहां तक कि पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तक इनकी राज्य-सत्ता स्थापित हो गई थी।[२] इस तरह मानव-सभ्यता के विकास को ध्यान में रखकर तथा उक्त चारों युगों से सम्बन्ध स्थापित करते हुए आजकल मानव-विकास के कालों को इस प्रकार बाँटा जाता है:[३]––

(१) सतयुग अथवा पूर्व वैदिक काल
(२) त्रेता अथवा उत्तर वैदिक काल
(३) द्वापर अथवा रामायण, महाभारत तथा धर्मशास्त्र काल
(४) कलियुग अथवा राजा जनमेजय परीक्षित से लेकर अब तक

सतयुग या पूर्व वैदिक काल––आधुनिक मानव का इतिहास वैवस्वत मनु से प्रारम्भ होता है। इतिहासवेत्ताओं का कहना है कि जिस समय सर्वप्रथम मानव पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ, उस समय वह पृथ्वी से उत्पन्न आहार पर ही अपना निर्वाह करता था। यहूदी और यवन भी यही मानते हैं कि आदि काल में मानव निरामिष भोजी था, पशुओं के साथ शान्ति का व्यवहार करता था तथा भूमि की स्वाभाविक उपज खाता था।[४] उस समय वह सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक शक्तियों को देखकर चकित रह जाता था।[५] तथा वह गुफा में

---

१. दी वैदिक एज, पृ० ३११।
२. दी वैदिक एज, पृ० ३१२।
३. प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, पृ० १२४-३०९।
४. भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, पृ० २१४।
५. मानव की कहानी, भाग १, पृ० १२५।

रहता था।[५] 'कामायनी' में हमें ये ही ऐतिहासिक विवरण मिलते हैं, क्योंकि वहाँ पर भी प्रसाद जी ने प्रथम मानव मनु को स्वयं उत्पन्न शालियों को बीनकर उनसे उदर-पूर्ति करते हुए दिखलाया है,[६] ग्रह, नक्षत्र आदि को देखकर आश्चर्य चकित होते हुए अंकित किया है[७] तथा हिमालय की एक विस्तृत गुफा में निवास करते हुए लिखा है।[८]

धीरे-धीरे मानव का विकास हुआ और वह अस्त्र-शस्त्र बनाकर पशुओं का वध करके उसके मांस को खाने लगा तथा उनकी खाल को शरीर ढंकने के काम में लाने लगा[९]। 'कामायनी' में मनु द्वारा आखेट करने; मृग को मारकर गुफा के द्वार पर डालने तथा धनुष, आयुध, प्रत्यंचा, शृंग, तीर आदि आखेट के उपकरणों के बिखेरने[१०] के वर्णनों में उक्त ऐतिहासिक तथ्यों की ओर संकेत मिलता है।

तदुपरान्त मानव का और भी विकास हुआ। अब वह खेती करना, पशु पालना, उनके दूध से घृत-दधि आदि निकालना भी सीख गया। इतना ही नहीं, उसने अब गुफा को छोड़कर अपने रहने के लिए घर बनाना भी सीख लिया और वह सुरा और सोमरस का पान भी करने लगा। सूर्य, चन्द्र, सविता आदि प्राकृतिक शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए वह यज्ञ भी करने लगा तथा उस यज्ञ में वह क्षीर, अन्न, घृत, मांस और सोम की आहुतियां देने लगा था।[११] "कामायनी" में इस ऐतिहासिक विवेचन के अनुसार ही मनु और श्रद्धा के मिलन के उपरान्त श्रद्धा को पशुपालन तथा खेती के लिए बीज संग्रह करने में लीन दिखाया गया है।[१२] इतना ही नहीं, वह नारी एक सुन्दर कुटीर का भी निर्माण करती हुई दिखलाई गई है।[१३] और मनु को मित्र-वरुण का यज्ञ करने तथा उसमें पशु-मांस, सोम आदि की आहुति देते हुए चित्रित किया है।[१४]

वैदिक ग्रन्थों में गांव, नगर आदि के वर्णनों के साथ-साथ उन्नत दुर्गों, भवनों, राज-प्रासादों, राज्य, मंत्री, पुरोहित, सभा-समिति आदि के भी संकेत मिलते हैं। इससे सिद्ध है कि पूर्व वैदिक काल में ही भारतवर्ष के अंतर्गत मानव राज्य-व्यवस्था करना सीख गया था।[१५] किन्तु उसकी राज्य-प्रणाली का पूरा-पूरा विकास उत्तर वैदिक काल में जाकर हुआ था।

त्रेतायुग या उत्तर वैदिक काल—इस युग में मानव के राज्य की सीमा बढ़ने लगी। सामाजिक वर्णों का भी विकास हुआ, किन्तु अभी तक जाति-प्रथा कठोर नहीं हुई थी। सगोत्र विवाह नहीं होते

---

६ मानव की कहानी, भाग १, पृ० १३०।
७. कामायनी, पृ० २८, ३२।
८. कामायनी, पृ० २६।
९. वही, पृ० ३०।
१०. मानव की कहानी, भाग १, पृ० ११७।
११. कामायनी, पृ० १४१।
१२. हिन्दू सभ्यता, पृ० ९१।
१३. कामायनी, पृ० ८२, १४१।
१४. कामायनी, पृ० १४९।
१५. वही, पृ० ११४-११७।
१६, हिन्दू सभ्यता, पृ० ८४।

थे, किन्तु अन्तर्जातीय विवाह होते थे।[१७] कृषि में पर्याप्त वृद्धि हुई, खेत जोतना, बोना, लावनी करना, मड़नी करना आदि भी आ गया। वह कई प्रकार के धान्य उगाने लगा। वह सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा, आदि धातुओं से भी परिचित हो गया[१८]। अब उसने साम्राज्य भी स्थापित किए और सम्राटों के अभिषेक के लिये विशेष संस्कारों का निर्माण किया।[१९] स्त्रियों की भी शिक्षा एवं उन्नति की ओर ध्यान दिया तथा अरण्यों में बैठकर ज्ञानार्जन करना प्रारम्भ किया।[२०] इस युग में उसने अपने अद्भुत ज्ञान का परिचय उपनिषदों एवं अरण्यकों को लिखकर दिया। उपनिषद् तो संसार भर में ज्ञान के अद्वितीय रत्न माने जाते हैं। मानव के इसी ऐतिहासिक विकास का उल्लेख 'कामायनी' के 'स्वप्न' सर्ग में मिलता है, जहाँ मनु ने अपनी राज्य-व्यवस्था द्वारा सारस्वत नगर की पर्याप्त श्री-वृद्धि की है, सुन्दर और विशाल भवनों का निर्माण किया है, कृषि में पर्याप्त उन्नति की है, धातु-शोधन करके आभूषण और अस्त्र बनाने के नये-नये ढंग निकाले हैं, ललित कलाओं में वृद्धि की है और स्वर्ण-कलशों से सुशोभित भवन, सुन्दर उद्यान आदि के साथ-साथ नव मंडप एवं राज्य सिंहासन आदि का निर्माण किया है।[२१]

द्वापर युग अथवा रामायण, महाभारत एवं धर्मशास्त्र काल––इस युग में आकर मानव का आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से और भी अधिक विकास हुआ। अब उसने सूत्र-ग्रंथ, महाभारत, रामायण, स्मृति-ग्रन्थ आदि लिखे, आर्थिक दृष्टि से व्यापार, कृषि आदि के द्वारा अधिक उन्नति की, कितनी ही नई-नई जीविकायें निकालीं, जिससे कुछ लोग सरकारी कर्मचारी के रूप में जीविकोपार्जन करने लगे।[२२] संगीत, शिल्प तथा मूर्तिकला का विकास हुआ। समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए वर्णों एवं आश्रमों की व्यवस्था की गई और उनके कर्तव्य निश्चित किए गए।[२३] व्यवहार-सम्बन्धी तथा फौजदारी के कानून बनाए गए।[२४] सुदूर दक्षिण तक राज्य सत्ता स्थापित की गई[२५] और सारे देश में शासन करने के लिए परिषद्-सभा तथा शासकीय विभाग स्थापित किए गए।[२६] अभी तक यज्ञों की प्रथा बराबर बनी हुई थी, अश्वमेधादि-यज्ञ अधिक मात्रा में हुआ करते थे, जिनमें पशु-वध आदि अच्छी तरह होते थे। इस युग का आभास 'कामायनी' में भी 'संघर्ष' सर्ग में मिलता है, क्योंकि यहाँ आते-आते मनु नियम आदि बनाकर प्रजा का वर्ग-विभाजन कर देते हैं।[२७] सारा समाज चार वर्णों में बँट जाता है और सभी अपना-अपना श्रम करने लगते हैं। ऐसे-ऐसे

---

१७. **हिन्दू सभ्यता, पृ० ९७।**
१८. **वही, पृ० ९८-९९।**
१९. **वही, पृ० १०१।**
२०. **वही, पृ० ११३।**
२१. **कामायनी, पृ० १८१-१८३।**
२२. **हिन्दू सभ्यता, पृ० १२३।**
२३. **हिन्दू सभ्यता, पृ० १२९-१३४।**
२४. **वही, पृ० १३७-३८।**
२५. **वही, पृ० १४७।**
२६. **वही, पृ० १६०।**
२७. **कामायनी, पृ० १८९।**

नये शस्त्र और यंत्र बनाए जाते हैं जिनका कि समाज पहले स्वप्न भी नहीं देख सकता था। सभी व्यक्ति अब शक्ति का खेल खेलने के लिए आतुर हो उठते हैं और निरन्तर प्रकृति के साथ संघर्ष करने लगते हैं। राज्य के नये-नये नियम बनने लगते हैं और नियामक शासक निर्बाध अधिकार भोगने के लिए आतुर हो उठता है।[२८]

कलियुग अथवा मानवता का आधुनिक युग—यह युग जनमेजय परीक्षित के समय से आरम्भ होता है। इस युग में पहले बौद्ध धर्म और जैन धर्म द्वारा पशु-वध-प्रधान यज्ञों का विरोध हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप मानव में अहिंसा, सत्य, जीवों पर दया, समस्त प्राणियों से प्रेम, सामाजिक समानता आदि के भाव जाग्रत हुए। मानव के हृदय में पशु-वध आदि से घृणा होने लगी और उसने अवतारों की कल्पना करके शिव, राम, कृष्ण, गौतम आदि की पूजा करना प्रारम्भ किया। इस युग में मानव ने मूर्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला, संगीत-कला तथा काव्य-कला में अत्यधिक उन्नति की। इसी समय वैष्णव एवं शैव धर्मों का भी उदय हुआ, जिनके दार्शनिक विचारों, उपासना-प्रणालियों एवं शुद्धाशुद्ध की भावनाओं ने मानव आत्मा को एक दूसरी दिशा में मोड़ दिया और अब विशेष धर्मनिष्ठ होकर अपना जीवन व्यतीत करने लगा। इसके अनंतर उसके हृदय में अपने आचार-विचार, रीति-रिवाज, पर्व-त्यौहारों के महत्व, आस्तिकता-नास्तिकता के भाव, दार्शनिक विचार, उपासना-पद्धतियाँ आदि ऐसी प्रविष्ट हो गई कि विदेशी आक्रमणकारियों के बल-पूर्वक परिवर्तन करने पर भी उसका हृदय परिवर्तन नहीं हो सका और बाह्य रूप से वह अवश्य दूसरों की वेश-भूषा, शिष्टाचार की पद्धतियाँ, लोक-व्यवहार आदि को अपनाता रहा, किन्तु आन्तरिक हृदय उसका कभी भी परिवर्तित नहीं हुआ। इस युग में विदेशी आक्रमणों का ताँता बराबर लगा रहा और एक के बाद एक नई संस्कृति ने इस देश पर अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस युग की अंतिम अंग्रेजी संस्कृति ने उसे यांत्रिक सभ्यता में ऐसा जकड़ा कि उसकी समस्त प्राकृतिक शक्ति छीन ली गई और उसका आर्थिक शोषण करके उसकी जीवनी जर्जर और झीनी बना दी गई। 'कामायनी' में इस युग का संकेत भी 'संघर्ष' सर्ग के अंतर्गत ही मिलता है।[२९] इसके अनंतर इस युग के राजनीतिक, दार्शनिक, धार्मिक एवं सामाजिक विकासों का उल्लेख 'कामायनी' में 'दर्शन, 'रहस्य' एवं 'आनन्द' सर्गों के अंतर्गत किया गया है; जहाँ पर राजनीतिक दृष्टि से एक शासक को जनता में भय न फैला कर समरसता के प्रचार करने की नेक सलाह दी गई है।[३०] दार्शनिक दृष्टि से इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया का समन्वय करते हुए संसार को 'सत्य सतत चिर सुन्दर' बताया गया है और प्रत्येक प्राणी को पूर्ण अद्वैत भाव से जीवन-यापन करने का आग्रह किया गया है।[३१] धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से अखंड-आनन्द-घन नटराज शिव की आराधना उपासना की ओर संकेत किया गया है तथा सम्पूर्ण जगत् को चिति स्वरूप का शिव का विराट् मंगल वपु बतलाते हुए प्राणिमात्र की सेवा, समानता, सात्विकता, सादगी, समरसता आदि से युक्त सरल जीवन व्यतीत करने की सलाह दी गई है।[३२]

अतः प्रसाद रचित 'कामायनी' महाकाव्य एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें केवल श्रद्धा और मनु की कथा ही नहीं है, अपितु मानव के विकास का पूरा इतिहास अंकित है। ●

---

२८. **कामायनी, पृ० १८९, १९२-९६।**
२९. **वही, पृ० १९९।**
३०. **वही, पृ० २४३-२४४।**
३१. **वही, पृ० २७२, २७३, २८८, २८९।**
३२. **वही, पृ० २५४, २८२, २८८-८९।**

प्रेमचन्द का यथार्थवाद और मनोविश्लेषण शास्त्र

डॉ० गिरिवरधारी सिंह
एम० ए०, पी-एच०डी०

मनोविश्लेषण का शाब्दिक अर्थ है—मनः+विश्लेषण (व्याख्या) अर्थात्, जिस शास्त्र में हमारे मानसिक भावों, उसके विकारों आदि का विश्लेषण किया जाए, उसे मनोविश्लेषण शास्त्र (साइको-अनालाइसिस) कहते हैं। —सिग्मण्ड फ्रायड को इस मनोविश्लेषण शास्त्र का जनक माना जाता है। उन्होंने ही सर्व प्रथम इसका प्रयोग चिकित्सा शास्त्र में किया। प्रारम्भ में तो इसका प्रयोग इसी सीमित क्षेत्र में किया गया। किन्तु, आज तो इसका क्षेत्र इतना अधिक व्यापक हो गया है कि प्रायः आज की सभी विचार-धाराएं इसकी अपेक्षा महसूस करती हैं।

फ्रायड ने इसमें दो रहस्य पाए—प्रथमतः काम वृत्ति और द्वितीयतः उस काम वृत्ति का अवचेतन रूप में दमन। फ्रायड के अनुसार यह काम वासना या कामवृत्ति मनुष्य की शैशवावस्था से ही काम करने लगती है। इसका बीज शिशु के भ्रूण रूप से ही पाया जाता है। समय पाकर यही कामवासना मनुष्य में परोक्षरूप से अपना काम करने लगती है। यह सामाजिक, नैतिक या ऐसे ही कई दबावों या अधीक्षणों के कारण कुंठित हो जाती है।

वस्तुतः सामाजिक या नैतिक बंधनों के कारण हम अपने सभी विचारों या भावों को व्यक्त नहीं कर पाते। और न हमारी सभी वासनाएँ ही तृप्त हो पाती है। फलस्वरूप, हमारे अन्दर कुंठाएं घर करने लगती हैं और तब हमारे अन्दर कई भाव-ग्रन्थियाँ बन जाती हैं।

इस तथ्य को स्वीकार करने में हमें किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए कि प्रेमचन्द कोई मनोविज्ञान-वेत्ता नहीं थे। क्योंकि उन्होंने किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय से मनोविज्ञान में किसी प्रकार की उपाधि प्राप्त नहीं की थी। अतएव उनका मनोविज्ञान मनोविज्ञान के पंडितों की भांति किसी सिद्धान्त का क्रमिक स्वरूप नहीं उपस्थित करता। उन्होंने फ्रायड, युंग और एडलर आदि का विधिवत् अध्ययन नहीं किया था। फिर भी, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उनके पास मनोवैज्ञानिक अन्तःदृष्टि का अभाव था। उनका मनोविज्ञान सहज मनोविज्ञान था, जिसमें एक प्रकार के सामाजिक-मनोविज्ञान (सोशल-साइकालाजी) की प्रच्छन्न पृष्ठ भूमि मिलती है।

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रेमचन्द का मनोविज्ञान अज्ञेय, इलाचन्द जोशी, डा० देवराज आदि का मनोविज्ञान भी नहीं है। वे इस क्षेत्र में जैनेन्द्र से भी भिन्न आचरण करते दिखाई पड़ते हैं। प्रेमचन्द किसी व्यक्ति की मनःग्रन्थियों को सुलझाने में ही अपनी इति कर्तव्यता नहीं समझते। उन्हें तो व्यक्ति भी समाज सापेक्ष ही दिखाई पड़ता था। समाज से कटा हुआ व्यक्ति उनकी रचना परिधि से परे था। समाज की मनोग्रन्थि खुल जाएगी, तो व्यक्ति की भी मनोग्रन्थि स्वतः खुल जाएगी, यही प्रेमचन्द की

धारणा थी और इसी आधार पर उनका मनोविज्ञान टिका हुआ था। अतः यही कारण है कि शेखर, भुवन (अज्ञेय के पात्र), नन्द किशोर, निरंजन, पारस नाथ (जोशी के पात्र), अजय, हेम, चन्द्रनाथ, साधना (डा० देवराज के पात्र), सुनीता, मृणाल, कट्टो, कल्याणी, हरिप्रसन्न, कुमार (जैनेन्द्र के पात्र) आदि जैसे पात्रों की रचना प्रेमचन्द नहीं कर सके।

प्रेमचन्द को मानव-प्रकृति का गहरा अध्ययन था और इसी आधार पर उन्होने अपने पात्रों का चाहे उनकी कहानी के पात्र हों या उपन्यास के, निर्माण किया।

मनोभाव के ये ही विभिन्न रूप प्रेमचन्द के मनोवैज्ञानिक निरूपणों के उपजीव्य हैं। प्रेमचन्द, वैयक्तिक सत्य को समाज सत्य के माध्यम से ही व्यक्त करना पसन्द करते थे और उनकी यही सबसे बड़ी विशेषता भी थी। इस क्षेत्र में प्रेमचन्द को जो सफलता मिली है, वह अभी तक अन्य किसी भी हिन्दी कथाकार को नहीं मिली है।

कलाकार, कवि या साहित्यकार युगद्रष्टा होता है। वह अपने वर्तमान युग को दृष्टिपथ में रख-कर भूत का सिहावलोकन तो करता ही है, भविष्य का मार्ग-निर्देश भी करता चलता है। इस तरह अपनी क्रान्तिदर्शिता के कारण साहित्यकार सामान्य जन से ऊपर उठ जाता है। करीब तीन दशक पूर्व ही प्रेमचन्द ने यह घोषणा कर दी थी कि "वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है।" वे आगे कहते हैं––"सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है।" इसे पुष्ट करते हुए वे आगे कहते है 'बुरा आदमी बिलकुल बुरा नही होता, उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका लेखक का काम है"––

(कुछ विचार)

प्रेम चन्द मनुष्य की कमजोरियों को बहुत अच्छी तरह जानते थे। उन्हें मानव मन का गहरा अध्ययन था। उन्होंने मानव में सत्य और असत्य, साहस और कायरता सुख और दुख, अच्छाई और बुराई सभी कुछ स्वीकार किया है। इसी दृष्टिकोण को समक्ष रखकर वे अपने पात्रों का स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण तो करते ही हैं, साथ ही उसमें आदर्श की भी स्थापना करते चलते है, क्योंकि मानव में यदि बुराई है तो उसमें अच्छाई भी तो है।

मेरी दृष्टि में प्रेमचन्द ने ही सर्व प्रथम हिन्दी उपन्यासों में मनोविज्ञान का उपयोग किया है भले ही वह मनोविज्ञान सूक्ष्म न होकर किंचित स्थूल है। प्रेमचन्द का सामाजिक सम्बन्ध बहुत विस्तृत था। वे जिस समाज में थे उसके हर वर्ग के व्यक्ति को भलीभांति पहचानते थे।

प्रेमचन्द का मनोविज्ञान सहज मनोविज्ञान था। उन्हें वैयक्तिक कुंठाओं से विशेष वास्ता नहीं था। उन्हें मानव की पेचीदी मानसिक शक्तियों का गहरा अध्ययन नहीं था, परन्तु इसका उन्हें पूरा-पूरा ज्ञान था कि मनुष्य समाज में किस प्रकार व्यवहार करता है, सामाजिक प्रवृत्तियों की मानसिक प्रक्रियाएं क्या हैं और उनकी प्रेरणाएँ क्या हैं आदि।

प्रेमचन्द सामाजिक चेतना के लेखक थे अतः उन्होंने अपने उपन्यासों के पात्रों का निर्माण भी इसी सामाजिकता के परिप्रेक्ष्य में किया है। उन्होंने अपने यथार्थवाद को सामाजिक मनोविज्ञान के माध्यम से

व्यक्त किया है। प्रेमचन्द ने आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की भांति अपने पात्रों को खंड-खंड कर के नहीं रखा है। उन्होंने पात्रों को उनकी सम्पूर्णता में हमारे सामने साकार खड़ा कर दिया है तथा उनके हृत्कम्पनों को हमें सुनने तथा अनुभव करने का मौका दिया है।

यों तो प्रेमचन्द का पहला हिन्दी उपन्यास निर्मला है, जिसमें सर्व प्रथम मनोविज्ञान का उपयोग किया गया माना जाता है। किन्तु, उनके इस मनोविज्ञान का बीजांकुर हम सेवा सदन से ही पाने लगते हैं। 'सेवा सदन' की सुमन में यह द्रष्टव्य है। सुमन एक अच्छे खाते-पीते मध्यम वर्गीय परिवार की लड़की थी। पचीस रुपये प्रति माह पाने वाले क्लर्क गजाधर पाण्डेय से उसकी शादी हो जाती है। प्रेमचन्द ने सुमन का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्र खींचा है। सुमन की निगाह भोली बाई पर पड़ती है। वह देखती है कि लोग उसकी किस प्रकार पूजा करते हैं। धनी रईस, सेठ-साहूकार आदि बड़े-बड़े घरों में उसकी बड़ी पूछ है। जिधर देखो उधर उसी की चर्चा है। आखिर भोली बाई में कौन-सा विशेष गुण है, जो मुझ में नहीं है? अब गजाधर द्वारा प्रताड़ित सुमन का अन्तःमन जाग्रत होता है। वह अपने आप की भोली बाई से तुलना करने लगती है "सौंदर्य, हां, हां, वह रूपवती है, इसमें संदेह नहीं मगर मैं भी तो ऐसी बुरी नहीं हूं। वह सांवली है, मैं गोरी हूं। वह मोटी है, मैं दुबली हूं।" वह फिर आगे सोचती है "तो क्या उसके बनाव सिंगार, गहने कपड़े पर लोग इतने रीझे हुए हैं, मैं भी यदि वैसा बनाव-चुनाव करूं, वैसे गहने-कपड़े पहनूं, तो मेरा रंग-रूप और न निखर जाएगा, मेरा यौवन और न चमक जाएगा? लेकिन कहां मिलेंगे?"—(सेवासदन) अन्य पात्रों में भी यथेष्ट मनोवैज्ञानिक परिवर्तन दिखाया गया है।

'निर्मला' ही वह पहला उपन्यास है, जिसमें मनो-विज्ञान का प्रथम बार प्रयोग हुआ है। उनका यह मनोविज्ञान निर्मला और उसके पति तोता राम के चरित्र में द्रष्टव्य है।

आखिर निर्मला एक नारी थी। वह इन्द्रिय सन्निकर्ष से परे रहने वाली कोई देवी नहीं थी। अतः उसकी अन्तःचेतना में दमित इच्छाएँ प्रकट होने के लिए व्याकुल थीं। फल यह हुआ कि धीरे-धीरे उसका अवचेतन मन अपने सौतेले पुत्र मंसाराम की तरफ आकृष्ट होने लगा। उससे बातें करके उसे अपार सुख मिलता था, असीम तृप्ति होती थी। किन्तु कभी भी उसके अन्दर कुवासना नहीं आई थी। "कुवासना की उसके मन में छाया भी नहीं थी। वह स्वप्न में भी मंसाराम से कलुषित प्रेम करने की बात न सोच सकती थी।"...निर्मला पृ० ६३

मनोविश्लेषण-शास्त्रियों का कहना है कि हमारी दमित इच्छाएं ही हमारे अवचेतन में जाकर बैठ जाती हैं। हम डरते हैं कि ऐसा करने पर समाज हमें बुरा कहेगा। हम समाज के सामने दोषी सिद्ध हो जाएंगे। निर्मला के मन में भी इन दमित इच्छाओं का विस्फोट होता है। आखिर वह भी कह उठती है—"मुझ में सारी बुराइयाँ ही बुराइयाँ हैं तुम्हारा कसूर नहीं। विमाता का नाम ही बुरा होता है, अपनी मां विष भी खिलाए तो वह अमृत है, मैं अमृत भी पिलाऊं तो विष हो जायगा।"

परन्तु समाज के सचेत प्रहरी प्रेमचन्द ने इसे सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध नहीं जाने दिया है। उसे उन्होंने सामाजिकता की ओर मोड़ दिया है।

तोता राम को भी अपने बेटे पर शंका करना स्वाभाविक है। इसीलिए उसे होस्टल में भेज देते हैं। बूढ़ों की यही स्थिति होती है और बुढ़ापे की शादी का यही फल होता है। प्रेमचन्द ने निर्मला और तोताराम के मानसिक संघर्ष का बहुत ही सुन्दर मनो-वैज्ञानिक निरूपण किया है।

'रंग भूमि' में सूरदास भी एक मनो-वैज्ञानिक पात्र हैं। प्रेमचन्द ने इसे पूर्णरूपेण आदर्शवादी बनाया है। वह जीवन को एक रंग-भूमि समझता है और इसीलिए वह डटकर जीवन-संघर्ष का मुकाबला करता है। मानव चरित्र में अच्छाइयां और बुराइयां दोनों ही रहा करती हैं। सूरदास में भी ये दोनों चीजें कमबेश मात्रा में पायी जाती हैं। भैंरो ने सुभागी को पीटकर घर से निकाल दिया है। अब वह सूरदास की शरण ले रही है। उस समय सूर के अंतरंग में उठने वाले एक भाव का चित्र देखा जाए—"मैं कितना अभागा हूं, काश यह मेरी स्त्री होती, तो कितने आनन्द से जीवन व्यतीत होता। अब तो भैंरो ने इसे घर से निकाल ही दिया, मैं रखलूं तो इसमें कौन सी बुराई है, उससे कहूं कैसे, न जाने दिल में क्या सोचे ? मैं अन्धा हूं तो क्या आदमी नहीं हूं। बुरा न मानेगी ? मुझसे इसे प्रेम न होता तो मेरी इतनी सेवा क्यों करती ?"

परन्तु वह वैसा नहीं करता। संभवतः प्रेमचन्द का सामाजिक यथार्थवाद, जो आदर्शवाद से मर्यादित है, सामने आ जाता है और हाड़-मांस का पुतला सूरदास ऐसा करने से बच जाता है।

"प्रेमाश्रम" में भी प्रेमचन्द ने ज्ञान शंकर और गायत्री के चरित्र में मनोविज्ञान का निर्वाह किया है। इसी प्रकार तेज शंकर और पद्म शंकर के चारित्रिक विकास में भी बाल मनोविज्ञान का अच्छा चित्रण किया है। इसमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार छोटी छोटी बातों का बच्चों पर प्रभाव पड़ता है और उनके दिमाग में वे बातें किस प्रकार घर कर जाती हैं तथा परिस्थिति और वातावरण का उनके विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। यत्र-तत्र ग्रामीण चरित्रों को भी यत्किंचित् मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित करने में प्रेमचन्द को सफलता मिली है।

इस दृष्टि से प्रेमचन्द को 'कायाकल्प' में पूरी सफलता नहीं मिल पायी है। इस उपन्यास के दो मुख्य पात्र हमारे सामने आते हैं—मनोरमा और चक्रधर। मनोरमा आशातीत आदर्शवादी पात्र है। चक्रधर आदर्शवादी तो है ही, वह दुर्बल मनोवृत्ति का एक ढुलमुल पात्र है। मनोरमा का चक्रधर के प्रति आकृष्ट होना तो मनोवैज्ञानिक सत्य दिखाई पड़ता है, किन्तु मनोरमा का विशाल देव सिंह से शादी करना, उसे खूब स्नेह देना और दाम्पत्य जीवन को सुखमय ढंग से बिताना मनोरमा जैसी युवती के लिए कैसे संभव हो सकता है ? अतः यह बात मनोविज्ञान सम्मत प्रतीत नहीं होती।

तदनन्तर, 'गबन' प्रेमचन्द का एक सफल उपन्यास है, जिसमें मनोविज्ञान का बड़ा सुन्दर और सफल प्रयोग हुआ है। लेखक ने इसमें यथार्थवाद और मनोविज्ञान का बड़ा सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है। 'जालपा' और 'रमानाथ' दोनों का चरित्र-विकास मनोविज्ञान के आधार पर ही दिखाया गया है। उनके चरित्र विकास में प्रेमचन्द ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है।

तत्पश्चात् हम 'कर्म भूमि' में उतरते हैं। यह प्रेम चन्द के प्रौढ़ विचारों की एक प्रतिनिधि रचना है। इसके सारे पात्र करीब करीब विकसनशील हैं। इस उपन्यास का नायक अमरकान्त अत्यधिक विकसनशील है। उसके चारित्रिक पक्ष को प्रेमचन्द ने बड़ी ही कुशलता के साथ मनोवैज्ञानिक ढंग से विकसित किया है।

मनुष्य के पास धन कुबेर की सारी सम्पदा हो किन्तु उसे सहज स्नेह न मिले, तो उसके लिए वह सब कुछ वैसे ही बेकार है, जैसे भंवरे के लिए चम्पा की कली। भंवरे को कमल से जो स्वाभाविक और मधुर रस मिलता है वह चम्पा की कली से कहां ? सुखदा अमरकान्त की पत्नी थी। वह बड़ी सुन्दर थी और बड़े धनी बाप की बेटी भी थी। अमरकान्त स्नेह का भूखा था। वह सकीना से प्रेम की याचना करता है। कारण,

उसे सुखदा से वह स्नेह नहीं मिला, जिसकी उसे भूख थी। वह सकीना के सुख-दुःख का साथी बन जाना चाहता है। सकीना की गरीबी देख द्रवीभूत होता है और दो साड़ियाँ लाकर उसे देना चाहता है। वह तो उससे शादी करके मुसलमान भी बन जाना चाहता है। वह पुनः मुन्नी की तरफ भी मुड़ता है और उससे भी प्रेम की याचना करता है, परन्तु वहां भी वह नही टिक पाता। इस तरह हम देखते हैं कि प्रेमचन्द अमर के मन की गुत्थियों को खोलना तो चाहते हैं किन्तु सामाजिक प्रतिबन्ध जिसे हम उनका आदर्श कह सकते हैं, उसके वशीभूत वे चाह कर भी ऐसा नहीं कर पाते और उस पर रोक लगा देते हैं।

रचनाक्रम की दृष्टि से 'गोदान' प्रेमचन्द का अन्तिम उपन्यास है। इसी में इनका यथार्थ इनकी पूर्ववर्ती कृतियों में न्यस्त आदर्श के आरोप से मुक्त होकर चित्रित हो सका है। अतः इस कृति में प्रेमचन्द का यथार्थ मनोविज्ञान की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण नहीं रहा है। अन्य उपन्यासों में उनके पात्र उनके विचार के अनुकूल होते रह गए हैं। परिणामस्वरूप वे यथार्थ की आरम्भिक झलक रहने पर भी अन्ततोगत्वा आदर्शवादी बन गए हैं। 'सेवा सदन' की सुमन से लेकर 'प्रेमाश्रम' के प्रेम शंकर और रंगभूमि के सूरदास और 'कायाकल्प' के चक्रधर आदि आदि ऐसे ही पात्र हैं--किन्तु होरी में बहुत अन्तर आ गया है। यह सत्य है कि होरी का निर्माण भारतीय किसानों की व्यथा पूर्ण कहानी सुनाने के लिए हुआ है, किन्तु उसे 'देवता' न बना कर एक मनुष्य के रूप में चित्रित करने की कोशिश की गई है और उसकी सारी मनःस्थितियों का बड़ा ही बारीक विश्लेषण किया गया है।

इसी तरह मालती और मेहता का भी मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। इन दोनों चरित्रों का निर्माण उनकी मानसिक स्थितियों के आधार पर ही किया गया है।

अन्ततः 'मंगल सूत्र' लेखक के जीवन की सांध्य बेला में लिखा गया कुछ ही पृष्ठों का एक अधूरा उपन्यास है। इसमें पात्रों का बड़ा स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण होता हुआ दिखाई पड़ता है, किन्तु उन पात्रों के चरित्र विकास को अन्तिम संस्पर्श देने के पहले ही प्रेमचन्द चल बसे। तथापि 'मंगल सूत्र' के देव कुमार की मनःस्थितियों का अध्ययन हमें निश्चित कर देता है कि प्रेमचन्द उसका मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण करना चाहते थे।

इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासों में उनके द्वारा व्यक्त मनोविज्ञान का संक्षेप में सर्वेक्षण करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि प्रेमचन्द ने अपने पात्रों के माध्यम से समाज के किसी ऐसे अश्लील चित्र को सामने रखने की कोशिश नहीं की है जिससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़े और उनका आदर्श विचार विखण्डित हो। दूसरी बात हम यह पाते हैं कि उन्होंने पात्रों का जो मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित किया है, वह किसी प्रकार का आरोपित मनोविज्ञान नहीं है, वरन् स्वतः निःसृत चित्रण है जिसमें कृत्रिमता या अस्वाभाविकता की बू तक नही पहुंच पाई है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यास की भूमिका

डॉ० रणवीर राँगा
एम० ए०, पी-एच०डी०

देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता तो बहुत बाद १९४७ में मिली, पर हिन्दी का साहित्यकार उससे डेढ़-दो दशक पहले ही अपनी मानसिक मुक्ति की घोषणा कर चुका था। समाज को सब कुछ मानकर चलने वाली द्विवेदी-कालीन प्रवृत्ति के विरुद्ध उसने विद्रोह का झंडा गाड़ दिया था और बड़ी निर्भयता से उस पर प्रहार शुरू कर दिए थे। समाज की अंध-परम्पराओं, उसके कृत्रिम मूल्यों और निरर्थक मान-मर्यादाओं से व्यक्ति की आत्मा को मुक्त कराने के लिए वह जी-जान से जुट गया था। धर्म के पाप-पुण्य, समाज के विधि-निषेध तथा राजनीति के भय-प्रलोभन से ऊपर उठकर वह साहित्य-सृजन के माध्यम से व्यक्ति-सत्य की खोज में व्यक्ति-मानस की गहराइयों में उतरने लगा था। कथा-साहित्य में जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' ने सामाजिक मूल्यों की कृत्रिमता पर करारी चोट की। जैनेन्द्र के 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' में इन मूल्यों की गहरी खुदाई करके मूल नैतिकता की खोज शुरू हुई। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' तक पहुंचते-पहुंचते तो साहित्यकार सामाजिक नैतिकता से भी ऊपर उठकर विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों के सहारे मानव-मन में कार्य-कारण के सूत्र ढूंढ़ने लग गया था।

हिन्दी के साहित्यकार की मानस-मुक्ति की यह यात्रा जितनी साहसिक थी उतनी ही उद्‌बोधक भी। समाज पर से साहित्यकार का जो विश्वास उठ गया था उसका यह अर्थ नहीं कि वह जीवन के प्रति भी आस्था खो बैठा था, बल्कि जीवन में उसकी आस्था बढ़ गई थी और वह व्यक्ति की शक्ति को पहचानने लगा था। उसे विश्वास हो गया था कि व्यक्ति समाज की मूलभूत इकाई है, समाज का उत्थान और पतन, विकास और ह्रास, व्यक्ति-निरपेक्ष नहीं हो सकता। समाज का सत्य पाना हो, जीवन की थाह लेनी हो, तो व्यक्ति के सत्य को पाना होगा; सामाजिक विकृतियों का निदान व्यक्ति-मानस में ढूंढ़ना होगा। समाज को सुधारने की बात उसके लिए निरर्थक हो गई थी। व्यक्ति के परिष्कार में भी उसे रुचि नही रही थी, क्योंकि वह मानता था कि व्यक्ति अपने को समझने लगे, अपनी प्रकृति-विकृति को पहचानने लगे तो उतना ही बहुत है।

इस प्रकार साहित्यकार की आस्था समाज से हटकर व्यक्ति में स्थापित हो गई और उसका लिखना अपने को पाने में प्रवृत्त हुआ। लिखना उसके लिए एक मजबूरी बन गया; लिखे बिना उसे कल नहीं पड़ती थी। रचना-प्रक्रिया में अपने साक्षात्कार से उसे जो संतुष्टि मिलती थी, वही उसका चरम-प्राप्य था। उसकी तुलना में वह शारीरिक सुख-सुविधा तथा आर्थिक-प्रलोभन और पद-प्रतिष्ठा को कुछ भी नहीं गिनता था। सत्य के प्रति उसमें एक लगन थी, एक सनक थी। जिसे समाज आदर की दृष्टि से देखता था। आदर के साथ कई बार आतंक का भाव भी जुड़ जाता था जो साहित्यकार को अच्छा ही लगता था।

स्वतंत्रता हमें समझौते के रूप में मिली और मिली भी अप्रत्याशित ही। अप्रत्याशित इसलिए कि

जब तक हम अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहे, आजादी हमसे दूर रही पर सहसा ज्यों ही हमने अपने आदर्शों और विश्वासों के साथ समझौता करने का फैसला किया, हमें तत्काल आज़ादी मिल गई। उस समय ऐसा लग रहा था कि यह अवसर खो दिया तो न जाने स्वतन्त्रता कब मिले और देश जो शताब्दियों से दासता की चक्की में पिस रहा है उसकी यातनाओं का अन्त फिर न जाने कब और कैसे हो।

इस प्रकार, स्वतन्त्रता तो मिल गई, पर वह बहुत महंगी पड़ी। उसे पाने के लिए हमें उन सब उपलब्धियों की बलि देनी पड़ी जो हमने स्वाधीनता संग्राम के दीर्घकालीन अनुशासन, तप और त्याग से पाई थीं। भारत की अखंडता का स्वप्न बिखर गया। देश स्वतंत्र होने से पहले ही खंडित हो गया। एकता हमारे संघर्ष की धुरी थी। देश के विभाजन से एकता की नींव हिल गई और फूट के तत्वों को बढ़ावा मिला। अहिंसा हमारा मूलतन्त्र था, पर देखते-देखते हिंसा का नग्न नर्तन होने लगा और अहिंसा बेचारी असहाय खड़ी ताकती रही। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद का सत्य इतना भयानक था कि हम उसकी ताब न ला सके। आज़ादी हमें हार मान लेने पर मिली थी, पर हम उसे अपनी विजय मान बैठे। खंडित भारत को स्वीकार करके भी राग हम अखंडता के अलापते रहे; हिंसा की ओर झुककर भी नारा हम अहिंसा का लगाते रहे। इस प्रकार आत्मप्रवंचना का युग शुरू हुआ।

आज़ादी के लिए राष्ट्रीय स्तर पर जो समझौता हुआ था, व्यक्ति और समाज के संबंधों पर भी उसका सीधा और गहरा प्रभाव पड़ा। स्वतन्त्रता मिलते ही तप और त्यागमय जीवन को विराम मिल गया--एक तरह से दोनों को व्यर्थ सिद्ध करते हुए, क्योंकि अंततः समझौता ही करना था तो इतने बलिदानों की क्या ज़रूरत थी। यों भी एकनिष्ठ साधना की आवश्यकता न रही थी। आज़ादी का लक्ष्य पूरा हो चुका था और अन्य कोई लक्ष्य सामने था नहीं। समाजवादी जीवन पद्धति की बात कानों में पड़ जरूर रही थी, पर उससे आंखों के सामने कोई स्पष्ट चित्र नहीं उभरता था और फिर, जनता को लगता था कि स्वतन्त्रता-संग्राम में उसने अपनी भूमिका निष्ठापूर्वक निभा दी, अब शेष काम सरकार का है। लक्ष्य के अभाव में राष्ट्र की शक्ति केन्द्रच्युत होने लगी। व्यक्ति समाज से कटकर अपने में सिमटने लगा। अपने हिताहित को सोचता-समझता वह आत्मकेन्द्रित होता गया। धीरे-धीरे व्यक्तिहित राष्ट्रहित से ऊपर उठने लगा।

स्वार्थ की भावना ने ज़ोर पकड़ा तो हम अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो गए और कर्त्तव्य के प्रति उदासीन। परिणाम यह हुआ कि अधिकारों की मांग का स्वर जितना तेज़ और तीखा होता गया, अधिकार उतने ही महंगे और दुर्लभ होते गए। हमने इतिहास के इस सत्य के प्रति आंखें मूंद लीं कि अधिकार सदा कर्त्तव्य की गैल चलकर ही मिलते हैं। कर्त्तव्य की उपेक्षा करके ज़ोर-जबरदस्ती से अधिकार पा भी लिए जाएं तो भी वे टिकते नहीं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले हममें अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा और दूसरों के अधिकार के प्रति आदर का भाव था, पर अब हर कोई अपने अधिकारों और दूसरों के कर्त्तव्यों की दुहाई देने लगा; अपने को छोड़ कर, बाकी सबकी आलोचना में रस लेने लगा। इसमें जीवन में कटुता, कुंठा और घुटन बढ़ती गई।

देश के औद्योगीकरण का काम सरकारी स्तर पर पूरी गति से चला तो सरकार और उद्योगपतियों का अर्थात् सत्ता और धन का गठबन्धन हो गया। धन तो पहले ही मुंहज़ोर था। सत्ता का समर्थन मिलते ही वह अजेय हो गया। नैतिक मूल्यों का विघटन हो ही गया था; पुरातन मूल्यों का लोप हो रहा था, बदले में नए मूल्य बन नहीं रहे थे, अस्तित्व का संघर्ष विकट था ही। तब व्यक्ति को अपने त्राण का एक ही मार्ग

दिखता था और वह था धन। जीवन के इस अस्तित्व-संग्राम में व्यक्ति ने दर-दर की ठोकरें खाकर, घाट-घाट का पानी पीकर, यह अनुभव पा लिया था कि दुनिया में धन ही सब कुछ है, धन जीवन का सबसे बड़ा वरदान है और धन का अभाव है सबसे बड़ा अभिशाप। इस प्रकार, जीवन के सभी मूल्य अर्थ में सिमिट आए और आर्थिक मूल्य ही एकमात्र जीवन मूल्य बन गए।

आत्मप्रवंचना का यह युग, मानव-मूल्यों के निर्मम विघटन और जीवन-व्यापी कटुता-कुंठा को लिए, अपनी सम्पूर्ण प्रकृति-विकृति के साथ हिन्दी उपन्यास में प्रतिबिम्बित तो हुआ ही, उसे नया रंग, रूप और आकार भी देता रहा।

देश के विभाजन के परिणाम-स्वरूप अराजकता की जो आंधी चली, निरीह प्राणियों का जो रक्त-पात हुआ, उससे साहित्यकार का—विशेषतः उपन्यासकार का—आसन डोल गया। उसकी अन्तर्मुखता भंग हो गई और वह व्यक्ति-मानस की गहराइयों से उभर कर पुनः समाज में लौट आया—समाज के प्रति आक्रोश से भर कर, वह चिरन्तन सत्य का अन्वेषण छोड़, तात्कालिक यथार्थ की ओर मुड़ा, शाश्वत प्रश्नों को भूलकर वर्तमान समस्याओं में प्रवृत्त हुआ और वस्तुपरक होने लगा। जो व्यक्ति-निष्ठ ही रहे, वस्तु-निष्ठ न हो सके, उनका लेखन रुक गया—कम से कम उपन्यास के माध्यम से तो रुक ही गया। जैनेन्द्र और अज्ञेय की औपन्यासिक कृतियों में एक लम्बा अन्तराल इस बात का प्रमाण है। इलाचन्द्र जोशी व्यक्ति-मानस की गहराइयों से अपेक्षतया जल्दी निकल आए और उन्होंने 'मुक्तिपथ' के रूप में एक सन्तुलित कृति दी। अमृत लाल नागर—जैसे अनेक उपन्यासकार समय की नब्ज पहचानते हुए व्यक्ति पर समाज के नृशंस अत्याचारों के विरुद्ध कटिबद्ध हो गए और उन्होंने 'बूंद और समुद्र' आदि कृतियों में व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध को चित्रित करते हुए दोनों के सामंजस्य पर बल दिया है। इनके अलावा कविता और नाटक की सीमाओं को लांघकर उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर आदि कई और लेखक भी सामाजिक उपन्यास की धारा में आ मिले।

यशपाल ने—कुछ देर से ही सही—अपनी महत्वपूर्ण कृति 'झूठा सच' में विभाजन की विभीषिका और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के भारतीय समाज और संस्कृति की दुःखद परिणति का निर्मम एवं सांगोपांग चित्रण किया। यशपाल के अतिरिक्त, नए परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवादी चेतना से अनुप्राणित होकर रांगेय राघव, नागार्जुन, अमृतराय, राजेन्द्र यादव आदि अनेक नई प्रतिभाएं भी उपन्यास के क्षेत्र में आईं, जिससे समाजवादी धारा में फिर से जान आ गई। इस बीच एक और उल्लेखनीय घटना हुई। विभाजन की हृदय-विदारक परिस्थितियाँ झेलते समय साहित्यकार के भीतर जो मानस-मंथन हुआ था उसके परिणामस्वरूप उसकी सैद्धान्तिकता के तीखे कोने उत्तरोत्तर घिसते गए और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण अधिक संयत एवं व्यावहारिक होता गया। यशपाल का परवर्ती लेखन और इस धारा की अन्य कृतियां इसका प्रमाण हैं।

समय पाकर व्यक्ति-निष्ठ उपन्यासकारों की कृतियाँ भी प्रकाश में आने लगीं, उदाहरणार्थ 'सुखदा', 'नदी के द्वीप', 'जयवर्धन' आदि। उनके माध्यम से वे व्यक्ति-मानस की गहराइयां नापते हुए मानव की चिरंतन समस्याओं से जूझने लगे, पर ये कृतियां उनकी पहली रचनाओं जितनी दुरूह न रही थीं, उन्हें समझने के लिए बहुत अधिक आयास की अपेक्षा न रही थी। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के साथ अब डा० देवराज, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे आदि भी आ मिले थे।

अतीत में विचरने वाले ऐतिहासिक उपन्यास के प्रति विशेष उत्साह न रहा। फिर भी, चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगरवधू', वृन्दावनलाल वर्मा की 'मृगनयनी', यशपाल की 'अमिता', आदि सशक्त रचनाओं के रूप में नए प्रयोग बरबस पाठकों को आकृष्ट करते रहे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जब देश की एकाग्रता भंग हुई, एकता की अपेक्षा अनेकता की प्रवृत्ति बढ़ी और हर किसी का ध्यान अपने प्रदेश, जाति-वर्ग, धर्म-संस्कृति पर आ टिका तब हिन्दी साहित्य में आंचलिक उपन्यास का उदय हुआ जिसका चरमोद्देश्य था—किसी विशेष अंचल अथवा प्रदेश को लेकर उसके जन-जीवन का यथार्थ एवं वैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत करना। नागार्जुन ने अपने उपन्यास 'बलचनमा' से शुरुआत की तो फणीश्वरनाथ रेणु 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' की रचना द्वारा उसे विकास की ओर ले बढ़े। शिव-प्रसाद मिश्र 'रुद्र', भैरवप्रसाद गुप्त, राजेन्द्र यादव आदि कई और उपन्यासकार भी उनके साथ आ मिले।

स्वतन्त्र-भारत में नर-नारी के संबंधों ने भी नया मोड़ लिया। विवाह में अब धार्मिक अनुष्ठान न रह कर स्त्री-पुरुष में बराबरी के स्तर पर होने वाले समझौते का रूप धारण कर लिया। देश के विभाजन की आंधी में नारी को जो झेलना पड़ा था उसने उसकी आंखें खोल दी थीं। उसने अच्छी तरह देख लिया था कि व्यक्ति और समाज की विकृतियों का सबसे अधिक शिकार उसे ही बनना पड़ता है। अतः अपने परिपार्श्व के प्रति अब वह सजग हो गयी और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर-मिलाकर नहीं—चलने की माँग करने लगी। सभ्यता ने उसकी स्वतन्त्रता को स्वीकारा। कानून ने उसे बराबरी का हक दिया। आधुनिक शिक्षा-दीक्षा ने उसमें स्वाभिमान का भाव भरा पर इन सबको वह अपने व्यक्तित्व में खपा न पाई। सभ्यता, कानून और शिक्षा ने नारी की शारीरिक बेड़ियां तो काट दीं, पर उसके भीतर गहरे जमे सदियों की दासता के संस्कार, उसकी आत्मा को जकड़े रहे और वह लाख छटपटाने पर भी उनसे मुक्त न हो पा रही थी। संस्कारों में वह प्राचीना ही रही, पर आधुनिकता को उसने फैशन के रूप में ओढ़ लिया। इस प्रकार, द्वैत ने नारी के व्यक्तित्व को खंडित कर दिया।

नारी के इस द्वैत ने साहित्यकार को आकृष्ट किया। इलाचन्द्र जोशी के 'सुबह के भूले', उदयशंकर भट्ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य' और डा० 'शैफाली' जैनेन्द्र के 'सुखदा', और 'विवर्त्त', माचवे के 'द्वाभा' आदि उपन्यासों ने इस विषय को गहराई से लिया। समाज में सेक्स और अर्थ की सम्मिलित विकृतियां नारी का शोषण करके उसे कहां से कहां पहुँचा देती हैं। इसका चित्रण यशपाल के 'मनुष्य के रूप' और भगवती बाबू के 'आखिरी दाव' में हुआ। देश के विभाजन की पृष्ठभूमि में नारी के भीषण शोषण और फिर नवजागरण का सांगोपांग चित्रण यशपाल ने अपने बृहद् उपन्यास 'झूठा-सच' में किया। गृहस्थी पर बढ़ता हुआ आर्थिक बोझ, स्वतन्त्रता की कामना और नागरिक जीवन की चकाचौंध आदि मिलकर नारी को नौकरी के क्षेत्र में ले आए पर गृहस्थी की जिम्मेदारी उसकी ज्यों की त्यों बनी रही और यह एक अतिरिक्त दायित्व उस पर आ पड़ा। पहले उसका शोषण घर में होता था, अब बाहर भी होने लगा, यद्यपि अब वह उतनी निरीह न रही थी पर जो पूरी ईमानदारी से दोनों ही दायित्व निभाना चाहती थी वह दो पाटों के बीच पिसने लगी। नौकरी-पेशा नारी की समस्याओंको लेकर रजनी पनिकर, उषा प्रियम्वदा, मीरा महादेवन आदि कई लेखिकाएं भी उपन्यास के क्षेत्र में आई।

साहित्य के संदर्भ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की सबसे महत्वपूर्ण घटना है साहित्य-सृजन का 'वाङ्मय तप' के आकाश से उतर कर व्यवसाय की कठोर धरती पर आ टिकना और इस आधार को दृढ़ता से

पकड़ लेना। साहित्य-सृजन व्यवसाय बना तो व्यवसाय के सभी नियम उस पर लागू हुए। व्यवसाय को बढ़ाने के लिए साहित्यकार को कई बार ऐसे हथकंडे भी अपनाने पड़े, जिनका साहित्य से दूर का भी संबन्ध न था। मांग और पूर्ति का चक्र चला तो साहित्यकार को 'आर्डर' पर भी माल तैयार करना पडा और ऐसा माल तैयार करना पड़ा जो कम से कम समय में अधिक से अधिक मात्रा में निकले और आकर्षक भी हो। इससे साहित्य में ऋजुता तो आई पर उसके साथ सस्तापन भी आया। मौलिकता और फैशन के फेर में नए-नए टैकनीकों का प्रयोग किया गया। गहन अनुभूति की कमी ने टेकनीक का मोह और भी बढ़ा दिया। इससे उपन्यास का शिल्पविकास तेज़ी से होने लगा और उसकी शिल्पगत उपलब्धियां उत्तरोत्तर बढ़ती गईं।

इस युग की सर्वाधिक क्रान्तिकारी घटना तो यह हुई कि जीवन जीने और भोगने के बजाय समझने और समझाने का विषय बनता गया और अनुभूति का स्थान उत्तरोत्तर बौद्धिकता लेती गई। उपन्यास को तो ज़माने की हवा बड़ी तेज़ी से लगती है। उपन्यास में अनुभूति की गहनता घटी तो कथ्य फीका पड़ने लगा। उपन्यास के लिए यह बड़े संकट का समय था, पर शीघ्र ही बौद्धिकता और शिल्प दोनों ने उसे सहारा देकर इस विकट स्थिति से उबार लिया। बौद्धिकता और शिल्प में वैसे भी चमत्कार पैदा करने की अद्‌भुत क्षमता है। साहित्य-सृजन के व्यवसाय का रूप धारण करते ही चमत्कार और भी वांछनीय हो उठा। मौलिकता और फैशन के आग्रह से भी शिल्प के नए-नए प्रयोगों को बढ़ावा मिला। शिल्पगत प्रयोग जितने अधिक इस युग में हुए हैं उतने शायद उपन्यास के पूरे इतिहास में भी नहीं हुए।

प्रकृतिवादी यथार्थवाद

डॉ० श्याम नारायण शुक्ल
एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकृतिवादी दृष्टिकोण का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रांस के उपन्यासकारों ने किया। फ्रांसीसी कलाकारों में प्रकृतिवादी धारा के प्रवर्तक के रूप में सर्वप्रथम साहित्यकार हम 'ज़ोला' को मान सकते हैं। यद्यपि इसकी स्थापना ज़ोला से पूर्व ही 'गनकौर भाई' ने कर दी थी। 'ज़ोला' की दृष्टि जीवन के प्रति प्रयोगात्मक थी। उन्होंने अपनी पुस्तक 'ल सेमान एक्सपेरिमेन्टल' में इसी दृष्टि का परिचय दिया है। उन्होंने पात्रों का विश्लेषण उनकी वंशपरम्परा और वातावरण के आधार पर किया है। मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य-कलापों के लिये वंश-परम्परा और वातावरण ––ये दो तत्व ही उत्तरदायी होते हैं। किसी भी मनुष्य के शरीर का गठन, रूप और रंग उसके वंश से सम्बद्धित होता ही है, साथ ही उसके व्यवहार, आन्तरिक प्रवृत्तियों और अभिरुचियों में भी उसी वंश और वातावरण की झलक स्पष्टतः परिलक्षित होती रहती हैं। विज्ञान की इसी पद्धति को लेकर ज़ोला ने अपने पात्रों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का अध्ययन और विश्लेषण उपस्थित किया है। ज़ोला ने एक स्थान पर लिखा है––"प्रयोगी प्रकृति का परीक्षण कर विधि का निर्णय करने वाला होता है। हम उपन्यासकार मनुष्यों और उनके विकारों का परीक्षण और विधि निर्णय करने वाले हैं।" उनका कहना है कि जिस प्रकार अनेक रासायनिक पदार्थों के संमिश्रण से एक नवीन वैज्ञानिक पदार्थ की उत्पत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य की आनुवंशिक अनेक प्रवृत्तियों का जब परिवेश से सम्पर्क होता है तो अनेक नई प्रवृत्तियों और क्रियाओं का जन्म अपने आप हो जाता है। प्रकृतिवादी यथार्थवादी इन्हीं प्रवृत्तियों का सूक्ष्म और गहन अध्ययन उपस्थित करता है।

मानव-जीवन का वंश-परम्परा और परिवेश से गहनतम सम्बन्ध होने के बावजूद उसे हम वैज्ञानिक प्रयोगशाला में परीक्षित नही कर सकते। मानव-जीवन कोई रासायनिक जड़ पदार्थ नही है जिसमें प्रयोगकर्ता को अपनी अभिरुचि का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। मानव-जीवन के साथ साहित्यकार की भूत, वर्तमान और भविष्य की अनेक परिस्थितियाँ, उसकी सामाजिक और वैयक्तिक मान्यतायें उसे चारों ओर से घेरे रहती हैं, जिनकी ओर से वह आँख बन्द नही कर सकता। ऐसा करने पर समाज के प्रति अपने दायित्व को वह विस्मृत कर देता है और उसका चित्रण यथार्थ की पार्श्व-भूमि से दूर चला जाता है। ऐसी स्थिति में जोला और उसके अनुयायियों द्वारा किये गये मानव-जीवन के अतिवादी प्रयोगों को हम उचित नहीं मान सकते। यह बात भिन्न है कि मानव-जीवन और समाज के प्रकृतिवादी प्रयोग में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। किन्तु उनका अतिरंजित रूप सर्वदा उपेक्षणीय रहेगा। इसी अतिवादी विचार-धारा की आलोचना करते हुए 'सार्त्र', ने लिखा है––'निरुपयोगिता की चरम सीमा ही सुन्दरता थी।

जोला के ही अनुकरण पर इसी पद्धति के आधार पर रचना करने वाले फ्रांसीसी कलाकारों में हम

'रोम्या रोलाँ' और 'मोपाँसा' आदि का नाम ले सकते हैं, जिनके चित्रण में औपन्यासिक तत्वों की तुलना में कुछ तत्व जोला से भी अधिक उदात्त मात्रा में मिलते हैं। फ्रांसीसी प्रकृतिवादी साहित्यकारों के पश्चात् अंग्रेज़ी साहित्यकारों का नाम आता है। जिनकी रचनाओं में प्रकृतिवादी तत्वों की प्राप्ति अधिक न होने पर भी कुछ शैलीगत विशेषतायें अवश्य मिलती हैं। इन साहित्यकारों की कृतियों में समाज और मानव की बुराइयों का उपस्थितिकरण तो बड़ी उपयुक्त मात्रा में है किन्तु उस सम्बन्ध में उपस्थित की गई उनकी निजी व्याख्या प्रकृतिवादी व्याख्या से साम्य खाती प्रतीत नहीं होती। इन साहित्यकारों में 'मूर' और 'बटलर' आदि को छोड़कर कोई भी प्रभावशाली कलाकार दिखाई नहीं पड़ता।

इन पाश्चात्य प्रकृतिवादियों की तुलना में हिन्दी प्रकृतिवादी यथार्थवादी साहित्यकार अपनी रचनाओं में वंश और परिवेश से प्रादुर्भूत अनेक वृत्तियों की क्रियाओं का विवेचन उचित मात्रा में उपस्थित करने में असमर्थ दीख पड़ते हैं। उनके प्रकृतिवाद की सीमा कुत्सित वृत्तियों के 'हू बहू' चित्रण तक ही है। प्रकृतिवादी उपन्यास की मूल धारा जीवन का प्राकृतिक विकास उनकी रचनाओं में बड़ी हीन मात्रा में मिलता है। मानव प्रकृति की समस्त चेतनाओं को उसी प्रकार उन्मुक्त उनके प्राकृत रूप में चित्रित किया जाता है, जिस सहज प्राकृतिक भाव से प्राणी मात्र आचरण करते हैं। प्राकृतिक या सहज स्वाभाविक भाषा और शैली में मनुष्य के सहज स्वाभाविक आचरण का चित्रण प्रकृतिवाद की प्रमुख विशेषता होती है।

पाश्चात्य और हिन्दी साहित्यकारों की कृतियों के विवेचन से एक बात बड़ी स्पष्ट झलकती है; वह यह कि कथानक और चरित्रों के विकास में जहाँ पाश्चात्य कलाकारों की रचनायें ऊबड़-खाबड़ अनिश्चित मार्ग से बहने वाली नदी दिखलाई पड़ती हैं, हिन्दी के तथाकथित प्रकृतिवादी साहित्यकारों की रचनायें पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार निर्मित जैसे नहरे हों। हिन्दी और पाश्चात्य उपन्यासकारों के मार्गों का यह भेद हिन्दी प्रकृतिवादियों को पाश्चात्य प्रकृतिवादी यथार्थवादियों से कई कदम पीछे कर देता है। हिन्दी उपन्यासकारों के चरित्रों और कथा के विकास में जीवन-विकास की वह स्वाभाविकता और प्रभावशालिता नहीं है, जो पश्चिमी प्रकृतिवादियों की रचनाओं में है। कभी-कभी कुछ लोगों को इस प्रकार के साहित्य में मानव के संयम-विहीन और स्खलित आचरण की झलक मिलती है, और इस कोटि के साहित्य की कटु आलोचना भी की जाती है। कलाकारों की लेखनी से मानव के आचरण में जो सहज भोलापन और अकृत्रिम सौंदर्य प्रस्फुटित होता है, वह बहुत से लोगों को अत्यन्त सत्य और सरल भी प्रतीत होता रहा है।

हिन्दी के आलोचकों ने प्रकृतिवादी यथार्थ को लगभग एक सी जो परिभाषायें की हैं और जिन उपन्यासकारों को इस धारा के अन्तर्गत रखा है उनसे पाश्चात्य प्रकृतिवादी उपन्यासकारों की कृतियों की तुलना करने से दोनों में वैषम्य दृष्टिगत होता है। आचार्य चतुरसेन, जोशी, उग्र, यशपाल और अज्ञेय की रचनाओं पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि पाश्चात्य उपन्यासकार ज़ोला, मोपासा और फ्लाबेयर ने मनुष्य का प्राकृतिक विकास क्रम के आधार पर जो प्रयोगात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, हिन्दी उपन्यासकारों में वह बात नहीं दिखलाई पड़ती। पश्चिमी उपन्यासकारों ने भी घोर यथार्थ चित्रों का नग्न प्रकटन किया है किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य पात्रों का उपर्युक्त प्रयोगात्मक अध्ययन ही है। यह बात हिन्दी के दो एक उपन्यासकारों—जैसे डा० अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी (प्रथम भाग)—को छोड़कर, अन्य उपन्यासकारों में नहीं

पाई जाती। उन्होंने चित्रण को ही साध्य बना लिया है, जब कि ज़ोला आदि ने उसे साधन के रूप में प्रयुक्त किया है। हिन्दी उपन्यासकारों की अधिकांश कृतियाँ प्रकृतिवादी यथार्थ की सीमा में नहीं आती।

'प्रकृतिवाद के भीतर स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर मातृत्व से उत्पन्न हुये सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है तो उन्हें सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है।' शिवदान सिंह चौहान ने 'दैनिक जीवन की औसत और असम्बद्ध घटनाओं के हू बहू यथातथ्य व्यौरेवार चित्रण' को, डा० श्री कृष्ण लाल ने 'ऐसे चरित्रों की सृष्टि जो पुकार-पुकार कर कहते हैं 'कि मनुष्य और पशु में कोई विशेष अन्तर नहीं, विशेषकर विषय भोग की दृष्टि से वे पशुओं से भी नीच और निकृष्ट हैं; और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'मनुष्य प्रकृति की विकसित जन्तु' और 'काम-क्रोध आदि मनोरागों की गट्ठर मात्र' मानकर इन उपन्यासकारों को प्रकृतिवादी नाम से अभिहित किया है। अतः इसी आधार पर हम इनकी कृतियों पर दृष्टि डालेंगे।

इलाचन्द्र जोशी को मुख्य रूप से हिन्दी साहित्य-जगत मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार के नाम से जानता है। किन्तु उनके मनोविश्लेषण, जिसके अन्दर वे चरित्रों और घटनाओं का नग्न चित्रण करते हैं, के आधार पर, उनकी रचनाओं को कुछ आलोचकों ने प्रकृतिवादी यथार्थ के अन्दर समाहित किया है। उनका 'पर्दे की रानी' ऐसा ही उपन्यास है, जिसमें एक वेश्या की सन्तान निरंजना--जिसे मरते समय उसकी माँ मनमोहन नाम के एक व्यक्ति को पालने के लिये दे जाती है--को कथा-नायिका बनाकर जोशी ने उसके ऊपर मनमोहन के पुत्र इन्द्रमोहन का वासनात्मक प्रेम आरोपित किया है। आश्चर्य अपनी सीमा का अतिक्रमण वहाँ करता है, जहाँ मनमोहन स्वयं पुत्री के समान पालिता निरंजना से घृणित प्रस्ताव करता है। नैतिक पतन और अनाचारवादी दर्शन की पराकाष्ठा ही इसे कहा जायेगा। अन्ततः निरंजना के छात्रावास चले जाने पर इन्द्र मोहन के साथ उसका प्रेमाकुंर पल्लवित होता है। इन्द्र मोहन के अनेक छलपूर्ण कार्यों के पश्चात् उसे नेपाल जाते समय गाड़ी में ही निरंजना की आत्मसमर्पण युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार जोशी जी ने इन्द्रमोहन को चरित्र-हीन, कामासक्त और पशु से भी नीच मनुष्य सिद्ध किया है।

निरंजना के चरित्र में एक बात ध्यान देने योग्य अवश्य है, वह यह कि उसका चरित्र उसकी वेश्या माँ के रक्त से सम्बद्ध है, और उसके इस वंशानुगत संस्कार का वहाँ के परिवेश से संघर्ष होता है। जोशी ने उसके चरित्र को वंशानुक्रम और परिवेश से संचालित माना है, जो प्रकृतिवादी यथार्थवाद की विशेषता है।

'प्रेत और छाया' में भी मनोविज्ञान और कुछ प्रकृतिवादी तत्वों की प्राप्ति होती है। कथानायक पारसनाथ तो एक पतिव्रता माँ और चरित्रभ्रष्ट पिता की संतान है। उसे अपने पिता द्वारा यह ज्ञान होने पर कि वह अपने माँ की अनैतिक संतति है, उसकी माँ दुश्चरित्रा है, कितनी भयंकर प्रतिक्रिया होती है उसके जीवन में इसकी? जैसे वह अवसर पाते ही प्रत्येक युवती का शीलभंग करने की ताक में रहता है। इसमें उसे एक असीम और अज्ञात आनन्द की प्राप्ति होती है। किन्तु इन युवतियों में से वह किसी के साथ विवाह करने के लिये उद्यत नहीं है। बाद में वास्तविकता का ज्ञान होने पर वह एक वेश्या को अपनी धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार लेता है। अब उसका मानस और हृदय दोनों परिवर्तित हो चके हैं। शैली सम्बन्धी विशेषताओं के आधार पर भी उपन्यास प्रकृतिवादी है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि पारसनाथ विरोधी चरित्रों वाले माता-पिता की सन्तान है तो उसके संस्कारों और कार्यों का विकास स्वाभाविक रूप से होना चाहिये था। यह ज्ञात होने पर कि उसकी माँ दुश्चरित्रा है; वह बुरे कार्य करने लगता है, और यह जानने पर कि उसकी माँ सती है, वह अच्छे कार्य करने लगता है। वह मनुष्य है या कोई यंत्रचालित काष्ठखण्ड ? निश्चित रूप से ऐसा ज्ञात होता है कि वह जोशी के संकेतों पर काम करने वाला एक नाटक का अभिनेता है। इस प्रकार उसके चरित्र का विकास प्रकृतिवाद की स्वाभाविक गति में नहीं होता। जोशी जी का यह उपन्यास प्रकृतिवादी होते हुए भी उसकी समूची शर्तों को पूरा नहीं कर पाता।

आचार्य चतुरसेन दूसरे उपन्यासकार हैं जिन्हें प्रकृतिवादियों की पंक्ति में हठात् खड़ा कर दिया गया है। उनके उपन्यास कई धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'वैशाली की नगर वधू', 'सोमनाथ' तथा अन्य इसी श्रेणी के उपन्यासों में प्रकृतिवादी तत्व नहीं मिलते। नारी-चरित्र और मनोविज्ञान पर प्रकाश डालने वाले उनके 'पत्थर युग के दो बुत' और 'आभा' आदि उपन्यास भी प्रकृतिवादी नहीं कहे जा सकते। उनका एक उपन्यास 'अमर अभिलाषा' अवश्य अनेक विधवाओं के नग्न चित्रण और उनकी दयनीय स्थिति का चित्र उपस्थित करता है। विषय का कुरुचिपूर्ण अतिशय यथार्थवादी चित्रण प्रकृतिवाद की विशेषता नहीं है। उसमें चरित्रों के विकास का न तो प्रकृतिवादी क्रम है, और न किसी चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। विषय की यथार्थता के आधार पर यदि कोई उसे प्रकृतिवादी कहे तो ऐसा कहा जा सकता है।

तीसरे प्रकृतिवादी उपन्यासकार अज्ञेय हैं। उनके 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' उपन्यासों में पर्याप्त रूप से प्रकृतिवादी तत्वों की आशा की जा सकती है। जीवनी का प्रथम भाग खण्ड अंशों के आधार पर शेखर की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का परिचय देता है। अहं, भय और काम—इन तीन प्रवृत्तियों का विकास लेखक ने शेखर में दिखलाया है। 'जीवनी' को प्रकृतिवादी उपन्यास की सीमा के अन्दर समाहित करते हुए हमें एक बात ध्यान में रखनी है कि शेखर की इन तीनों प्रवृत्तियों का विकास उसके वंशानुक्रम और परिवेश का प्रभाव है या लेखक की स्वयं की आरोपित वृत्ति।

अहं, काम और भय का विश्लेषण करने से यह ज्ञात होता है कि शेखर में काम का विकास नैसर्गिक है, जो प्रत्येक मनुष्य में होता है। मनुष्य काम की सम्पूर्ति या तो सामाजिक प्रतिबन्ध (भय) के कारण या मर्यादा-भावना (अहं) के कारण नहीं कर पाता। अन्यथा सदैव वह इस संतुष्टि के लिये प्रयत्नशील रहता है। अहं और भय की प्रतिक्रिया का जो काम के ऊपर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रवृत्ति विशेष द्वारा लेखक ने शेखर के चरित्र का निर्माण किया है। जीवनी का प्रथम भाग मनोविश्लेषणात्मक होते हुये भी शेखर के चरित्र विकास में परिवेश का अभाव है। आनुवंशिकी का तो उसमें विवरण ही नहीं है। अज्ञेय को जोशी जी की अपेक्षा अधिक तटस्थतावादी होने के कारण प्रकृतिवादी लेखक माना जा सकता है। 'शेखर एक जीवनी' (प्रथम भाग) हिन्दी साहित्य में प्रकृतिवादी शैली में लिखी गई एक महत्वपूर्ण रचना है। दूसरा भाग इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं।

अज्ञेय का दूसरा मनोवैज्ञानिक उपन्यास 'नदी के द्वीप' है। इस रचना में भी मानव की उन्हीं सब कामासक्त निम्न प्रवृत्तियों का अतिरंजित वर्णन है, जो सम्भवतः सामाजिक दृष्टि से उचित नहीं। पात्रों और परिस्थितियों के सूक्ष्म तटस्थ और वैज्ञानिक अध्ययन के स्थान पर नग्न और वासनापूर्ण शैली में

चित्रण है। चित्रण की इस असामाजिक, अनैतिक और अतियथार्थता के कारण 'नदी के द्वीप' को प्रकृतिवादी रचना अवश्य माना जा सकता है।

उग्र जी का 'दिल्ली का दलाल' उपन्यास भी शैली की दृष्टि से प्रकृतिवादी यथार्थ का स्पर्श करता है। स्त्रियों का घृणित व्यापार करने वाले नीच पुरुषों के गर्हित कृत्यों का चित्रण लेखक ने स्पष्ट रूप से किया है। उपन्यास में वर्णित स्थल सामाजिक दृष्टि से स्वस्थ चेतना के प्रतीक नहीं माने जा सकते।

यशपाल का 'दादा कामरेड' उपन्यास भी चित्रण की नग्नता के कारण प्रकृतिवादी उपन्यासों की सीमा का स्पर्श कर गया है। हरीश का शैला से अनावृत होने के लिये प्रस्ताव और अन्ततः जिस पाशविक प्रेम की परिणति लेखक ने दिखलाई है, वह सामाजिक दृष्टि से वांछनीय नहीं कही जा सकती।

तमिल प्रदेश के लोक-जीवन में कृष्ण-भक्ति

डॉ. पी. जयरामन, डी० लिट्०

ग्यारहवीं शताब्दी के रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित वैष्णव संप्रदाय अथवा श्री संप्रदाय पांचरात्र के वासुदेव संप्रदाय से मिलता-जुलता है। उसमें नारायण तथा विष्णु के तत्वों का समावेश हुआ है और नारायण को विशेष महत्व प्राप्त है। उक्त संप्रदाय के उपदेशों में गोपालकृष्ण और श्रीराम को कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिला है। किन्तु आचार्य रामानुज के पूर्व के आलवार भक्तों के 'दिव्य प्रबन्धम्' के पदों में भगवान विष्णु के राम, कृष्ण आदि अवतारों का पर्याप्त मात्रा में भक्तिपूर्वक विवेचन हुआ है जिसके फलस्वरूप तमिल प्रदेश के व्यापक लोक जीवन में कृष्ण भक्ति तथा कृष्णोपासना की एक लोक स्वीकृत परम्परा सुदीर्घ काल से चली आ रही है।

तमिल का सर्वप्रथम व्याकरण ग्रंथ तोलकाप्पियम ईसा पूर्व चौथी शताब्दी का माना जाता है। उसमें वनभूमि के लोगों के उपास्य के रूप में 'मायोन्' अर्थात् विष्णु को स्वीकार किया गया है। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि ईसा पूर्व काल में भागवत संप्रदाय की परम्परा तमिल प्रदेश के जन सामान्य के बीच व्यवहार में थी। प्राचीन संघकालीन साहित्य, शिलप्पधिकारम, मणिमेखलै आदि संघोत्तर रचनाओं से स्पष्ट रूप से विदित होता है कि अत्यंत प्राचीन काल से तमिल प्रदेश में वैष्णव भक्ति का बहुत अधिक प्रचार होता आ रहा था। 'परिपाडल' नामक संघकालीन काव्य में एक चित्रण इस प्रकार है; कवि पेरुवळुदियार तिरुमालिरु चोलै मलै नामक पर्वत का वर्णन करते हैं,[1] "मानव! इस पर्वत पर बलराम सहित विराजमान पीतांबरधारी भगवान विष्णु का ध्यान करो। वहाँ पहुँचकर यदि तुम उनकी आराधना नहीं कर पाते हो तो उस पर्वत को देख कर नमन करो। उस पर्वत को भगवान ही समझ कर उस दिशा की ओर देखते हुए वंदना करो। विश्वव्यापी भगवान विष्णु मानव-जीवन के दुखों के अपहर्ता हैं। जैसे वेद उनका गुण-गान करते हैं वैसे ही हम भी अपने ज्ञान के अनुसार बलराम समेत विष्णु की स्तुति करें।" इसी ग्रंथ में कडुवनिल् वेयिनार नामक कवि ने विष्णु के चतुर्व्यूहों का उल्लेख किया है।[2] शिलप्पधिकारम के 'आय्च्चियर कुरवै' (अहीर जाति की नारियों का गीत-नृत्य) भाग में कृष्ण, बलराम तथा देवी नप्पिन्नै[3] की स्तुति करते हुए अंत में कहा गया है, 'पंचवर्कु तूतु नडन्तानै एत्तात नावेन्न नावे! नारायणा एन्ना नावेन्न

---

१. परिपाडल, पद १५।

२. वही, पद २२।

३. तमिल प्रदेश के लोक सामान्य में मान्य भगवान विष्णु की कनिष्ठा देवी (अर्थात् कृष्णावतार में उनकी विशिष्ट नायिका जिसे परवर्ती भारतीय साहित्य में राधा नाम से अभिहित किया गया है।)

नावे !"[1] अर्थात् पांडवों का दूत बन कर कौरवों के पास जो कृष्ण गए थे उनकी स्तुति न करने वाली जिह्वा भी कोई जिह्वा है? 'नमो नारायणाय' का मंत्रोच्चारण न करने वाली जिह्वा भी कोई जिह्वा है? उसी काव्य का एक दूसरा प्रसंग उल्लेखनीय है। जब चेर नरेश सती कण्णकी के मंदिर के लिए हिमालय से प्रस्तर लाने के उद्देश्य से उत्तर भारत की यात्रा को निकलते हैं तब तिरुवनंतपुरम के अनंत पद्मनाभ मंदिर का प्रसाद लाकर कुछ लोग चेर नरेश को प्रदान करते हैं और चेर नरेश उसे अपने कंधे पर धारण करते हैं।[2] इन साहित्यिक आधारों से यह स्पष्ट होता है कि तमिल के संघ साहित्य काल और उसके पहले से ही तमिल प्रदेश में विष्णु उपासना पर्याप्त प्रचार में थी, भागवत धर्म सम्बन्धी विभिन्न पुराणों का जन समाज में अत्यंत समादृत स्थान था, विभिन्न पूजा-विधियों के अनुसार विष्णु मंदिरों में उपासना होती थी और जन सामान्य 'ओम् नमो नारायणाय' मंत्र का उच्चारण बड़ी श्रद्धा-निष्ठा के साथ करता था।

प्राचीन तमिल साहित्य के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्राचीन काल में तमिल प्रदेश के विष्णु मंदिरों में वैदिक परम्परा में आगम-विहित विधियों का पालन करते हुए पूजा-उपासना की जाती थी। शिलप्पधिकारम में पुकार नगर के विष्णु मंदिर में वेदविहित पद्धति में यज्ञादि विधान कर के ब्रह्मा, विष्णु, बलराम आदि की उपासना किए जाने का उल्लेख है।[3] संघकालीन काव्य संकलन पदिट्रुप्पत्तु में तिरुवनन्तपुरम के अनन्त पद्मनाभ स्वामी मंदिर में ऊँची ध्वनि में भगवान विष्णु का नाम संकीर्तन करते हुए भक्त लोगों द्वारा भगवान की आराधना किए जाने का विस्तृत वर्णन मिलता है।[4] आळवार भक्तों में प्रथम आळवार कहलाने वाले पोय्गै आळवार ने (पाँचवीं शती) भगवान श्री नारायण की विविध उपासना-पद्धतियों का उल्लेख करते हुए कहा है कि उनकी उपासना पुष्पों, यज्ञादि वैदिक क्रियाओं, सामान्य सेवा प्रणालियों, मंत्रोच्चारण आदि से की जाए और नाम-संकीर्तन द्वारा उनकी स्तुति की जाए तो वह भी पर्याप्त है।[5] उनकी कृति में तिरुपति, तिरुवे: का, तिरुक्कोविलूर आदि तीन प्रमुख वैष्णव स्थलों का भी उल्लेख है।[6] उनकी कृति में 'ओम् नमो नारायणाय' मंत्र की प्रशस्ति गायी गयी है और कहा गया है कि अमर परम पद प्राप्ति का सरलतम साधन उक्त मंत्र का उच्चारण है।[7] इससे यह स्पष्ट है कि समग्र तमिल प्रदेश में अत्यंत प्राचीन काल में सामूहिक सेवा-विधान, वेदागम विहित उपासना पद्धति, पुष्पाराधन, नामसंकीर्तन, नारायण मंत्रोच्चारण, ज्ञान-साधना आदि का पर्याप्त प्रचार था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि तमिल प्रदेश के विष्णु मंदिरों की सेवा-पद्धति वैष्णव आगमों के आधार पर थी। परवर्ती काल में रामानुजाचार्य ने पांचरात्र आगम का अनुसरण कर तमिल प्रदेश के वैष्णव मंदिरों की सेवा-पद्धति को व्यवस्थित करने का प्रयास किया।

किन्तु रामानुज के बहुत पहले से तमिल प्रदेश के लोक जीवन में विष्णु भक्ति, विशेषकर उनके राम, कृष्ण आदि अवतारों की भक्ति की धारा प्रवाहित होती आ रही थी। संघकालीन और संघोत्तरकालीन साहित्य इस बात के अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि जन समाज में भागवतीय विष्णु भक्ति तथा अवतारो-

---

१. शिलप्पधिकारम, आय्च्चियर कुरवै, पद १४;
२. वही, काल् कोट् कावै, पद ८।
३. वही, इन्दिर विलवु ऊर एडुत्त कादै, पंक्ति १७५।
४. पदिट्रुप्पत्तु, चतुर्थ दश श्लोक का पहला पद।
५. मुदल् तिरुवन्तादि, पद ७०। ६. वही, पद ७७। ७. वही, पद ९५।

पासना की पद्धति बहुत प्राचीन काल से ही प्रचलित थी। तदनन्तर विष्णु भक्ति, प्रमुख रूप से राम-कृष्ण भक्ति की परम्परा की जन समाज में वैष्णव भक्त आळवार कवियों की रचनाओं के द्वारा प्रतिष्ठा होने लगी। तमिल प्रदेश के बारह आळवार भक्तों ने वेद, पुराण आदि का आधार ग्रहण कर विशेष रूप से कृष्ण भक्ति को लोक जीवन में प्रतिष्ठित किया। आळवारों ने भी एक परब्रह्म की अखण्ड शक्ति का वर्णन किया है। उनके अनुसार उसका नाम विष्णु है और ब्रह्मा, शिव आदि देवता भी उसी के अंश हैं।[१] वे ही सर्वगुणसंपन्न, सर्वज्ञानी, सृष्टि-स्थिति-लयकर्ता, सर्वलोकरक्षक, वेदसार, सर्वान्तर्यामी एवं रहस्यरूप हैं।[२] आळवारों का मत है कि भगवान विष्णु (नारायण) ने साधुओं की रक्षा, दुष्कृतों के विनाश तथा जीवराशियों के उद्धार के लिए राम, कृष्ण, नृसिंह आदि का अवतार लिया। आळवारों के प्रबन्धम् में भगवान नारायण के विभिन्न अवतारों की लीलाओं का वर्णन मिलता है; किन्तु विशेष रूप से उनके उपास्य श्रीकृष्ण रहे हैं और उन्होंने श्रीकृष्ण की अन्यान्य लीलाओं, उनकी अलौकिक रूप माधुरी, उनकी रासलीला के समानांतर लीला[३] आदि का व्यापक चित्रण किया है। कृष्ण सम्बन्धी उनके भावाविष्ट वर्णनों में बालकृष्ण एवं किशोर कृष्ण अथवा गोपी-कृष्ण का प्रमुख स्थान है।[४]

आळवारों ने भक्ति को ही ज्ञान एवं योग से श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन माना है। कुलशेखराळ्वार ने कहा है, "हे भगवान् ! मैं स्वर्ग की भी कामना नहीं करता; मात्र तेरी भक्ति करते रहने की मेरी कामना है।"[५] वस्तुत: आळ्वारों ने भक्ति को साधन के रूप में नहीं, वरन् साध्य के रूप में स्वीकार किया है। उनके काव्य में भक्ति के समस्त तत्वों का, विशेषकर नाम-संकीर्तन, अर्चन, ध्यान आदि का महत्व स्थापित करते हुए शरणागति अर्थात् प्रपत्तिमयी भक्ति की सर्वोत्कृष्टता को प्रतिष्ठित किया गया है।[६] आळ्वारों ने श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि भक्ति के नवविध रूपों का नाना प्रकार से विश्लेषण किया है। आळ्वार काव्य 'प्रबन्धम्' भक्ति का सार है; वह भक्ति का लक्ष्यग्रंथ है और उसके माध्यम से सारे तमिल प्रदेश में नारायण भक्ति, विशेषकर कृष्ण भक्ति की अजस्र धारा बहने लगी जिसमें निमज्जित होकर संपूर्ण लोक जीवन लोकोत्तरानन्द की अनुभूति करने लगा। आळ्वार भक्तों ने विष्णु भक्ति, प्रकारान्तर से कृष्ण भक्ति के लिए समस्त जातियों को अधिकारी घोषित किया और भगवद् भक्ति के मार्ग में सवर्ण-अवर्ण का—ऊँच-नीच का कोई अंतर नहीं देखा। आळवारों में से तिरुमळिशै आळ्वार, तिरुप्पाणाळ्वार और तिरुमंगै आळ्वार स्वयं अवर्ण या निम्न जाति के थे। फिर भी वे अपनी भक्ति की असाधारणता के कारण तमिल समाज में परम पूज्य माने जाते थे। तोण्डरडिप्पोडि आळ्वार ने यहाँ तक घोषणा की है," यदि

---

१. Dr. I. K. Iyengar, History of Tirupati, P. 151-152

२. नम्माळ्वार, तिरुवाय् मोळि १।१०।२, ३।१।३, ६, ७।

३. कुलशेखराळ्वार, पेरुमाळ् तिरुमोळि १-१०।

४ प्राचीन तमिल प्रदेश में इस लीला को 'कुरवैल कूत्तु' कहा जाता था। देखिए 'Krishna in Enoly Tamil Literature, V. R. R. Dikshitave, Indian Culture Vol IV (1937-38), P. 267-270

५. विशेष द्रष्टव्य : नम्माळ्वार-तिरुवाय् मोळि और आण्डाळ् तिरुप्पावै और नाच्चियार तिरुमोळि।

६. पेरुमाळ् तिरुमोळि, ४ ६। ७. तिरुमंगै आळ्वार, पेरिय तिरुमोळि।

निम्न जाति का कोई व्यक्ति भगवान का दास भक्त हो तो चतुर्वेदों के अध्येता ब्राह्मणों का धर्म हैं उसका सेवन करना, उसको दीक्षा देना और उसकी विशेषता को ग्रहण करना। यदि ब्राह्मण वर्ग का कोई भी व्यक्ति ऐसे भगवद् भक्तों का तिरस्कार करे तो वह चांडाल हो जाएगा।"[१] भक्ति की इस सहजता और सर्वग्राह्यता का गंभीर प्रभाव लोक जीवन पर पड़ना स्वाभाविक ही था। उपर्युक्त उद्धरण से यह भी स्पष्ट होता है कि आळवारों के विचारानुसार भगवद्भक्तों की सेवा भगवान की सेवा का ही एक अंग है। परवर्ती रामानुज प्रतिपादित प्रपत्तिवाद पर आऴवारों के प्रबन्धम् के प्रपत्ति सिद्धांत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा और रामानुज ने भक्ति मार्ग में जातीय विषमताओं का तिरस्कार कर सब को उस मार्ग का अधिकारी घोषित करने की जो क्रांति मचायी वह भी आऴवारों के आदर्श के प्रभाव का ही परिणाम था। आऴवारों के पश्चात् तमिल प्रदेश में वैष्णव आचार्यों की जो परम्परा चली उसके प्रथम आचार्य नाथमुनि आऴवारों के प्रबन्धम् साहित्य के महत्व एवं गौरव के उद्घोषक थे और उन्होंने ही संपूर्ण प्रबन्धम् साहित्य का संग्रह कर श्रीरंगम् के मंदिर में उसके अध्ययन, अध्यापन तथा गायन की व्यवस्था की। यह तथ्य भी स्मरणीय है कि नाथमुनि ने ही आऴवारों के पदों के गायन के लिए वेदों के समान एक विशिष्ट परिपाटी की भी आयोजना की। वस्तुतः विशिष्टाद्वैती सिद्धांत के परिचायक प्रथम ग्रंथ के रूप में स्वीकृत उनकी कृति 'न्याय तत्व' के प्रतिपाद्य तत्व का मौलिक आधार प्रबन्धम् साहित्य ही था। नाथमुनि के बाद आने वाले आचार्य यामुन अथवा आऴवन्दार ने भी आऴवारों के प्रबन्धम् के व्यापक प्रचार की व्यवस्था की और उसे सुदृढ़ किया। वास्तव में नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुज प्रभृति वैष्णव आचार्यों ने आऴवारों के प्रबन्धम् साहित्य के द्वारा प्रतिपादित विचारों तथा वेद, उपनिषद्, ब्रह्म सूत्रों आदि के तत्वों का समन्वय कर विशिष्टाद्वैतीय संप्रदाय की स्थापना की।

तमिल समाज पर आऴवार भक्तों के प्रबन्धम् साहित्य की भक्ति भावना का ऐसा लोकव्यापी प्रभाव पड़ा कि भक्त लोग उनके नारायणपरक तथा उनके अवतारों, विशेषकर कृष्णावतार से संबन्धित पदों को आत्मविभोर हो गाने लगे। श्रीरंगम, तिरुपति, तिरुवल्लिकेणी, तिरुवेः का, आऴवार तिरुनगरी, तिरुवनंतपुरम, कांचीपुरम आदि स्थलों के समस्त विष्णु मंदिरों में आऴवारों के पदों के गायन की एक विशेष परम्परा चल पड़ी। मंदिरों में पूजा-अवसरों तथा पर्व-उत्सवों के अवसरों पर प्रबन्धम् के पदों, विशेष रूप से कृष्ण भक्ति प्रधान तिरुवाय्मोळि, तिरुविरुत्तम् (नम्माऴवार रचित), तिरुप्पावै, नाच्चियार तिरुमोळि (आण्डाळ रचित) आदि कृतियों के मधुर पदों का नियमित पाठ होने लगा। जन-जीवन में तथा मंदिरों के उपासना क्रमों में जिन संदर्भों में पहले वेदपाठ होता था उन संदर्भों में वेदपाठ के साथ प्रबन्धम् साहित्य, विशेषकर उपर्युक्त कृष्णभक्ति प्रधान पदों की भी गायन-परम्परा चल पड़ी। मार्गशीर्ष मास के अध्ययनोत्सव अथवा मोक्षोत्सव के अवसर पर प्रबन्धम् साहित्य, विशेषकर नम्माऴवार कृत 'तिरुवाय्मोळि' के गायन की व्यवस्था तिरुमंगै आऴवार के समय से होने लगी। आज भी उक्त उत्सव के उन्नीसवें दिन नम्माऴवार की मूर्ति की विरहिणी नायिका के रूप में साज-सज्जा की जाती है और बीसवें दिन उस मूर्ति को भगवान् के चरणों में समर्पित किया जाता है। इसके मूल में कृष्ण के प्रति गोपी की तन्मयासक्ति, मिलन की उत्कंठा, विरह की विदग्धता और अंत में अश्रुमार्ग से शरणागति भाव से भगवन्मय हो जाने की स्थिति की कल्पना विद्यमान रहती है। इसी प्रकार मार्गशीर्ष मास में सारे तमिल प्रदेश में प्रातःकाल के अवसर पर कृष्ण (श्रीरंग-

---

१. तिरुमालै, ४२, ४३।

नाथ) की प्रियतमा आण्डाळ् के माधुर्यभक्तिपूर्ण 'तिरुप्पावै' और 'नाच्चियार तिरुमोळि' के पद अत्यंत श्रद्धाभाव से गाए जाते हैं। भगवान् विष्णु के मंदिर के नित्य सेवा अवसरों पर 'प्रबन्धम्' के पदों के गायन की प्रथा अत्यंत प्राचीन काल से आज तक चली आ रही है। आळ्वारों के भक्तिपूर्ण प्रबन्धम् साहित्य का महत्व स्वीकार करते हुए वैष्णव आचार्य श्री वेदान्त देशिक ने यह नियम बनाया कि भगवान की मूर्ति के जुलूस में आगे प्रबन्धम् के पाठ की व्यवस्था होनी चाहिए।[1] ऐसे जुलूस के अवसर पर भगवान की मूर्ति के आगे प्रबन्धम् के गायक और पीछे वेदपाठी जाते हैं जिसके मूल में यह भावना रहती है कि भगवान भक्तवाणी प्रबन्धम् का अनुसरण कर रहे हैं और वेद भगवान का अनुसरण कर रहे हैं।

यद्यपि तमिल प्रदेश के वैष्णव संप्रदाय के अधिकांश मंदिर भगवान नारायण के मंदिर हैं फिर भी मन्नार्कुडि, राजमन्नार कोविल, तिरुवल्लिकेणी आदि कतिपय प्रमुख स्थलों में बहुत प्राचीन काल से आज तक कृष्ण मंदिर विद्यमान हैं। रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित श्रीसंप्रदाय में विहित उपासना-पद्धतियों के अनुसार तमिल प्रदेश के प्रायः सभी विष्णुपरक मंदिरों में भगवान नारायण की उपासना की जाती है। फिर भी आळ्वार भक्तों के प्रभावाधिक्य के कारण लोक-जीवन में आळ्वार काल से लेकर अद्यावधि कृष्ण भक्ति तथा कृष्णोपासना की परम्परा चली आ रही है। प्रबन्धम् साहित्य के कृष्णभक्तिपरक ललित पदों का तमिल प्रदेश के लोकजीवन तथा लोकमानस पर ऐसा गंभीर प्रभाव पड़ा है कि भगवान नारायण की उपासना में भी कृष्णोपासना की ही कल्पना की जाती है और उपासना के अवसर पर प्रबन्धम् के कृष्णभक्तिपरक पदों का मुक्त कंठ से गायन किया जाता है। यद्यपि साम्प्रदायिक दृष्टि से श्रीसंप्रदाय ने नारायणोपासना का विधान किया है तथापि जनसामान्य के बीच भगवान नारायण के अवतारभूत श्रीकृष्ण की उपासना का भावनाश्रित स्वरूप अक्षुण्ण है। यही कारण है कि आज भी वहाँ के मंदिरों में श्रीकृष्ण के बालकृष्ण, गोपी-कृष्ण आदि स्वरूपों की लीलाओं से संबन्धित प्रबन्धम् के पदों का गायन ही नहीं, अपितु भावाविष्ट नृत्य एवं अभिनय की भी व्यवस्था की जाती है और भक्त लोग ऐसे पदों का निरन्तर पाठ भी किया करते हैं। इसका उदाहरण तमिल प्रदेश के विष्णु मंदिरों में मार्गशीर्ष मास में मनाया जाने वाला "आण्डाळ् उत्सव" है जिसमें न केवल आण्डाळ् के उन गीतों के गायन, अभिनय आदि का ही आयोजन किया जाता है जिनमें प्रियतम भगवान कृष्ण के प्रति प्रेयसी आण्डाळ् के प्रेम भाव की गंभीर अभिव्यक्ति हुई है, विरह की विदग्धता तथा मिलन की तीव्र उत्कंठा का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है और साथ ही प्रिया-प्रियतम के स्वप्न-मिलन तक की दशाओं का मार्मिक प्रतिपादन हुआ है, अपितु उत्सव के अन्तिम दिन में नायिका आण्डाळ् और नायक भगवान श्रीकृष्ण का विवाह भी कराया जाता है।

वस्तुतः अत्यंत प्राचीन काल से शान्त, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य भक्ति से ओतप्रोत कृष्णोपासना प्रधान एक लोक-संप्रदाय की धारा तमिल प्रदेश के लोक-जीवन में प्रवाहित होती आ रही थी। इस तथ्य के प्रचुर प्रमाण ईसा पूर्व के संघकालीन तमिल साहित्य में प्राप्त होते हैं। बाद में उक्त धारा को वैष्णव भक्त आळ्वारों के समय में तीव्र गति प्राप्त हुई और तमिल समाज के व्यावहारिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर अद्यावधि उसका प्रभाव अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है।

---

१. वेदान्त देशिकाचार्य, पादुकासहस्रम्।

कविवर 'उपाध्याय', 'गुप्त' एवं 'प्रसाद' का ब्रजभाषा काव्य

कु० नरेश अरोड़ा, एम० ए०

यद्यपि श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्री मैथिलीशरण गुप्त एवं श्री जयशंकर प्रसाद का नाम खड़ी बोली के उन्नायकों एवं पक्षपोषकों की अग्रपंक्ति में परिगणित किया जाता है तदपि अपने कविजीवन की ऊषा वेला में उनका झुकाव युगप्रवृत्ति के कारण ब्रजभाषा में रचना करने की ओर ही था। ब्रजभाषा अपने सौरस्य प्रसाद और आमोद से समग्र देश को आपूरित कर चुकी थी और उत्तर भारत तो उसमें आकण्ठ निमग्न हो चुका था। वह साहित्य रसिकों की प्राणशक्ति थी, भक्ति रीति नीति और लोक अभिरुचि का साहित्य ब्रजवाणी में व्यक्त हुआ था; उस युग में ब्रजभाषा में काव्य सर्जना करने का आशय युग धर्म को मान कर परम्परा विहित एवं शिष्ट परिग्रहीत कार्य करना था। श्री हरिऔध, गुप्त एवं प्रसाद ने भी उसी परिपाटी का अनुसरण किया और रचनाएं ब्रजभाषा में कीं। उनकी ब्रजभाषा रचनाओं का विहंगावलोकन नीचे की पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

हरिऔध जी ने ब्रजभाषा रचना प्रभूत मात्रा में की। उनका रस कलश तो ब्रजभाषा के माधुर्य से छलका पड़ता है। इस प्रसंग में उनकी अल्पज्ञात ब्रजभाषा रचनाओं का अल्प परिचय दिया जा रहा है।

हरिऔध जी की प्रारंभिक रचना रसिक रहस्य (अन्य नाम कबीर कुंडल : रचना काल १८७८-७९) ब्रजभाषा में लिखी गई है। इसमें कबीर के ३३ दोहों पर ७५ कुंडलियाँ हैं। उदाहरणार्थ एक कुंडली प्रस्तुत है—

"सब आयो इस एक में डार पात फल फूल।
कबिरा पाछे का रहा, गहि पकरा जिन मूल॥
गहि पकरा जिन मूल कह्यों जाने मन का ही।
इन्द्रिन गहिबे हेत होत ताको श्रम नांही॥
है सेयो 'हरिऔध' कृस्न पद पंकज को जब।
अहै कहा परवाह, जो न हम सेयौ सुरसब॥"

श्रीकृष्ण शतक (१८८२) में १२० कृष्णपरक दोहे हैं।

सुत धन दारा रूप बल, विद्या चाहौं, नाहि।
व्रज रंजन चाहो सदा, पावन पद रज काहि॥

उपदेश कुसुम (१८८७) शेखशादी कृत गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद है इसमें पद्य ब्रजभाषा में हैं और गद्य खड़ी बोली में है। पद्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"बसन बीच सुंदर नवल, कितनो तन दरसाय।
जरो बूबरो कूबरो, उघरे बसन लखाय॥"

प्रेम प्रपंच (१८८८) की अधिकांश कविताएँ 'फिसाना अजायब' का अनुवाद है। कुछ कविताएँ मौलिक भी हैं।

दोहा :

"ललकौंहे लोचन किए, कलपौंहे रतिमार।
अलि उकसौंहे उरज, की सोहै सरस बहार॥"

सोरठा :

"अलि अवली की चाल, ललित गुलाब प्रसून पै।
लपटी अलकें बाल, किधौं लाल के गाल पै॥"
"गरबीली वह बाल, चंचल उतल चलि।
गई लपेटि गुलाल, अरी लाल के गाल सों॥"

प्रेमाम्बु प्रवाह (१८९९) गोपियों की कृष्ण के प्रति उक्तियाँ हैं, इसमें ४२ सवैये, ३० कवित्त तथा ८ पद हैं। एक सवैया देखिए—

"पातक ताके पराहिं सबै, पथ प्रेम को लागत है जेहि प्यारो।
प्यास पियूख हूँ की न तिनै, जिनको हरिनाम को होत सहारो॥
ताप तिलोक को कौन कथा, 'हरिऔध' है जो प्रभु आप हमारो।
पावन नीच अपावन हूँ करै, गोपिन को अपनावन हारो॥"

प्रेमाम्बु वारिधि (१८९९) विज्ञों के विनोदार्थ और आन्तरिक तृप्ति के लिए लिखे गए ७५ पदों का संग्रह है। प्रतिमा पूजन विषयक हरिऔध जी का मत द्रष्टव्य है—

"कहा प्रतिमा पूजन में दोख।
पढ़ि नमाज मसजिद में मुल्ला लहत जो संतोख।
गिरजा बैठि पादरी पावत पढ़ि किताब जो तोख॥
भजन गाइ आरज आश्रम जो पावत शांति अदोख।
प्रतिमा पूजि लहत का हिंदू तासो कम परितोख॥"

प्रेमाम्बु प्रस्रवण (१८९९) में करुण और शान्त रस के कवित्त हैं। उदाहरण—

प्रगट प्रताप पुहुमी में परिपूरि रह्यो
पाहन में पोहमें परीन में परैया में
गिरि में गुहान में गोविन्द गुण सिंधु रम्यो
गगन गजान में गुमान के गिरैया।
हीरक में हरा में 'हरिऔध' हूँ में
हरि हरिनीन में हियान के हिरैया में।
चाँदनी में चंद में चामीकर हूँ चंदन में
चोर में चकोर में चिराक में चिरैया में॥

काव्योपवन (१९०७) में २४ शीर्षकों पर पद्य रचना की गई है। यह रचना संग्रह उस समय में लिखा गया था जब कि ब्रजभाषा के विरोध में पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे जा रहे थे

और ब्रजभाषा का एकाधिकार साहित्य के क्षेत्र से हट रहा था। काशी कवि सभा विषयक एक कवित्त द्रष्टव्य है—

बीथिन में बार बागर बजारन में
विविध विनोद की विसालता हूँ बिगरी।
पूरित प्रमोद पुंज पुलकि पसीजि चले
केते कवि कोविद प्रवीन पाइ पगरी।
'हरिऔध' काशी कवि सभा की विलोकि धूम
सफल भई है सेवा सारदा की सगरी।
धाई धाई इंदिरा लुगाई सी फिरत आज
बाजत बधाई चंद्रशेखर की नगरी॥

उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि हरिऔध जी की ब्रजभाषा सेवा श्लाघनीय है।

मैथिलीशरण गुप्त :—

वयस्कता की सीमा रेखा में पदार्पण करते ही गुप्त जी ने छन्द ज्ञान प्राप्त करके ब्रजभाषा में रचना करना प्रारम्भ कर दिया था। १९०१ से १९०५ की अवधि में गुप्त जी ने ब्रजभाषा में रचनाएँ कीं। गुप्त जी की इस काल की ब्रजभाषा रचनाएँ 'वेंकटेश्वर समाचार' में, कलकत्ता के "वैश्योपकारक" में, तथा कन्नौज के "मोहिनी" में, मुद्रित हुई थीं। श्री गुप्त जी द्वारा कलकत्ता छाप से सर्वप्रथम लिखा गया छप्पय निम्न प्रकार है :—

"लखन आदि सब भ्रात और श्रुतिकीरत आदिक।
सुमरि राम सहसीय चित्त अति आनंद दायक।
जिनकी कृपा कटाक्ष रहत शेखर संहारक।
कमलासन जग रचक और नारायण पालक।
भज अरुण पद्मसम अति सुभग चरण सीय रघुपति भगति।
हिय 'कनकलता' अति अति हरष लख जन्म सकल हरिहर करत॥"

दुर्दशा निवेदन गुप्त जी की ब्रजभाषा रचना है। उन्होंने संस्कृत गणवृत्तों में "षटऋतु विहार" नामक रचना ब्रजभाषा में आरंभ की थी।

परिमार्जित सुमधुर एवं अलंकृत शैली में गुप्त जी की ब्रजभाषा कविता बड़ी मनोहर होती थी। एक छन्द नीचे दिया जा रहा है :—

"जग की गति सों अपनी गति को नित हेरत हैं पहचानत ना।
चकचोंधि गये जकिकें थकि कें टकि भूलि गए सुधि आनत ना॥
हम जात खिचे कितके कित हैं जब लौं हरि जू तुम तानत ना।
अपनो अपनो सपनो सबु है, सब जानत है मन मानत ना॥"

गुप्त जी ने कतिपय अन्योक्तियाँ भी ब्रजभाषा में लिखी थीं। एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है :—

"रे काक जो पिकन संग करें बिहार, रोकों न तोहि याहि तें करिकै प्रचार।
पै बोल बोल निज कर्कश शब्द, भारी नहीं तिन्हें उचित है है करिबो दुखारी।"

काक के मिस कवियों के साथ तथा कथित कवियों के गठबन्धन सम्बन्धी उक्त अन्योक्ति कितनी सटीक है। युग के प्रवाह ने मोड़ लिया और गुप्त जी का कवि खड़ी बोली में रम गया।

श्री जयशंकर प्रसाद :—

प्रसाद जी ने भी 'कलाधर' उपनाम से ब्रजभाषा रचना की। प्रारम्भ में उन्होंने ब्रजभाषा को ही काव्य का माध्यम बनाया था। प्रसाद जी की ब्रजभाषा कविता की बानगी तो देखिए :—

"पात बिन कीन्हयों जिन्हें पतझर रोष करि
तिन सब द्रुमन सुमन पूर कीने तू।
शारद कुमोदिनी के विरह बिहाल अलि
सहकार मंजरी सों मोद भरि दीने तू।
नगर बनाली कोकिला की काकली सों भरयो,
सुखद 'प्रसाद' रस रंग केलि भीने तू।
छोह छरि लीने, मन औरे करि दीने,
रे वसन्त रस भीने, कौन मंत्र पढ़ दीने तू॥"

और भी—

भई ढीठ फिरे चल चंचल सी यह रीति नहीं इनकी है नई।
नई देखि मनोहरता कत हँ, थिरता इनमें नहि पाई गई॥
गई लाज सरूप सुधा चखिकें इनकी न तबौ कुटिलाई गई।
गई खोजत ठौर हौं ठौर तुम्हें, अखियाँ अब तौ हरजाई भई॥

"उर्वशी चम्पू" की निम्नलिखित कविता में प्रकृति प्रेम के दर्शन तो कीजिए :—

"विलसत सान्ध्य दिवाकर की किरनै माला सी।
प्रकृति गले में जो खेलति है वन माला सी॥
तुंग लसैं गिरि शृंग भरयो कानन तरुगन ते।
जिनके भुज में अरुझि पवन हू चलत जतन ते॥"

"नीरव प्रेम" में भी ब्रजभाषा की छटा है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

"प्रथम भाषण ज्यों अधरान में
रहत है तउ गूँजत प्रान में
तिमि कहौ तुम हूँ चुपधीर सो
विमल नेह कथान गँभीर सों
कछु कहौ नहिं पै कहि जात हौ,
कछु लहौ नहिं पै लहिजात है।
कवि नियोजित सुन्दर कल्पना
जब धरै प्रतिमा छवि अल्पना॥"

वक्ष्यमाण तथ्यों के आधार पर सुस्पष्ट है कि खड़ी बोली कविता के आधार स्तम्भ कवियों ने ब्रजभाषा के प्रति अनुरागवती भावना प्रदर्शित की और प्रारम्भ में उसे ही रचना का माध्यम बनाया है। ●

बीसलदेव रास में लोकतत्त्व

डॉ० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र'

नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रास' हिन्दी साहित्य का आदि कालीन काव्य-ग्रंथ है। इसकी अनेक उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर इसका रचना काल सं० १०७३ और सं० १३७७ के मध्य विभिन्न तिथियों में निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है।

नरपति नाल्ह वस्तुतः लोक कवि था। वह अधिक शिक्षित भी प्रतीत नहीं होता। इसीलिए उसके काव्य में कलात्मक सौन्दर्य, भाषा सौष्ठव एवं अलंकृत भाव व्यंजना का अभाव है। उसने लोक-रंजन के लिए इस प्रेम-कहानी को कहा या गाया है, जैसा कि उसने स्वयं ही कहा है—

"दूसरइ कड़वइ गणपति गाइ।
नवण करी नइ लागुं जी पाइ॥"[१]

तथा **"नाल्ह रसायण रस भरि गाइ।"**[२]

और **"जूठडड कवित्त कहइ कुलहीण।**
नाल्ह बरवाणइ बे कर जोड़ि॥"[३]

यही कारण है कि नरपति नाल्ह के बाद भी गायकों के कंठ में स्थान पाने के कारण इसमें सुविधानुसार पाठान्तर भी होता गया तथा छन्दों और कथांशों में भी वृद्धि होती रही, जिससे उसका मूल रूप उसी में लीन हो गया। लोक-कवि द्वारा लोक-रंजन के लिए गाई गई इस प्रेम-कहानी में इसीलिए लोकतत्त्वों का इतना आधिक्य है। अतः आदि काल के इस काव्य को हम लोक-काव्य की संज्ञा प्रदान करें, तो अनुपयुक्त न होगा।

'बीसलदेव रास" का कथानक ही लोक-कथा पर आधारित प्रतीत होता है। इसका नायक बीसलदेव एक ऐतिहासिक पुरुष है। इसलिए किसी विद्वान् ने उसे विग्रहराज तृतीय प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है, किसी ने विग्रहराज चतुर्थ। वास्तविकता यह है कि बीसलदेव, राजमती और भोज इन ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों तथा कतिपय ऐतिहासिक स्थानों के उल्लेख के अतिरिक्त इस काव्य में कुछ भी ऐतिहासिक नहीं है। इसमें वर्णित घटनायें इतिहास से प्रमाणित नहीं होतीं तथा इसमें जिन स्थानों का उल्लेख हुआ है, उनमें से कई स्थानों का तो विग्रहराज तृतीय के समय में अस्तित्व भी नहीं था और दहेज में दिये गये ये अनेक राज्य तो कभी भी राजा भोज के अधिकार में नहीं रहे। इसलिए इसके कथानक का आधार उस काल में प्रचलित कोई

---

१. बीसलदेव रास (सं० माताप्रसाद गुप्त), पृ० ८६।
२. वही पृष्ठ ८९।
३. वही पृष्ठ ८८।

लोक-कथा ही है। जिस प्रकार उदयन, विक्रमादित्य, भोज और हाल को लेकर अनेक लोक-कथायें प्रचलित हैं, उसी प्रकार बीसलदेव के सम्बन्ध में भी यह कथा प्रचलित होगी, जिसे नरपति नाल्ह ने इस काव्य का आधार बनाया है। ऐसी ही ऐतिहासिक काव्य-कृतियों के सम्बन्ध में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है—"वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्तियों को पौराणिक या काल्पनिक कथा-नायक जैसा बना देने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी-शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है—जैसे राम, बुद्ध, कृष्ण आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है—जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल...। सब मिलाकर ऐतिहासिक काव्य काल्पनिक निजन्धरी कथानकों पर आश्रित काव्य से बहुत भिन्न नहीं होते।.... भारतीय कवि इतिहास-प्रसिद्ध पात्र को भी निजंधरी कथानकों की ऊँचाई तक ले जाना चाहता है।"[1] डॉ० रवीन्द्र 'भ्रमर' ने भी कहा है—"ऐसी ऐतिहासिक कही जाने वाली कहानियाँ अपने मूल रूप में उतनी ही लोकाकर्षक और काल्पनिक होती हैं, जितनी सामान्य जन-जीवन की अन्य लोक-कथाएँ। इनमें केवल ऐतिहासिक व्यक्तियों का नाम भर रहता है। इन नामों को लेकर लोक-कण्ठ इन्हें अपनी कल्पनागत एवं परम्परागत कथानक रूढ़ियों (मोटिफ़) में ढाल देता है।"[2] 'बीसलदेव' रास' ऐसा ही काव्य है। अतः इसको ऐतिहासिक काव्य न मानकर लोक-काव्य मानना चाहिए।

'बीसलदेव रास' के कथानक का गठन एवं विकास भी लोक-कथाओं के सदृश हुआ है। कवि ने लोक-कथाओं में प्रयुक्त कथानक-रूढ़ियों को अपनाया है।

लोक-कथाओं में नायक-नायिका के वियोग का कारण प्रायः अन्य नारी में चित्र-दर्शन, गुण-श्रवण, वस्तु-दर्शन से उत्पन्न आसक्ति व्यंग्यपूर्ण ताना एवं अहं पर की गई चोट होती है। इस काव्य में अन्तिम कथानक रूढि अपनाई गई है। विवाह के तुरन्त बाद ही सुहागरात के दिन राजा बीसलदेव अपने वैभव के सम्बन्ध में गर्वोक्ति करता है कि "मेरे समान अन्य कोई भूपाल नहीं है, क्योंकि मेरे यहाँ साँभर से नमक निकलता है, मैं अजमेर में बैठा हुआ राज्य करता हूँ, किन्तु मेरे राज्य का विस्तार जैसलमेर तक है और मेरे यहाँ लाख घोड़ों पर जीन कसी जाती है।" रानी राजमती उसके इस अहं पर इस प्रकार चोट करती है:—

"गरब न करि हो सहंभरि वाल।
तो सरिखा अवर घणा रे भूआल॥
एक उड़ीसा कउ घणी।

× × ×

तिउं आं घरि उग्रहइ हीराकइ षांणि॥" —(**बीसलदेव रास, पृष्ठ ११०**)

बस राजा बीसलदेव उड़ीसा जाने का निश्चय कर लेता है। रानी अनेक अनुनय-विनय करती है, अपने हाव-भाव आदि से रिझाने का प्रयत्न करती है, ज्योतिषी के माध्यम से कुछ दिन रोक रखती है, जिससे सम्भवतः उसका मन उसकी यौवन-श्री में रम जाये तथा अपनी जिठानी द्वारा भी उसे समझाने का प्रयत्न करती है, किन्तु उसका निश्चय अटल रहता है और वह हीरों के लिए उड़ीसा की ओर प्रस्थान कर ही देता है।

---

१. हिन्दी साहित्य, पृ० ६८-७१—पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी।
२. पद्मावत में लोक तत्व—डा० रवीन्द्र 'भ्रमर', पृ० ६३।

उड़ीसा-गमन से पूर्व भी कवि ने एक कथानक-रूढ़ि का प्रयोग किया है और वह है राजमती के पूर्व-भव का वृत्तान्त। उड़ीसा के वैभव का वर्णन करने पर राजा जिज्ञासा करता है कि "जिसका जन्म जैसलमेर में हुआ, जो परिणीत होकर अजमेर आ गई और जिसकी आयु अभी बारह बरस की है, उसे उड़ीसा के वैभव का ज्ञान कैसे हुआ ?"[1] रानी बताती है—"मैं पूर्व जन्म में हिरनी थी, वन-प्रदेशों में विचरण करती हुई एकादशी का निर्जला व्रत रखती थी, व्रत के ही किसी दिन एक आखेटक ने मेरा बाण से वध किया, जगन्नाथ के द्वार पर मेरा प्राणान्त हुआ, मृत्यु-समय शंख-चक्र-गदाधारी जगन्नाथ ने मुझे दर्शन दिया, मैंने उनसे निवेदन किया कि मुझे पूर्व देश में जन्म न देना, क्योंकि वहाँ के लोग भक्ष्य-अभक्ष्य खा जाते हैं। फलतः मैं जैसलमेर में उत्पन्न हुई, पर मुझे पूर्व-जन्म का वृत्तान्त ज्ञात है।[2] मृत्यु के समय मारवाड़ में ही सुन्दरी कन्या के रूप में जन्म लेने का वरदान माँगती है :—

"जनम मांगिउं स्वामी मारू कइ देसि।
राजकुँवरि अनइ रूप असेसि।
रूप निरूपम मेदिनी॥
पहिरणइ लोवड़ी झीणइ रे लंकि।
आछी गोरी धण पातली।
अहर प्रवालीय नइ दाडिम दंत॥"[3]

उसी के अनुरूप वह पृथ्वी में अनुपम सुन्दरी के रूप में जन्म लेती है, जो तन्वंगी है, जिसकी कटि क्षीण है, जिसके अधर प्रवाल जैसे तथा दाँत दाड़िम के समान है।

नायिकाओं के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए प्रायः कुटनियों के प्रयोग की भी रूढ़ि रही है। कुटनियाँ नायिका को प्रेम-पथ से विचलित करने का प्रयत्न करती हैं, किन्तु नायिका दृढ़ रहती है और उसका प्रेम और भी पुष्ट हो जाता है। 'बीसलदेव रास' में भी कुटनी राजमती के पास आती है और उसे फुसलाकर किसी अपूर्व मित्र से मिलाने का प्रलोभन देती है। उसकी बात सुनकर राजमती क्रोधित होकर उसकी पीठ पर पटला उठाकर मारती है तथा उसके प्रति इस प्रकार अपना आक्रोश व्यक्त करती है :—

"पेट फड़ावउं धारड कूटणी
कोकडं देवर अरु बडउ जेठ
काढ़उं जीभ जिण बोलियउ।
नाक सरोसा काटउं वूनिउ होठ"—बीसलदेव रास, पृ० १६६

कुटनी अपना सा मुंह लेकर चली जाती है। कुटनी का प्रयोग प्रायः प्रतिनायक अथवा नायिका के प्रति आकर्षित अन्य व्यक्ति उसे अपनी ओर उन्मुख करने के लिए करता है। 'बीसलदेव रास' में इस प्रकार का कुछ भी उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि कवि ने इसका प्रयोग केवल रूढ़ि के परिपालनार्थ किया है।

कथानक-रूढ़ियों में किसी अद्भुत प्रदेश का वर्णन भी सम्मिलित है, जिसमें सब कुछ विचित्र ही होता

---

१. बीसलदेव रास, पृ० १११।
२. वही, पृष्ठ १११-११५।
३. वही, पृ० ११४।

है। प्रायः ऐसे प्रदेश में नायक या उसके जन भूल कर पहुंच जाते हैं तथा उस प्रदेश के अद्‌भुत क्रिया-कलाप को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। 'बीसलदेव रास' के कथानक में कवि को ऐसा कोई अवसर प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिए उसने इस रूढ़ि का प्रयोग उड़ीसावर्णन में ही कर लिया है। राजमती का सन्देशवाहक पण्डित उड़ीसा पहुँचकर देखता है :—

"जठइ मानिजइ बलद नइ हल बहइ गाइ।
मांड पीजइ कण राखिजइ।
तठइ लाल विहूणी बाजइ छइ घांटि।
नाहर चोर नवि लगाए बाटि।"—बीसलदेव रास, पृ० १८२

वहाँ बैल की मान्यता है और गाय हल में जोती जाती है, लोग माँड पी जाते हैं और चावल छोड़ देते हैं, वहाँ बिना लटकन के ही घंटे बजते हैं तथा मार्ग में चोर और सिंह नहीं सताते हैं।

लोक-कथाओं में ऐसे सिद्ध पुरुषों की सिद्धि का भी वर्णन होता है, जो उनके बल से क्षण भर में ही इच्छित स्थान पर पहुँच जाते हैं तथा किसी को दिखाई नहीं देते। 'बीसलदेव रास' में भी ऐसे योगी का वर्णन है, जिसे गुटिका विद्या सिद्ध है। उसके बल से वह पलक मारने भर की देर में चाहे जिस देश में पहुँच सकता है।[१] राजा बीसलदेव अपने लौटने का सुमाचार रानी राजमती के पास इसी योगी द्वारा भेजता है, जो तुरन्त ही राजभवन में पहुँच जाता है।[२] बीसलदेव रास' की किसी-किसी हस्तलिखित प्रति में योगी के परकाय-प्रवेश तथा पक्षी होने आदि रूढ़ियों का भी उल्लेख किया गया है।[३]

सन्देशवाहकों के लिए सन्देश भेजने वाले की सहिदानी तथा सन्देश पाने वाले के अभिज्ञान का वर्णन भी कथानक-रूढ़ियों में आता है। 'बीसलदेव रास' में अभिज्ञान का वर्णन किया गया है : रानी राजमती अपने सन्देशवाहक पण्डित से बीसलदेव के अभिज्ञान का वर्णन करती है।[४] राजा बीसलदेव रानी के अभिज्ञान का योगी से वर्णन करते हुए इस प्रकार कहता है :—

"कोमल पदम छइ घण केरे हाथ।
मूंगफली जिसी आंगुली।
उणरा कठण पयउहर काजली रेख
बोलती बोल छइ आकुली
दांत दाडिम घण चीता कम लंकि।।"—बीसलदेव रास, पृ० १९७

कोमल पद्म के समान उसके हाथ हैं, मूंगफली जैसी उँगलियाँ हैं। उसके उरोज कठोर हैं, जिन पर काली रेखायें हैं। उसके दाँत दाड़िम के समान और कटि चीता की कटि के समान है। उसकी वाणी से आकुलता व्यक्त हो रही होगी।

कथानक रूढ़ियों में षड्‌ऋतु और बारहमासा के माध्यम से विरह-वेदना-वर्णन भी सम्मिलित है।

---

१. बीसलदेव रास, पृ० २८७।
२. वही, पृ० १९८।
३. वही, पृ० ३५८।
४. वही, पृ० १७६।

'बीसलदेवरासो' में बारहमासा की पद्धति को अपनाया गया है। सभी महीनों का वर्णन करते हुए इन की उद्दीपनी शक्ति का विशेष वर्णन किया है। चैत्र का वर्णन देखिए :—

"चेत्र मास चतुरंगी हे नारि।
प्रिय विण जीवइ किसइ अधारि।
कंचूयउ भीजइ जण हसइ।
सात सहेलिय बइठी छइ आइ।
दंत कबाड़्या नइ न रंग्या
चालउ सषी आपे षेलण जाइ।
आज दीसइ सु काल्हे नहीं।
म्हे किउं होली हे षेलण जां।
उलगाणइ की गोरडी
की आंगुली काढ़ता निगलीजइ बां।"—बीसलदेव लरास, पृ० १५४

चैत्र मास में नारियाँ चौरंगी हो गई हैं, किन्तु मैं प्रियतम के बिना किसके सहारे जीवित रहूँ। मेरी कंचुकी भीग जाती है और लोग हँसते हैं। सात सहेलियाँ अपने ओठों और नखों को रंजित करके आ बैठी हैं और मुझसे खेलने के लिए कहती हैं कि जो दिन (आयु) आज हैं, वे कल नहीं रहेंगे। किन्तु मैं होली खेलने कैसे जाऊँ। मैं तो प्रवासी की पत्नी हूँ। तुम मेरी उंगली पकड़कर पहुँचा पकड़ती हो।

बारहमासा के ही प्रसंग में कवि ने लोक-जीवन के कुछ दृश्यों तथा वस्तुओं का वर्णन करके भी लोक तत्त्वों का समावेश किया है। यथा, असाढ़ में नालों के प्रवाह का वर्णन,[१] वैशाख में फसल की लुनाई का वर्णन,[२] माघ मास में तुषार गिरने से वनस्पतियों के झुलसने का वर्णन[३] तथा आषाढ़ के प्रथम मेघ का वर्णन[४] आदि।

वियोग-वर्णन करते हुए रानी राजमती की जिन भावनाओं का वर्णन किया है, उनमें भी लोक-तत्त्व का आभास मिलता है। रानी राजमती कहती है कि मैं 'यदि रानी न बन कर जंगल में रोजरी या धवली गाय बन जाती, तो स्वच्छन्द घूमती, काली कोयल होती तो आम या चम्पे की डाल पर बैठती, इधर-उधर उड़ती और स्वेच्छापूर्वक द्राक्षा तथा अन्य फल खाती।'[५] यही नहीं, अपितु कृषक-नारी के जीवन के प्रति अनुरक्ति व्यक्त करते हुए कहती है—

"आंजणी काइं नि सिरजीय करतार।
षेत्र कमावती स्यउं भरतार॥
पहिरिण आछी लोवडी।
तुंग तुरीय जिमि भीडती गात्र।

---

१. बीसलदेव रास, पृ० १५७।
२. वही, पृ० १५५।
३. वही, पृ० १५१।
४. वही, पृ० १५७।
५. बीसलदेव रास, पृ० १६३ इ

साईंम लेती सामुही।
हंसि हंसि बूछती प्री तणी बात॥"—बीसलदेव रास, पृ० १६४

भगवान ने मुझे जाटनी क्यों नहीं बनाया, जिससे मैं अपने पति के साथ खेत कमाती। अच्छे ऊन के कपड़े पहिन कर ऊँचे घोड़े के समान अपने शरीर को स्वामी के शरीर से भिड़ाती अर्थात् आलिंगन करती और स्वामी को सामने से लेती तथा हँस-हँस कर उनकी बात पूछती। विरहिणी रानी की यह कामना लोक जीवन के प्रति कवि की रुचि को अभिव्यक्त करती है।

'बीसलदेव रास' के कथानक की समाप्ति भी लोक कथाओं की भाँति सुखान्त है। जिस प्रकार लोक-कथाओं में नायक-नायिका का मिलन हो जाता है और कथाकार अन्त में कहता है 'जिस प्रकार इनका मिलन हुआ हो, उसी प्रकार सभी का हो।' 'बीसलदेव रास' में भी अन्त में यही कामना की गई है :—

"जिउं राजा, राणी, सुं मिल्या।
तिम एण संसार मिलिज्यो सहु कोइ।"—बीसलदेव रास, पृ० २१४

इस प्रकार 'बीसलदेव रास' का कथा-संगठन एवं कथा-शिल्प लोक कथाओं के अनुरूप है। काव्य का **ढाँचा** ही उसे लोक-काव्य प्रमाणित करता है।

'बीसलदेव रास' का कथानक खण्ड काव्य के अनुरूप है। उसमें केवल विवाह, प्रवास और मिलन का ही वर्णन हुआ है। इसलिए समग्र लोक-जीवन को चित्रित करने का अवकाश तो कवि के पास नहीं है, फिर भी उसने लोक-जीवन के विविध पक्षों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। विवाह की वरेच्छा से लेकर विदा तक की प्रत्येक प्रक्रिया का विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन कवि ने किया है। विवाह की प्रत्येक क्रिया लोक जीवन के अनुसार ही सम्पन्न होती हैं। विवाह योग्य कन्या को देखकर भोज की रानी के मन में चिन्ता, पति से कन्या के लिए योग्य वर देखने का निवेदन, अजमेर के चौहान वीसलदेव के लिए लग्न सुपारी प्रेषित करना, वरेच्छा का उत्सव, गुड़ी उछालने की प्रथा, नेगियों को उपहार प्रदान करना, बरात का आगमन, तोरण मारना तथा द्वाराचार हथलेवा की विधि, चौक पूरना, शाखोच्चार ग्रन्थिबन्धन इसी क्रम में आते हैं। निर्जला एकादशी, गणेश चतुर्थी जैसे लोक व्रतों, फाल्गुन में होली खेलने तथा श्रावण में कजली खेलने नवरात्र में न्यौरता खेलने जैसे लोकोत्सवों के वर्णन हैं। लोक विश्वासों में शकुन अपशकुन, यात्रा विचार, देवी देवता तथा अन्य मान्यताएँ परिगणित की जाती हैं।

कवि ने लोकोक्तियों तथा नीति वाक्यों के प्रयोग बड़े रोचक किये हैं। जैसे—

"चन्दं कूडइ किउं ढाकियउ जाइ।"
"दव का दाधा हो कूपल लेइ।
जीभ का दाधा न पाल्हवइ॥"
"इध किम उबरइ मंजारि कइ फेरि।"

इस काव्य की भाषा भी लोकभाषा ही है। कवि ने तत्सम शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर ही किया है। लोक-कण्ठ में रहने के कारण यद्यपि भाषा में एकरूपता तथा स्थिरता नहीं है तथापि मूल भाषा का आभास पाना कठिन नहीं है। कवि ने देशज एवं तद्भव शब्दों का ही अधिक प्रयोग किया है। यथा—घण (स्त्री), विंद (वर), पषालिज्यो (प्रक्षालन), जुहारण (प्रणाम) डावडी (लड़की), कूकस (कुखाद्य), लोवडी (एक प्रकार का ऊनी कपड़ा), आकरी (खराब, कटु), पीडार (भैंस का बच्चा), जगीस (जिगीषा,

इच्छा), करह (ऊँट) षाल (नाला), कोकउं (पुकारूँ), जीमणी (दाहिनी), हेडाऊ (काफिला), अहिनाण (अभिज्ञान) रालतां (प्रवहमान), सांढिया (तीव्रगामिनी ऊँटनी) तथा मुलकइ (मुग्ध होती) आदि।

कवि की अलंकार-योजना में भी लोक-तत्त्व के दर्शन होते हैं। उसकी अप्रस्तुत योजना या तो रूढ़ है अथवा लोक-जीवन से गृहीत है। कतिपय अलंकारों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—उपमा—'गोवल माहि जिसड परतिष्य गोविन्द।' 'सा घण कुरलइ मोर जिउं', 'मूंगफली जिसी आंगुली', 'दांत दाडिम धण चीता कय लंकि।' इनमें मूंगफली सी उंगली कितनी सटीक और नवीन है। रूढ़ न होते हुए भी लोक जीवन से गृहीत तथा रूप सादृश्य को स्पष्ट करने वाली है।

उत्प्रेक्षा—'जाणे हियडइ हरिणी हणी', जांणि करि बाछडइ स्युं मिली गाइ।'

अतिशयोक्ति—'राजा चालियउ परिणवा षेहाडंबर छाइयउ भाण।'

अपह्नुति—'राउ नहीं सखि भइंस पोडार'

अप्रस्तुत प्रशंसा—'रतन कचोलइ किम पाडइ भीष। इत्यादि

इस विवेचन से स्पष्ट है कि वस्तु-संगठन, शैली-शिल्प, वस्तु वर्णन, कला पक्ष इत्यादि में लोक तत्त्वों का इतना आधिक्य है कि 'बीसलदेव रास' को लोक काव्य कहना ही समीचीन है।

कबीर व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व

⊙

श्री सुरेशचन्द्र मिश्र, एम० ए०
(हिन्दी, अर्थशास्त्र) साहित्यरत्न

कबीर साहब की जैसी बानी अलौकिक है वैसी ही उनकी लोकप्रसिद्ध जीवन कथा भी अलौकिक है। कबीरपंथियों में उनके विषय में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। रामानन्द जी के आशीर्वाद से ब्राह्मण की विधवा पुत्री के बालक का जन्म होना, लहरतारा के किनारे से उठाकर नीरु-नीमा द्वारा पालन-पोषण किया जाना, पंचगंगा घाट पर रामानन्द जी से रामनाम की दीक्षा ग्रहण करना, सिकन्दर लोदी के दरबार में कबीर पर स्वयं को ईश्वर कहने का अभियोग लगाया जाना फलतः कबीरको नदी में फेंकना, अग्निकुण्ड में डालना तथा हाथी के समक्ष डालना आदि किम्बदन्तियां कबीर पंथियों में मिलती हैं। मुसलमान कबीरपंथी उनको शेष तकी का शिष्य बताते हैं किन्तु तर्क की कसौटी पर यह बात खरी नही उतरती। कबीर के साथ लोई का भी नाम लिया जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह कबीर की शिष्या थीऔर सदैव उसके साथ रहीं। कुछ लोग इसे उनकी विवाहिता स्त्री बतलाते हैं और कहते हैं कि उसके गर्भ से कमाल और कमाली नामक पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति भी हुई। इसकी पुष्टि में यह पंक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं :—

बूढ़ा वंश कबीर का उपजा पुत्र कमाल।
हरि का सुमिरन छांड़ि के ले आया घर माल॥

कबीर का आविर्भाव १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था उनके जन्म के संबंध में कबीरपंथियों में यह उक्ति प्रसिद्ध है :—

चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेष्ठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रगट भए॥

इनके परलोकवास की तिथि १५०५ बताई जाती है।

संवत पन्द्रह सौ पचोतरा मगहर कीनौ गौन।
माघ सुदि एकादशी रल्यौ पौन में पौन॥

मुहसन फनी ने फारसी इतिहास ग्रन्थ "तवारीखे दविस्ता" में इन्हें रामानन्द का शिष्य एकेश्वर-वादी और जुलाहा बताया है।

वस्तुतः कबीर और उनकी कोटि के अन्य सन्तों की जीवन-कथाएं तथाकथित इतिहास की वस्तु नहीं हैं। संतों की जाति और कुल नहीं देखा जाता है उनका ज्ञान-साहित्य ही दर्शनीय और मननीय होता है। उन्होंने कब और कहाँ किस कुल में पंचतत्त्व का चोला धारण किया और त्यागा इसका विशेष महत्व नहीं है।

कबीर अपने युग की देन थे। यह युग धार्मिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से संक्रमण काल था। धार्मिक दृष्टि से वैदिक मूल्य ह्रासोन्मुख थे। देश की दक्षिण परिधि पर तीक्ष्ण बौद्धिक आन्दोलन प्रस्थानत्रयी

पर आधारित शांकर दर्शन की प्रतिक्रिया में उठ खड़ा हुआ था। दक्षिण के आचार्यों ने शंकर के अद्वैतवाद या मायावाद के प्रति बौद्धिक एवं शास्त्रार्थपरक प्रतिक्रिया की और प्रस्थानत्रयी का भक्तिपरक भाष्य प्रस्तुत किया। वस्तुतः भक्ति रूढ़ जीवन मूल्यों के प्रति क्रांति, श्रेण्य, शास्त्रीय एवं वर्गवादी दर्शन के प्रति असंतोष एवं अर्द्धमृत तथा बिखरी हुई शक्तियों का पुनरुत्थान है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार कबीर दास की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई है। कबीरदास की रचनाएं साखी रमैनी, सबद के रूप में प्राप्त हैं। कबीर साहब के नाम से प्रचलित विभिन्न कृतियों की संख्या बहुत बड़ी है। रेवरेण्ड वेस्टकोट इनकी ८२ कृतियां मानते हैं तथा डा० रामकुमार वर्मा ५६ मानते हैं। कबीर साहब की जो रचनाएँ हैं हमें आज उपलब्ध हैं वे विभिन्न संग्रहों के रूप में हैं अधिकतर पद, साखियाँ, रमैनियाँ हैं इन से कुछ तो 'पंचवानी', 'सर्वंगी' आदि ग्रन्थ जैसे संग्रह ग्रंथों में मिलती हैं। अस्तु, कबीर ने जो कुछ कहा अपने अनुभव से ही कहा दूसरों की बात उन्होंने नहीं कही और न पढ़-पढ़ कर ही कहा :

"विद्या न पढ़ौं बाद नहिं जानौं।" में यही भाव अव्यक्त हैं।

उन्होंने जो कुछ कहा अनूठा कहा किसी का जूठा नहीं कहा। कबीर के तत्वदर्शन की थाह दार्शनिक विवेचन या विश्लेषण के द्वारा नहीं प्रत्युत सत्य की सहज साधना के द्वारा ही मापी जा सकती है। कबीर की बानी में जहाँ हम ज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण पाते हैं वहाँ योग का गूढ़ातिगूढ़ भेद भी हमें मिलता है और भक्ति का गंभीर रहस्यवाद भी है, वेदान्त भी उनके साथ पूरा उतरता है तो सूफी सिद्धान्त भी उसमें ढल जाते हैं।

कबीर की वे रचनाएँ जिनमें वे ढोंगियों, धर्मध्वजों, मजहवी ठेकेदारों के खिलाफ बगावत की आवाज बुलन्द करते हैं खड़ी बोली या रेखता शैली में हैं। ठीक इसके विपरीत कबीर जहाँ अपने सहज रूप में आत्म-निवेदन प्रणपत्ति या आत्मा परमात्मा के मधुर मिलन के गीत गाते हैं उनकी रचनाओं का माध्यम ब्रजभाषा हो जाती है। डा० चाटुर्ज्या और रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि रमैनी और सबद में गेय पद हैं जिनकी भाषा ब्रजभाषा है, जिसमें यत्रतत्र पूरबी बोली का पुट है। ब्रजभाषा का एक पद द्रष्टव्य है :—

"हौं बलि कब देखोंगी तोहि।
अहनेस आतुर दरसन कारनि ऐसी व्यापी मोहि॥
नैन हमारे तुम्हको चाहैं, रती न माने हानि।
विरह अगिनि तन अधिक जरावै ऐसी लेहु विचारि॥
सुनहु हमारी दादि गुसाईं अब जनि करहु अधीर।
तुम धीरज, मैं आतुर स्वामी काचे भाड़े नीर॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ मन नहिं बांधे धीर।
देह छतां तुम मिलहु कृपा करि आरितवंत कबीर॥"

कबीर के कुछ पद तो सूरदास के पदों की भांति ही ब्रजभाषा की निधि हो गये हैं विशुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग उनमें दर्शनीय होता है एक उदाहरण प्रस्तुत है—

'अब हरि हूँ अपनी करिलीनों।
प्रेम भगति मेरो मन भीनों।
जरै सरीर अंग नहिं मोरो, प्रान जाइ तौ नेह न तोरों।
चयंतामणि कंत पठाये ठठोली. मन वे राम लियो निरमोली।

ब्रह्म खोजत जनम गवायो, सोई राम घट भीतर पायो।
कहे कबीर छुटी सब आसा, मिल्यो राम उपज्यौ विसवासा।।"

कबीर ने बहुत थोड़े छप्पय लिखे हैं। छप्पयों की भाषा मूलतः ब्रज है। यह ब्रज का अपना छन्द है। एक छप्पय प्रस्तुत है :—

"मन नींह छाड़ै विषै विषै न छाड़ै मन कौं।
इनको इहे सुभाव पूरि लागी जुग जन कौ।
खंडित मूल विनास कहो किम विगतह कीजे।
ज्यूं जल में प्रतिविम्ब त्यूं सकल रामहि जानी जै।
सो मन सो तन सो विषै सो त्रिभुवन पति कहूं कस।
कहे कबीरा चन्दहुनरा ज्यों जलपूरया सकल रस।"

कबीर के कतिपय दोहे भी ब्रजी में लिखे हुए हैं :—

यह तन जारौं मसि करौं लिखौं राम को नाम।
लेखनि करुं करंक की लिखि लिखि राम पठाउं।
कबीर पीर परावनी पंजर पीर न जाइ।
एक जु पीर पिरीत की रही करेजा छाइ।

कबीर के काव्य का वर्ण्य विषय आध्यात्मिक विचार हैं। उनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक पद्धति, उलटवांसियां, अन्योक्ति, समासोक्ति आदि विविध साधनों का सहारा लेना पड़ा है। कबीर ने प्रतीक रूप में दाम्पत्य प्रेम का अच्छा वर्णन किया है। आत्मा बधू की विह्वलता को इस पंक्ति में तनिक सुनिये—

"कियो सिंगार मिलन के ताईं, हरि न मिले जग जीवन गुसांई।"
"हरि मेरो पीव मैं हरि की बहुरिया।"

अपनी अनुभूति को चमत्कारिक ढंग से गोपनीय रखते हुए अभिव्यंजित करने के लिए कबीर ने उलटवांसियों की रचना की है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

"कैसे नगरि कैरौं कुट बारी।
चंचल पुरुषि बिचरवन नारी।
बैल वियाई गाई भई बांझ।
बछरा दूहे तीन्यूं सांझ।
मकड़ी घरि मांखी छछिहारी।
मांस पसारि चील्ह रखवारी।
मूसा खेवट नाव विलइया।
मेंढक सोवै सांप पहरिया।
नित उठि स्याल सिंघ सूं जूझे।
कहे कबीर कोई विरला बूझै।"

कबीर ने अपने धर्म को सहज धर्म का नाम दिया है ताकि सहज की प्राप्ति के लिए कठोर साधना की आवश्यकता न हो। वे कहते हैं कि—

सहज सहज सब कोई कहे सहज न चीन्हे कोइ।
जिन सहजै विषया तजी सहज करी जे सोइ॥

निष्कर्षत: मानवतावादी कबीर आडम्बर विरोधी पाखंडों और वाह्याचारों के आलोचक थे। हिन्दू और तुर्क सभी के दोषों का ज्ञापन कराकर उन्हें सत्य मार्ग की ओर उन्मुख करना उनका उद्देश्य था, नर में नारायण को देखना ही उनकी सच्ची आस्तिकता थी।

हास्य और व्यंग का स्वरूप

डा० गिरिराजशरण अग्रवाल

एम० ए०, पी-एच० डी०

हँसना मानव का आवश्यक और महत्त्वपूर्ण गुण है। साधारणतः जिनके चेहरों पर मौत जैसी उदासी छायी रहती है, जो सदैव रोनी सूरत बनाए बैठे रहते हैं, धीरे-धीरे उनसे सामाजिकों का संपर्क कम होता चला जाता है; परंतु जो मनुष्य हास्य के कारण अपने वातावरण को जीवंत बनाए रखते हैं, वे शीघ्र ही आस-पास के लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

निःसंदेह, विनोदी मन की अभिव्यक्त मुद्रा के रूप में हास्य मानव की अमूल्य निधि है; परंतु अचानक किसी हँसते हुए व्यक्ति से यह पूछा जाए कि हँसी क्या है? तो उसकी हँसी ही रुक जाए। क्योंकि हास्य को परिभाषित करना एक टेढ़ी खीर है।

हास्य का स्वरूप-विवेचन करते हुए अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने अपने-अपने मत व्यक्त किए हैं परंतु 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना' की कहावत ही चरितार्थ हुई है।

हास्य-विषयक भारतीय दृष्टिकोण की परख करते समय सर्वप्रथम भरत का दृष्टिकोण ही हमारे सामने आता है। अपने नाट्यशास्त्र के रस-प्रकरण में भरत ने शृंगार-रस को प्रमुखता प्रदान करते हुए हास्य को शृंगार का अनुकरण बताया है[1] और इस अनुकरण में विकृति को प्रधानता देते हुए हास्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

विपरीतालंकारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः॥
विकृताचारैर्वाक्यैरंगविकारैश्च विकृतवेषैश्च।
हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः॥[2]

अर्थात् हास्य का उद्रेक विकृत अलंकार, विकृत आचार, विकृत अभिधान, विकृत वेश, विकृत आकार, विकृत वाणी आदि द्वारा होता है। ये विकृतियाँ अभिनेता में हों या वक्ता में या अन्य किसी में, यदि इनका संकेत या वर्णन मन में आनंद उत्पन्न करे तो हास्य रस की सफल सृष्टि माननी चाहिए।

हास्य के विवेचन में परवर्ती आचार्यों ने भी भरत का ही आधार ग्रहण किया है। साहित्य दर्पण के तृतीय परिच्छेद में आचार्य विश्वनाथ ने कहा कि जहाँ विकृत वेशभूषा, रूप, वाणी, अंगभंगी आदि के देखने-सुनने से 'हास' स्थायीभाव की पुष्टि होती है, वहाँ हास्य रस होता है।[3]

---

१. नाट्यशास्त्र—भरत ६।४०।

२. वही, ६।४९-५०।

३. साहित्य-दर्पण—विश्वनाथ ३।२१४-२१६।

श्री रामचंद्रगुणचंद्र ने भी अपने नाट्यदर्पण में विकृति को ही हास्य का मूल कारण बताया है—

विकृताचार - जल्पांगाकल्पविस्मापनोद्भवः।
हास्योऽस्याभिनयो नासास्पन्दाश्रुजठरग्रहे : ॥[1]

दशरूपककार धनंजय ने विकृति को ही मान्यता देते हुए इतनी बात और जोड़ी कि आकृति-वाणी या वेश की विकृति अपनी भी हो सकती है और दूसरे की भी। उनके अनुसार अपनी या दूसरे की विकृत आकृति-वाणी या वेश को आलंबन मानकर हास्य का पोषण होता है—

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥[2]

इस दृष्टि से, हास्य रस विशेष रूप से विकृतियुक्त आलंबन के स्वरूप पर निर्भर है। संस्कृत की इसी विचारधारा को हिंदी के रीतिकालीन आचार्य कवियों ने भी ग्रहण किया। धीरे-धीरे पाश्चात्य-साहित्य के प्रभाव से हास्य के स्वरूप में परिवर्तन आया और साथ ही हास्य की परिभाषाओं में भी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हास्य रस के भाव 'हास' को सुखात्मक बताया और उसकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की—

"हास यों तो केवल मन का एक वेग मात्र है, पर भावों में जिस हास को स्थान दिया गया है, वह ऐसा है जिसके आश्रयगत होने पर श्रोता या दर्शक को भी रस रूप हास की अनुभूति होती है। वह आलंबन प्रधान होता है। यों ही प्रसन्नता के कारण—जैसे शत्रु के प्रति अपनी सफलता—जो हँसी आती है, वह भाव की कोटि में नहीं, वह मन की उमंग या शरीर का व्यापार-मात्र है, उसके प्रदर्शन से श्रोता या दर्शक के हृदय में हास की अनुभूति नहीं हो सकती।"[3]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय विद्वानों ने यह स्वीकार करना प्रारंभ कर दिया कि हास्य केवल विकृत वेश और वाणी का प्रदर्शन नहीं, कुछ और भी है।

डा० एस० पी० खत्री ने हास्य की आत्मा की चर्चा करते हुए कहा है कि इसका संबंध अविच्छिन्न रूप से मानवी विचारधाराओं से है, "हास्य की विशिष्ट आत्मा का विचरण-क्षेत्र मानवी विहार-क्षेत्र रहा है और इसी क्षेत्र में वह फले-फूलेगी।"[4] आगे चलकर डा० खत्री ने बताया है, "जब कभी हमारे सम्मुख शारीरिक, मानसिक, व्यावहारिक, सामाजिक तथा नैतिक पीड़ा रहित कार्य अथवा घटना अपने साधारण और अभिमत स्तर से गिरती हुई दिखायी देगी और जिसके फलस्वरूप किसी प्रकार की क्षति न होगी, हास्य के आविर्भाव में सहायक होगी।"[5]

इसी प्रकार श्री जी० पी० श्रीवास्तव के अनुसार, "जब कोई व्यक्ति साधारण मनुष्यत्व के दर्जे से अपने कर्मों द्वारा गिर जाता है, तब उसका यह पतन उसे हमारी दृष्टि में नक्कू बनाकर उपहास योग्य कर देता है। क्योंकि ईश्वर ने मानवीय स्वभाव ऐसा बना रखा है कि वह अपने से किसी को भिन्न पाते ही उस पर

---

१. नाट्यदर्पण १२।११४, सूत्र १६८।
२. दशरूपक, ४ प्रकाश / ७५।
३. रसमीमांसा—प्र० सं०, पृ० १९५।
४. हास्य की रूप रेखा, पृ० ३२।
५. हास्य की रूपरेखा, पृ० १६८।

ठिठौली करता है। इस हँसने वाली भिन्नता की उत्पत्ति पतन से होती है, जिसका कारण गुणों की कमी या अवगुणों की ज्यादती है।"[१]

इस प्रकार भारतीय दृष्टि हास्योद्रेक में आलंबन की विकृति पर निर्भर करती है।

विदेशी विद्वानों में हास्य के विवेचन का सर्वप्रथम प्रयास अरस्तू (३८४-३२२ बी० सी०) का है। उन्होंने हास्य को असंगति के रूप में परिभाषित किया है।[२] उनके पश्चात् अनेक विद्वानों ने मनोविज्ञान का आश्रय ग्रहण कर हास्य के मूल कारणों की खोज की, जिनके आधार पर अनेक सिद्धांतों ने जन्म लिया परन्तु उनमें कोई भी सिद्धांत अपने में पूर्ण नहीं है। हाँ, वे एक-दूसरे के पूरक अवश्य हैं।

उत्कर्ष का सिद्धांत—प्रायः लोगों की असफलता और उनकी कमियों पर उन्हें किसी प्रकार की अलाभकर स्थिति में पाकर अथवा उन्हें किसी दुर्भाग्य का सामना करते देख कर हम हँसते हैं। हास्य से उत्पन्न होने वाला यह आनंद हमारी उत्कर्ष की भावनाओं से उद्भूत होता है।[३] इस 'अनायास उत्कर्ष के सिद्धांत' का प्रतिपादन हाब्स (१५८८-१६७९ ई०) ने किया। उनके अनुसार अपने में अचानक किसी उत्कर्ष को देखकर उसे पूर्ण की दुर्बलताओं की समता में रखकर जो उत्कर्ष व्यंजक उल्लास होता है, वही हास्य का कारण है। हाब्स का विचार है कि हमें हँसी इसलिए आती है, क्योंकि हमारे मन में दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठता का भाव होता है और बहुधा हम सोचते हैं कि हम पहले की अपेक्षा इस समय श्रेष्ठ हैं। मूर्ख को देखकर इसलिए हँसी नहीं आती कि वह मूर्ख है वरन् इसलिए कि हम उसकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान हैं।

हाब्स के सिद्धांत को आधार मानकर अलैक्जेंडर बेन (१८१८-१९०३ ई०) ने यह तर्कपूर्ण विचार रखा कि हास्य का आविर्भाव तभी होगा जब कोई ऐसा व्यक्ति हीनता अथवा अधोगति को प्राप्त हो जो स्वयं कोई गर्वपूर्ण भाव-भंगी बनाए हुए हो परंतु साथ ही वह किसी अन्य तीव्र भावना का प्रसार न करे।[४]

असंगति का सिद्धांत—वास्तव में पतन और हीनता के इस सिद्धांत में सभी प्रकार के हास्य को समाहित करने वाली व्यापकता नहीं है। अनेक हास्य-लेखकों ने हास्य के लिए वैषम्य और असंगति की सहायता प्राप्त की है। उनके विचार से पतन अथवा हीनता नहीं वरन् असंगति हास्य का प्रधान-तत्त्व है। इमेन्युयेल कांट (१७२४-१८०४ ई०) ने इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जब कोई अपेक्षायुक्त कल्पना अचानक अस्तित्वविहीन हो जाती है, उस समय होने वाली मनोविकारजन्य क्रिया ही हास्य है।[५]

बेन जॉनसन (१५७३-१६३७ ई०), हैजलिट (१७७८-१८३० ई०), आर्थर शॉपेन हावर (१७८८-१८६० ई०), लीकॉक (१८६९-१९४४ ई०) ने भी हास्य के लिए असंगति पर अधिक बल दिया। इनके

---

१. **हास्यरस, पृ० ९।**

२. Encyclopedia International, Vol 9, p. 39

३. Collier's Encyclopedia Vol. 12, p. 355

४. Laughter results from the degradation of some person or interest possessing dignity in circumstances that excite no other strong emotion." Alexander Bain, Quoted in Toaster's Hand Book p VIII.

५. An affectiom arising from sudden transformation of a strained expectation into nothing. Immanuel Kant. Quoted in collier's Encyclopedia. Vol. 12, p. 356

अनुसार चित्र, चरित्र, भाव, विचार अथवा भाषा के अवयवों के वैषम्य से हास्य का जन्म होता है। किसी वस्तु की सत्ता में एक असंतुलन (Disharmony in the setting of a thing) हमें हँसाता है।

असंगति का विचार करते ही इतना स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जिस वस्तु या व्यक्ति की असंगति पर हमें हँसी आती है उसका संतुलित रूप हमारे मस्तिष्क में अवश्य होगा। इसलिए किसी वस्तु को कैसा होना चाहिए और वह कैसी है, इस बात में भेद करके हम हँसते हैं।

तनाव से मुक्ति का सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार हास्य का मुख्य कारण न उत्कर्ष की भावना है और न असंगति की चिंता वरन् संघर्ष और नियंत्रण से मुक्ति की भावना है। इस प्रकार हास्य की उत्पत्ति तब होती है जब अचानक किसी अवरोध से हमें मुक्ति मिल जाती है। अधिकतर घोर परिश्रम तथा थकान के कार्य में लगे व्यक्ति उस समय अट्टहास कर उठते हैं जबकि उनकी परेशानी अचानक समाप्त हो जाती है। इस सिद्धांत को विकसित करने और प्रधानता प्रदान करने में सिगमंड फ्रायड (१८५६-१९३९ ई०) की मनोवैज्ञानिक खोजों ने विशेष सहायता प्रदान की।

हम अपने मन की सभी प्रकार की वृत्तियों तथा अपने सभी आवेगों को समाज के बंधन के कारण रोके रखते हैं, विशेष रूप से इसलिए कि इनके प्रदर्शन करने पर समाज हमारा तिरस्कार न करे। फ्रायड ने इन आंतरिक निषेधों को, जो हमें अपने बहुत से आवेगों को खुली छूट देने से रोकते हैं, 'सेंसर' की संज्ञा दी है। उनके अनुसार हास्य सेंसर को ठगने का एक साधन है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक मेक्डूगल (१८७१-१९३८ ई०) का कहना है कि मनुष्य सहानुभूतिशील प्राणी है। तनिक-तनिक-सी बात पर वह दुःखी हो उठता है। प्रकृति ने उसे दुःख से बचाने के लिए हास्य की योजना की है। किसी ऐसे अनिष्ट से, जिस पर रोना हम व्यर्थ समझते हैं, हँसी का उद्रेक होता है। हम यह जानते हैं कि यदि हम नहीं हँसते तो यही अनिष्ट हमारे लिए कष्टप्रद सिद्ध होता है।[१]

इस सिद्धांत के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि सभी प्रकार की हँसी का मूल वेदना नहीं होती। समाज में वेदना-शून्य हास्य भी हो सकता है। इसलिए इस सिद्धांत को पूर्ण नहीं कहा जा सकता परंतु इतना निश्चित है कि इस सिद्धांत की पृष्ठभूमि में अनेक रोमांसवादी कवियों के भाव कार्य करते हैं।[२]

यांत्रिक क्रिया—पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विवेचित हास्य का प्रकरण फ्रांसीसी विद्वान् बर्गसाँ के उल्लेख के बिना अधूरा ही रहेगा। बर्गसाँ (१८५९-१९४१ ई०) ने हास्य को परिभाषा में बाँधने के स्थान पर इस बात की खोज की कि हँसी क्यों आती है? उनके अनुसार हास्य के आलंबन को समाज-प्रिय (श्रद्धेय, श्रद्धाभाव समन्वित) नहीं होना चाहिए; हँसी उड़ाए जाने का उसे ज्ञान नहीं होना चाहिए एवं घटना, शब्दावली और पात्र में यांत्रिक-क्रिया (Automatism) आवश्यक है। डा० गुलाबराय ने शारीरिक यांत्रिक क्रिया का एक सुंदर उदाहरण दिया है—"फोन पर एक पुलिस इंसपेक्टर महोदय बात कर रहे थे। दूसरे

---

१. Some maladjurtment, Something inappropriate, which would displeasc us if we did not laugh at it. William Mc Dougall, Argument of Laughter p. 144

२. Our sincerest laughter with some pain in fraught.—Shelley
"To a skylark" from Palgravis Golden Treasury Book IV

छोर पर एक सुपरिंटेंडेंट साहब ने कहा कि मैं एस० पी० बोल रहा हूँ। तुरंत इंसपेक्टर साहब का हाथ ऊपर उठकर फौजी मुद्रा में हो गया।"[१]

हम क्यों हँसते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्न विद्वानों के मतों से इतना अवश्य ही स्पष्ट होता है कि हास्य के मूल में कहीं न कहीं असंगति या वैषम्य अवश्य विद्यमान है।

हास्य के विभिन्न भेदोपभेदों में विनोद (ह्यमर) और व्यंग्य (सेटायर) दो भिन्न कोटि के भाव हैं परंतु इनमें कहीं न कहीं संबंध भी है।

विनोद करुणासिक्त हास है, सजलहास है, मुक्तहास है। इसमें आलोचना, उपहास तथा जुगुप्सा के लिए अवसर नहीं। यह हास्य हृदयहीनता का हास्य नहीं होता वरन् प्रहसनीय की दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति की हल्की-सी रेखा लिए रहता है। जहाँ हास्य में ममता रहती है, जिस पर हम हँसें वह हमारा प्रिय भी हो, ऐसा हास ही विनोद है। जार्ज मेरिडिथ ने लिखा है कि हास्यास्पद की हँसी उड़ाने तथा उससे प्रेम करने में संतुलन नहीं खोना चाहिए। जिसकी हँसी उड़ायी जाए, उससे प्रेम भी किया गाए।[२]

विनोद का कोई निहित लक्ष्य नहीं। उसका उपयोग सामाजिक अवगुणों के संशोधन के लिए नहीं होता। यह केवल आत्मनिवेदन है। यह उस शिक्षक की भाँति नही जो अपने विद्यार्थियों के सन्मुख प्रतिदिन नैतिकता के विषय पर तर्कपूर्ण भाषण करता है और अनैतिक कार्यों को देखकर क्रोध और भर्त्सनापूर्ण शब्दों का प्रयोग करता है। श्रेष्ठ विनोद मैत्री का पोषक और वैमनस्य का शोषक होगा। वास्तव में विनोद मानसिक आनंद का अमरकोष है।

व्यंग्य का स्वरूप-विवेचन

मेरिडिथ ने व्यंग्य के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि यदि आप हास्यास्पद का इतना मजाक उड़ाते हैं कि उसमें आपकी दयालुता समाप्त हो जाए तो आपका हास्य-व्यंग्य की कोटि में आ जाएगा।[३]

प्रो० जगदीश पाण्डेय ने व्यंग्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है, "जब हास्य विशुद्ध आनंद या रंजन की भावना को छोड़कर प्रयोजननिष्ठ हो जाता है, वहाँ वह उपहास (व्यंग्य) का मार्ग पकड़ लेता है। हास्य के आलंबन के प्रति तिरस्कार, उपेक्षा या भर्त्सना की भावना लेकर बढ़ने वाला हास्य उपहास कहलाता है।"[४]

इस प्रकार व्यंग्य किसी व्यक्ति, समाज, संस्था अथवा समूह की दुर्बलताओं तथा उनके दुर्गुणों का उद्घाटन करता है, उन पर आक्षेप करता है। इसका लक्ष्य केवल हँसाना मात्र नहीं होता वरन् इसका अभिप्राय किसी वस्तु का विरोध करना भी होता है।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने व्यंग्य की प्रयोजन निष्ठता को प्रकट करते हुए लिखा है कि "सच्चा

---

१. **हिंदुस्तान-व्यंग्यविनोद विशेषांक, २८ मार्च १९५४, रसराज हास्य और उसके विभिन्न रूप।**
२. Meridith, An Essay on comedy, p. 134
३. Meridith, An Essay on comedy, p. 133
४. **हास्य के सिद्धांत और मानस में हास्य, पृ० १०१।**

व्यंग्यकार समाज की कुरीतियों को सही रूप में देखता है और अपने व्यंग्यबाण से उसे वेधता रहता है। उसका उद्देश्य समाज का परिशोधन होता है। वह व्यक्ति को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता बल्कि उन छिछली मान्यताओं का पर्दाफाश करता है जिसमें औसत या उसके नीचे का मनुष्य उलझकर असत् आचरण से विरत होने के प्रलोभन का शिकार होता रहता।[१]

व्यंग्यकार प्रायः छिपकर प्रहार करता है अतः व्यंग्य करते समय वह सुरक्षित रहता है। उसके वाक्य से दुहरे अर्थ की प्रतीति होती है। अतः वह आहत से यह कह सकता है कि मैं आप पर नहीं वरन् किसी अन्य पर प्रहार कर रहा हूँ। परंतु व्यंग्य खतरे से खाली नहीं है। तनिक सी देर में ही यह अश्लीलता की परिधि में आ सकता है और साधारण व्यवहार की सीमा का उल्लंघन कर सकता है।

साधारण रूप से व्यंग्य को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—एक विषाक्त और दूसरा मधुर। विषाक्त में व्यंग्य कठोर होकर विषैले बाण जैसा आक्रमण करता है जबकि मधुर में विनोद अथवा मीठे कटाक्ष से लज्जित। एक में विरोध की भावना होती है तो दूसरे में मीठी मार। श्रेष्ठ व्यंग्य में परिहास और आलोचना दोनों का समन्वय होता है। रिचर्ड गारनेट के अनुसार हास्य के बिना व्यंग्य गाली के समान है।[२] यदि व्यंग्य में केवल बैर या शत्रुता होगी तो उसमें इतनी हिंसा आ जाएगी कि हँसी के कहीं दर्शन न होंगे। इसलिए व्यंग्य का रूप हास्य मिश्रित होना चाहिए क्योंकि मखौल उड़ाकर किसी के हृदय को दुःखाया जा सकता है परंतु व्यंग्यात्मक हास्य द्वारा त्रुटि बताकर भी व्यंग्य के आलंबन के हृदय को दुखाया नहीं जाता वरन् वह स्वयं ही अपनी गलती का अनुभव करके अपने किए पर जी खोलकर हँसता है और अपने को सुधारने का प्रयत्न करता है। किसी भी व्यंग्यात्मक-हास्य-लेखक को यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि उसका उद्देश्य स्वस्थ टीका-टिप्पणी को हास्य के आवरण में लपेटकर इस प्रकार प्रस्तुत करना है जिस प्रकार रोगी को स्वास्थ्यलाभ के लिए 'शुगर कोटेड कुनैन' दी जाती है।

व्यंग्य किसी व्यक्ति-विशेष को लक्ष्य करके न किया जाए। व्यंग्य के प्रत्येक दर्शक या श्रोता को ऐसा आभास होना चाहिए कि यह व्यंग्य उसी को लक्ष्य करके किया जा रहा है।

व्यंग्य का क्षेत्र केवल वर्तमान होता है। वर्तमान पर किया गया व्यंग्य उपयोगी और प्रभावकारी होता है। किसी मृत व्यक्ति पर किए गए व्यंग्य को हम श्रेष्ठ नहीं मानते। इस दृष्टि से अतीत व्यंग्य की सीमा से बाहर आ जाता है। भविष्य के लिए भी वर्तमान स्थिति का आश्रय लेना होता है। इसलिए वर्तमान रूढ़ियों, समस्याओं और व्यक्तियों पर किया गया व्यंग्य ही श्रेष्ठ होता है।

हास्य और व्यंग्य में अंतर

हास्य और व्यंग्य के विवेचन के अनंतर यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि व्यंग्य भी हास्य का एक अंग है तथापि दोनों में कुछ ऐसे मूलभूत अंतर हैं जिनकी ओर दृष्टिपात करना परमावश्यक है।

व्यंग्य की प्रयोजननिष्ठता स्पष्ट है। कोई भी व्यंग्यकार समाज की कुरीतियों, असंगतियों, धार्मिक पाखंडों, आडंबरों, मिथ्याचारों, राजनीतिक भ्रष्टाचार आदि को अपना लक्ष्य बनाकर व्यंग्य का प्रयोग करता

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, बेढब बनारसी अंक, जनवरी ६९, पृ० २२।

२. Encyclopedia Britannica, 14th Edition.

है। इस प्रयोग में प्रहार की भावना स्पष्ट रूप से निहित रहती है और उद्देश्य इन बुराइयों को समाप्त करना होता है परंतु हास्य का कोई प्रयोजन अथवा लक्ष्य नहीं होता। इसमें मात्र आनंद की भावना प्रधान होती है। समाज-सुधार इसका उद्देश्य नहीं होता।

हास्य में जहाँ सहानुभूति की स्निग्धधारा प्रवाहित होती रहती है वहाँ व्यंग्य, घृणा, क्रोध, विरोध आदि प्रदर्शित करने का अस्त्र मात्र है। कई बार व्यंग्य का अनुचित प्रयोग करके लेखक इतनी मार्मिक, तीखी और कटु आलोचना करता है कि श्रोता-पाठक तिलमिला उठता है। उसमें सहानुभूति, दया, उदारता के भाव समाप्त हो जाते हैं, यहाँ तक कि व्यंग्य निंदा की सीमा तक आ जाता है। परंतु हास्य में असहिष्णुता अथवा तिरस्कार नहीं होता। यह हृदयहीनता का हास्य नहीं होता वरन् प्रहसनीय की दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति की हल्की-सी रेखा लिए रहता है। जार्ज मेरिडिथ ने तो हास्य के आलंबन के प्रति करुणा होन भी आवश्यक माना है।[१]

हास्य का उद्देश्य मनोरंजन और आनंद है तो व्यंग्य मूलतः हास्यात्मक प्रहार है जो तीखी चोट करता है। हास्य के लिए हास्य की भूमिका बनाई जा सकती है परंतु व्यंग्य के लिए व्यंग्य की भूमिका वैमनस्य में परिवर्तित हो सकती है। हास्य सहज व्यक्तित्व का विकसित रूप है तो व्यंग्य गंभीर व्यक्तित्व का तीखा स्वभाव। हास्य मन का विलास है तो व्यंग्य मन की प्रहार आयोजना। एक में मीठापन है तो दूसरे में चरपराहट।

हास्य-व्यंग्य का संबंध

हास्य और व्यंग्य के पारस्परिक अंतर को देखकर मन में ऐसी धारणा बन सकती है कि इन दोनों का परस्पर संबंध नहीं हो सकता, दोनों का प्रयोग और व्यवहार-क्षेत्र अलग-अलग है क्योंकि एक मीठी शक्कर है तो दूसरी कुनैन की कड़बी गोली। कड़बे-मीठे का क्या साथ? परंतु ऐसी धारणा नितांत भ्रमपूर्ण है।

हम यह मानते हैं कि हास्य का व्यापार आनंद प्रदान करना है। हम अपनी निराशा और व्यथित भावना का निराकरण करने के लिए हास्य का आश्रय ग्रहण करते हैं। परंतु हर समय बिना किसी कारण हँसने वाले व्यक्ति को हम पागल की संज्ञा देते हैं। ऐसा हास्य अनुपयोगी श्रेणी में गिना जाता है और परिपक्व बुद्धि का कोई व्यक्ति उससे लाभ नहीं उठा सकता।

दूसरी ओर व्यंग्य का लक्ष्य समाज-सुधार है। इस व्यंग्यकार समाज की गंदगी और सड़ांध को दूर करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। परंतु यह कार्य इस प्रकार किया जाए कि दूसरों पर उसकी छीटें पड़ें या व्यक्ति मुंह सिकोड़ने लगें तो सफाई करने का यह ठीक ढंग नहीं होगा अर्थात् यदि समाज-सुधार की भावना से किया गया व्यंग्य निंदा की कोटि तक पहुँच गया है तो उसका उतना अधिक सौम्य प्रभाव नहीं पड़ेगा जितना सरलता और सादगी से समझाने पर पड़ेगा। एक बात और भी है। हास्य और व्यंग्य दोनों को ही समझने वाले बौद्धिक वर्ग के व्यक्ति होते हैं। इसलिए कोई भी वर्ग निंदा सहन नहीं करेगा और परिणाम परस्पर कटुता और शत्रुता में बदल जाएगा।

हास्य को हम शक्कर के समान मीठा मानते हैं परंतु केवल मीठे का प्रयोग भी हमारे स्वास्थ्य के लिए

---

१. Meridith, An Essay on comedy, p 137

हानिकर होगा, दूसरी ओर जूड़ी को दूर करने वाली कुनैन की कड़वी गोलियाँ भी सीधे ढंग से निगलना कठिन होता है अत: मेरे विचार से यदि समाज की जूड़ी को दूर करने के लिए व्यंग्य रूपी कुनैन की गोलियाँ हास्य की शर्करा में लपेटकर खिलाई जाएं तो बिना किसी कष्ट के समाज व व्यक्तियों का कल्याण होगा।

महात्मा कबीर ने अपने काव्य में समाज पर तीक्ष्ण व्यंग्य प्रहार किए हैं। यहाँ तक कि उनकी चोटें भीगे कपड़े से भी अधिक कठोर हो गई हैं। परंतु क्या हम उनके इतने तीक्ष्ण व्यंग्यों को पचा पाए? यदि कबीर ने अपने इन व्यंग्यों को हास्य के आवरण में लपेटकर समाज को दिया होता तो उसका रूप आज दूसरा ही होता।

वास्तव में वही व्यंग्य श्रेष्ठ होता है जिसका आलंबन भी उस पर हँस दे और बुरा न माने। व्यंग्य इस प्रकार का होना चाहिए जिस प्रकार खुजली जो हाथ को काटती हुई सी लगती है परंतु काटती नहीं। मनुष्य को अनुभव होता है कि कोई चीज धीरे-धीरे उसके हाथ को काट रही है तो भी उसे उस कटन में आनंद का अनुभव होता है। इसी प्रकार के व्यंग्य से मनुष्य और समाज का सुधार हो सकता है।

उपसर्ग अनुशीलन

डॉ० आनन्दस्वरूप पाठक

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी० एच डी०, साहित्यरत्न साहित्याचार्य

शब्दों में विशिष्ट अर्थों तथा अर्थच्छायाओं (Shades) को निहित करने वाला प्रमुख कारक (Factor) उपसर्ग है। उपसर्ग शब्द, उप उपसर्गपूर्वक सृज् धातु में घञ् प्रत्यय का योग करने से बना है, इसका अर्थ निकट छोड़ा हुआ होता है। संस्कृत में उपसर्ग के लिए गि (देवनंदिन) प्रादि (चन्द्र) और उपेन्द्र (हरिनामामृत व्याकरण, जीव गोस्वामी) शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार उपसर्ग अव्यय का एक भेद है जिसका प्रयोग धातु के पूर्व किया जाता है। पाणिनी का "उपसर्गाः क्रियायोगे" और वार्तिककार का "क्रियाविशेषकः उपसर्ग" इसी तथ्य के परिचायक हैं। उपसर्गों के प्रयोग से धातु के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। निम्नलिखित पंक्तियों में यही भाव सोदाहरण व्यक्त किया गया है :—

"उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहार संहार विहार परिहारवत्॥"

यास्क के मतानुसार भी उपसर्ग अर्थविशेष के आधानकर्ता हैं :—

"आख्यातमुपगृह्यार्थं विशेषनिभे तस्यैव सृजन्तीत्युपसर्गाः॥"

शाकटायन के धातुपाठ में उपसर्गों के निम्नलिखित तीन कार्य बतलाये गये हैं :—

"धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित्तमनुवर्तते।
तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गस्त्रिधा गतिः॥"

वर्द्धमान (१) धात्वर्थ में परिवर्तन (२) धात्वर्थ का अनुवर्त्तन (३) धातु के अर्थ में विशिष्ट अर्थ का द्योतन तथा (४) उपसर्ग का निरर्थक प्रयोग, ये चार उपसर्ग के कार्य मानते हैं, जैसा कि उनकी इस कारिका से सुस्पष्ट है :—

"धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित्तमनुवर्तते।
तमेवविशिनष्टयोऽनर्थकोन्यः प्रयुज्यते॥"

उपसर्गों के कार्य से ही सम्बन्धित प्रश्न उपसर्गों के अर्थों का है। उपसर्गयुक्त विविध अर्थवान शब्दों को देखकर इस शंका का उत्पन्न हो जाना सहज ही है कि उपसर्ग स्वयं अर्थवान होते हैं अथवा नहीं। यही प्रश्न संस्कृत वैयाकरणों के समक्ष भी उपस्थित हुआ था और वे किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। शाकटायन, भर्तृहरि कैयट तथा नागेशभट्ट के मतानुसार उपसर्गों का अपना कोई अर्थ नहीं होता है किन्तु गार्ग्य और यास्क उपसर्गों को अर्थयुक्त मानते हैं। शाकटायन का अभिमत है कि उपसर्ग स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त होकर किसी अर्थ का प्रकाशन नहीं करते हैं वे सर्वदा आख्यातों के साथ ही प्रयुक्त होते हैं अतएव उनका अपना कोई अर्थ नहीं है। स्पष्ट शब्दों में इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि उपसर्ग अर्थ के द्योतक हैं वाचक नहीं हैं। उपसर्ग जिन क्रियाओं के साथ प्रयुक्त होते हैं उन्हीं के अर्थों को द्योतित करते हैं, स्वयं किसी ऐसे अर्थ का कथन नहीं

करते जो उस क्रिया से भिन्न हो जिसके साथ वे प्रयोग में लाए गये हैं। अतएव सुस्पष्ट है कि उपसर्ग के लगने से जिस अर्थ का प्रकाशन होता है वह उपसर्ग का अर्थ न होकर आख्यात का ही अर्थ होता है। उपसर्ग तो अर्थ का द्योतन उस प्रकार करते हैं जिस भाँति कि घर में रखा हुआ सामान दीपक द्वारा द्योतित होकर दृष्टिगत होने लगता है, परन्तु अन्धकार में भी वह सामान वहीं विद्यमान होता है। अतएव उपसर्गों को अर्थ का वाचक न मानकर शाकटायन ने द्योतक ही माना है। उनका मत है कि :—

"न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुः।"

नैरुक्त आचार्य गार्ग्य का अभिमत है कि नाम, आख्यात आदि पदों की भाँति उपसर्गों के भी स्वतंत्र अर्थ होते हैं, उपसर्ग अर्थ के वाचक हैं। उनका तर्क है कि आख्यातों में उपसर्गों के संयोग से जो अर्थभिन्नता आ जाती है वह उपसर्गों के वियोग से हट जाती है; अतएव अन्वयव्यतिरेक से वही उपसर्ग का अर्थ है। ऋक् प्रातिशाख्यकार भी उपसर्गों को अर्थ का वाचक ही मानते हैं। पदों की परिभाषा देते हुए उन्होंने उपसर्गों के इस पक्ष की ओर भी इंगित किया है :—

"क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्।
सत्वाभिधायकं नाम निपात पादपूरणम्॥"

और भी—**"उपसर्गो विशेषकृत"** (वाजसनेयी प्रातिशाख्य ८।५४)

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने उक्त दोनों मतों का उल्लेख करते हुए अपना यह मत व्यक्त किया है कि धातु और उपसर्ग मिलकर अर्थ का बोध कराते हैं। उपसर्ग धातु में शक्ति का आधान करते हैं अतएव उपसर्गों को सहकारी समझना चाहिए :—

"स वाचको विशेषाणां सम्भवाद् द्योतकोऽपि वा।
शक्त्याधानाय धातोर्वा सहकारी प्रयुज्यते॥" (वाक्य, २।१९०)

उपसर्गों को अर्थ के द्योतक मानने वालों का पक्ष प्रबलतर है। महाभाष्य में पतञ्जलि ने "गतिर्गतौ" सूत्र के भाष्य में यह स्पष्ट किया है कि धातु में ही उपसर्गों का अर्थ अन्तर्निहित रहता है, उपसर्ग उसे द्योतित करते हैं। "अनेकार्था हि धातवो भवन्ति" से भी यही ध्वनि निकलती है कि धातुपाठ में परिगणित अर्थों से इतर भी धातुओं के अर्थ होते हैं। उपसर्ग उन प्रच्छन्न अर्थों को मात्र द्योतित करते हैं।

गंगेश ने तत्वचिंतामणि में नैयायिकों के मत का निर्देश देते हुए उपसर्गों को अर्थ का द्योतक ही माना है। उन्होंने द्योतकता की व्याख्या करते हुए बताया है कि, इसका अर्थ तात्पर्यग्राहकता शक्ति है, 'स्था' धातु का अर्थ ठहरना है, उसी में 'प्र' उपसर्ग लगाने से प्रस्थान का अर्थ 'जाना' हो जाता है। वे इस अर्थ विपर्यय को उपसर्गों का द्योतकत्व या तात्पर्यग्राहकता शक्ति मानते हैं, उनका मत है कि 'स्था' धातु का 'गमन' भी एक अर्थ है। गंगेश का मत है कि :—

"उपसर्गास्तु द्योतकाः न वाचकाः।"

(तत्वचिंतामणि)

पाणिनी का सूत्र "अधिपरी अनर्थकौ" (अष्टा० १।४।९३) भी इसी बात को बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत करता है, अध्यागच्छति, पर्यागच्छति दोनों का अर्थ 'आता है' केवल इतना ही है, यहाँ उपसर्गों के प्रयोग से कोई अर्थान्तर नहीं हुआ है।

अर्थद्योतकत्व सिद्धान्त के प्रतिपादक शाकटायन का यह कथन कि उपसर्ग स्वतंत्ररूप में अर्थ का कथन

नहीं करते हैं लौकिक संस्कृत और हिन्दी आदि में सत्य है, पर वैदिक संस्कृत में उक्त कथन के अपवाद भी मिलते हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

"उद उत्तमं वरुण पाशम् अस्मद् अवाधमं विमध्यमं श्रथाय वयम् आदित्या व्रते तवानागसोऽदियते स्याम्"

इस मंत्र में उत् तथा अव् उपसर्ग ऊपर और नीचे खोलो अर्थ के वाचक हैं। यास्क गार्ग्य के मत के पोषक हैं, उन्होंने लिखा है कि उपसर्ग विविध प्रकार के अर्थों को प्रकृष्ट रूप से कहते हैं निरुक्त में यास्क ने अपना मत इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :—

"एवम् उच्चावचान् अर्थान् प्राहुः।"

संस्कृत में निम्नलिखित उपसर्ग माने गये हैं :—

"प्र, प्रा; अप, सम, अनु, अव, निस, निर, दुस, दुर, वि, आङ, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत; अभि, प्रति, परि, उप ।

संस्कृत में किसी आख्यात के पूर्व तीन उपसर्गों तक का प्रयोग होता है, किन्तु कतिपय उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें चार-चार उपसर्ग भी लगते हैं। जैसे :—

संव्यपाश्रित=सं+वि+अप+आ+श्रि

समभिव्याहरण—सम+अभि+वि+आ+हृ+अन्

कभी कभी एक उपसर्ग का भी एक ही शब्द में दो बार प्रयोग देखा गया है :—

प्र-प्रजनन उपोपवेशन

अध्यधिक्षेप अत्यतिक्रम

वस्तुतः संस्कृत और हिन्दी की उपसर्ग सम्बन्धी परिभाषा में पर्याप्त अन्तर है, इतना ही नहीं वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत की उपसर्ग सम्बन्धी मान्यताएँ भी पृथक्-पृथक् हैं। लौकिक संस्कृत के विषय में पाणिनी का नियम है "ते प्राग्धातो" (१।४।७९) अर्थात् उपसर्ग का प्रयोग धातु से अव्यवहित पूर्व में होना चाहिए। किन्तु वैदिक संस्कृत में ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ उपसर्ग का प्रयोग धातु से पृथक् हुआ है और ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ उपसर्ग का प्रयोग धातु के पश्चात् हुआ है महाभारत में भी ऐसे कतिपय प्रयोग मिलते हैं उदाहरण प्रस्तुत है :—

(क) पूर्व व्यवहित प्रयोग

तदेषाभि यज्ञगाथा गीयते (ऐतरेय ब्राह्मण ८।२१)
अधिविश्वे विषक्ता· (महा० आदि० ३।६२)
सर्वाण्यति च सैन्यानि भारद्वाजो व्यरोचयत् (महा०द्रोण० २३।८१)

(ख) पर व्यवहित प्रयोग

पश्यामस्त्रिषु लोकेषु न तं सं स्थास्नुचारिषु। (महा० द्रोण० १०।६८)

वैदिक भाषा में ऐसे उदाहरणों की बहुलता को देखकर पाणिनी ने "छन्दसि परेऽपि", "व्यवहिताश्च" (१।४।८०, ८१) इन दो सूत्रों की रचना की ओर उनके पर प्रयोग तथा व्यवहित प्रयोग को भी विहित माना है। लौकिक संस्कृत में वे उपसर्ग का प्रयोग नाम (संज्ञादि) के साथ भी करते हैं किन्तु उस स्थिति में

पाणिनी उन्हें उपसर्ग नाम से अभिहित नहीं करते हैं वे उन्हें निपात कहते हैं। यथा निर्बाराणसी (बाराणसी के बाहर गया हुआ) उपगु (गौ के समीप) प्राध्यापक (श्रेष्ठ अध्यापक) में प्रयुक्त निर, उप, प्र उपसर्ग न होकर पाणिनी के मतानुसार निपात है।

प्राचीन आर्यभाषा के वैदिक और लौकिक रूप दोनों में उपसर्गों पर विचार करने के उपरान्त भाषा के अग्रिम चरण मध्य भारतीय आर्य भाषा में जिसे प्राकृत और अपभ्रंश कहते हैं, उपसर्गों की स्थिति पर विचार करना अनिवार्य है। उनमें उपसर्गों का प्रयोग संस्कृत की भाँति केवल क्रियाओं के साथ ही सीमित न रह कर अन्य संज्ञादि पदों के साथ होने लगा था संस्कृत की भाँति ही प्राकृतों में भी उपसर्ग अव्ययों के भेद के रूप में माने जाते रहे। उनमें अर्थ के विभिन्न भावों का द्योतन इनका कार्य रहा है। पालि में उपसर्गों की संख्या बीस है। वे इस प्रकार हैं :—

प, परा, नि, नी, उ, दु, सं, वि, अव, अनु, परि, अभि, अधि, पति, सु, आ, अति, अपि, अप, उप,

अन्य प्राकृतों में भी प्रायः ये ही उपसर्ग प्रयोग में लाए जाते हैं।

हिन्दी को उपसर्गों का रिक्थ अपनी सभी पूर्वज भाषाओं से प्राप्त हुआ है किन्तु उस रिक्थ को हिन्दी के अनुकूल बनाकर सौंपने का श्रेय अपभ्रंश को ही है। अपभ्रंश में निम्नलिखित उपसर्ग हैं जिनका पूर्व प्रयोग क्रिया और संज्ञादि (नाम) के साथ होता है :—

प, परा, अव, (अप) अप, सं, अणु, अव, निर, नि, णि, दू, दु, वि, अ, आ, अहि, (अधि) अइ, सु, उ, ऊ, अहि, (अभि) पडि, परि, उव, उ (उप) अ सम्परिवर्तक अण।

हिन्दी में उपसर्गों की परिभाषा तथा संख्या दोनों में ही पर्याप्त विशेषता का समावेश हुआ है। भाषा-शास्त्र के विकास के युग में हिन्दी में उपसर्गों की भाषाशास्त्रीय परिभाषा इस प्रकार है :—

"शब्द के जिस अंश में स्वतंत्र अस्तित्व द्योतक कोई अर्थ नहीं होता और वाक्य में स्वतंत्रतापूर्वक प्रयुक्त होने की क्षमता जिनमें नहीं होती तथा जो प्रकृति (मूल प्रकृति, अथवा व्युत्पन्न प्रकृति अथवा पद प्रकृति) के आश्रय से उसके पूर्व आकर अर्थवान होते हैं उन्हें उपसर्ग कहते हैं।"[1]

हिन्दी में उपसर्गों के प्रयोग ने एक और नई दिशा ली, प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में जहाँ उपसर्गों का प्रयोग केवल क्रियाओं के साथ ही होता था वहाँ हिन्दी में उसका विपर्यय दृष्टिगोचर होता है हिन्दी की क्रियाओं के साथ प्रायः उपसर्गों का प्रयोग नहीं होता है। ऐसे उदाहरण अल्प हैं जहाँ हिन्दी की क्रिया में उपसर्ग लगता है। हिन्दी के संज्ञा, विशेषण, क्रियाविशेषण प्रातिपदिकों[2] के साथ तथा कतिपय धातुओं के साथ उपसर्ग का प्रयोग होता है। हिन्दी में निम्नलिखित २५ उपसर्ग हैं :—

उपसर्ग		शब्द
(१)	अ	अचाह, अचेत
(२)	अन	अनबन, अनमेल
(३)	अल	अलमस्त

---

१. हिन्दी में प्रत्यय विचार, उप्रेति, मुरारीलाल, पृ० २३।

२. प्रतिपदे स्थितं प्रातिपदिकं।

	उपसर्ग	शब्द
(४)	उ[1]	उबर, उबट
(५)	उ[2]	उथला, उनींदा
(६)	उन	उन्नीस, उन्तीस
(७)	औ	औगुन, औगढ़
(८)	कु	कुराज, कुराही
(९)	दर	दरअसल, दरहकीकत
(१०)	दु	दुराज, दुसह
(११)	नि	निडर, निकम्मा, निघड़क
(१२)	पर	परदादा, परनानी
(१३)	फिल	फिलहाल
(१४)	ब	बखूबी, बतौर
(१५)	बर	बरखिलाफ, बरकरार
(१६)	बहर	बहरहाल
(१७)	बा	बाकायदा, बावजूद
(१८)	बे	बेडोल, बेघड़क, बेखटके
(१९)	बै	बैराग, बैवर्ण
(२०)	ला	लावारिस, लाजबाब
(२१)	स	सजल, सपरिवार
(२२)	सब	सबरजिस्ट्रार
(२३)	सर	सरपंच, सरताज
(२४)	सु	सुकवि, सुजान, सुघड़
(२५)	हम	हमदर्द, हमराह

भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण, से, उपसर्ग ऐसे आबद्ध अंश हैं जिनका अपना स्वतंत्र अर्थ नहीं होता, किन्तु उपसर्ग को अर्थ का वाचक मानने वालों के अनुसार तो निम्नलिखित भी उपसर्गों के अन्तर्गत आते हैं—

	उपसर्ग	शब्द
(१)	अध	अधबुना, अधकच्चा
(२)	ऐन	ऐनवख्त, ऐनमौका
(३)	कम	कमअक्ल, कमउम्र, कमसिन
(४)	खुश	खुशदिल, खुशहाल, खुशकिस्मत
(५)	गैर	गैरमुल्क, गैर लोग
(६)	ना	नापसंद
(७)	बद	बदनाम, बदकिस्मत, बदमिजाज

उपसर्ग	शब्द
(८) बिन	बिनजान, बिनमौके
(९) बिला	बिलाकसूर
(१०) भर	भरपेट
(११) हर	हरसाल

हिन्दी की कुछ क्रियाओं में भी उपसर्गों का पूर्व प्रयोग होता है, कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

क्रिया	उपसर्ग युक्त शब्द
चल	अचल
टल	अटल
समझ	अनसमझ
गढ़	सुगढ़

हिन्दी में कतिपय शब्द ऐसे भी हैं जिनमें उपसर्ग का प्रयोग मूलरूप में ही होता है उपसर्ग वियुक्त शब्द का प्रयोग होता ही नहीं हैं। जैसे—

निपूता—नि+पूता
बेचैनी—बे+चैनी
दुबला—दु+बला
उथला—उ+थला

इनके पूता, चैनी, बला और थला का स्वतंत्र प्रयोग कहीं भी भाषा में दृष्टिगत नहीं होता है।

संस्कृत के कुछ तत्सम शब्द ऐसे हैं जिनका हिन्दी में स्वतंत्र प्रयोग नहीं किया जाता है। उनका प्रयोग हिन्दी भाषा में उपसर्गवत् ही होता है। जैसे—

अधः—अधः पतन	अधः+पतन
अधोगति	अधः+गति
प्राक्—प्राक् कथन	प्राक्+कथन
प्रागैतिहासिक	प्राक्+ऐतिहासिक
अंतर—अन्तरराज्यीय	अन्तर+राज्यीय
अन्तरप्रान्तीय	अन्तर+प्रान्तीय
बहु—बहुप्रचलित	बहु+प्रचलित
बहुचर्चित	बहु+चर्चित
बहुविवाह	बहु+विवाह

एक उपसर्ग कभी प्रशंसा का अर्थ देता तो कभी वही कुत्सार्थक बन जाता है। जैसे—

अभिकथन (allegation)	कुत्सार्थक
अभिभाषण	प्रशंसार्थक

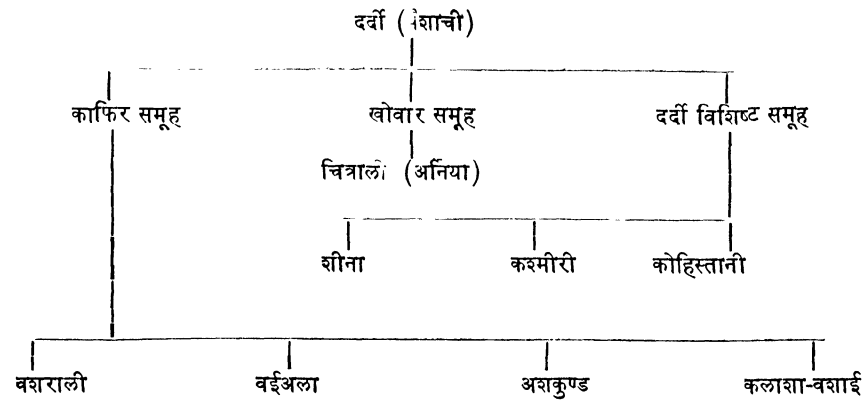
निष्कर्षतः संस्कृत से आगत उपसर्गों की परम्परा में अनेक परिवर्तन परिवर्धन और विकास हुए हैं जो बहुविध हैं। विश्लेषण के उपरान्त इनके अद्यावधि प्रच्छन्न अनेक आयामों पर आलोक प्रक्षेप कर विद्वान् ज्ञान के क्षेत्र को विस्तीर्ण कर सकते हैं। ●

कश्मीरी भाषा और लिपि

डा० कृष्णा रैणा

एम. ए., पी.-एच. डी.

कश्मीर को 'कशीर' और यहाँ की भाषा को 'कोशुर' कहा जाता है। कश्मीरी भाषा मुख्यतः कश्मीर घाटी में बोली जाती है, इसके बोलने वालों की संख्या लगभग १५ लाख है। प्रो० पृथ्वीनाथ 'पुष्प' के मतानुसार इस भाषा के लिए कश्मीरी नाम का सर्वप्रथम उल्लेख अमीर खुसरो की 'तुहसिपिन्ह' में मिलता है परन्तु कश्मीर में १७वीं शती तक इसे 'देशभाषा' या 'भाषा' नाम से ही सूचित किया जाता रहा।[1] कश्मीरी भाषा कब और कैसे प्रचलित हुई, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार कश्मीरी वास्तव में एक 'दरद' भाषा है परन्तु इसके दक्षिण में बोली जाने वाली भारतीय आर्य भाषाओं ने इसे अत्यधिक प्रभावित किया है। कश्मीर प्रदेश दो सहस्र वर्ष तक संस्कृत भाषा का मुख्य केन्द्र रहा है; अतः यहाँ की भाषा पर संस्कृत का प्रभाव स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि कश्मीरी की शब्दावली संस्कृत से मिलती-जुलती है जिसके फलस्वरूप कुछ लोग इसे भ्रमवश संस्कृत से निकली हुई भाषा मानते हैं वरन् यह एक दर्दी भाषा है।[2] दर्दी भाषा या पैशाची हिन्द-ईरानी की एक उपशाखा है। इस भाषा का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच पड़ता है। भाषा गठन की दृष्टि से यह ईरानी और भारतीय आर्य के मध्यमार्ग



१. हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम खण्ड, सं० २०१५ वि०, पृ० २१०।

२. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, वा० ८, भाग २, ग्रियर्सन, संस्करण १९१९, पृष्ठ २५३।

की है।[1] दर्दी या पैशाची भाषाओं के कई समूह हैं—काफिरी, खोवारी और दर्दी विशिष्ट। इनकी कई उपशाखाएँ हैं। काफिरी समूह की उपभाषाएं वशराली, वईअला, अशकुण्ड और कलाशा वशाई है। खोवारी में चित्राली या अंनिया आती हैं। दर्दी विशिष्ट में शीना, कश्मीरी और कोहिस्तानी आती हैं। यह निम्न विभाजन से और स्पष्ट होता है :—

प्रो० पुष्प कश्मीरी की दरद परिवार की सन्तान बताना युक्तियुक्त नहीं मानते हैं। उनके अनुसार ग्रियर्सन के मत का समर्थन कम हो पाता है विशेषकर क्रियापदों और सर्वनाम की दृष्टि से प्रो० पुष्प निम्न तथ्य प्रस्तुत करते हैं :—

१. कश्मीरी क्रियापदों का विकास एक ऐसी संश्लेषण पद्धति पर होता रहा है जो भारत की दूसरी आधुनिक भाषाओं में प्रचलित नहीं है जैसे 'हावुन' (दिखाना) के भिन्न रूप देखने से स्पष्ट होता है।

२. कश्मीरी भाषा में जो घोष-महाप्राण ध्वनि का अभाव है वह सिन्धी और पश्तो में भी मिलता है।

३. बिल्हण, कल्हण, शितिकण्ठ और श्रीवर आदि की साक्षियों से स्पष्ट होता है कि कश्मीरी भाषा भी उन्हीं परिस्थितियों और प्रभावों का परिणाम है जिनसे गुजराती, मराठी, बंगला, हिन्दी और उर्दू का विकास हुआ है।

प्रो० पुष्प अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संभवतः कश्मीरी का उद्गम वह पैशाची है जिसे ब्राह्मण ग्रन्थों में उदीच्य कहा गया है।[2] डा० सुनीतिकुमार चाटुर्जा कश्मीरी को भारतीय आर्य समूह की भाषा नही, वरन् एक दर्दी भाषा मानते हैं।[3] इस दर्दी समूह की भाषाएँ भारत के सुदूर पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश तथा भारत अफगान के उत्तर-पश्चिम में बोली जाती है। इनके तीन वर्ग हैं :—

१. कश्मीरी, शीना और कोहिस्तानी

२. खोवार चित्राली

३. कलाशा, गवरबत्ती, परी, लघमानी, दीरीतिराही, वै, वासी, वेरी, अशकुन्द आदि ग्रियर्सन ने इन भाषाओं एवं बोलियों के समूह को एक स्वतंत्र समूह माना है और भारतीय ईरानी को तीन भागों में विभाजित किया है—

१. पश्चिम की ईरानी

२. पूर्व की भारतीय आर्य

३. उत्तर में दर्दी भाषाएँ।

दर्दी भाषाएँ भारतीय आर्य की अपेक्षा ईरानी कुल के निकटतर हैं जिनका विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है। केवल हिन्दू एवं बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण कश्मीरी भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध हिन्दू भारत तथा उसकी संस्कृत भाषा से रहा है। दर्दी भाषाओं के ध्वनि एवं रूप तत्व की मूल भावना भी भारतीय आर्य संस्कृत से भिन्न है और बर्बर बोलियों के रूप में उनका इतिहास भी भिन्न है। अतएव इन्हें मुख्य भारतीय आर्य समूह से

---

१. कश्मीर का लोक-साहित्य, मोहनकृष्ण दर, सं० १९६३, पृ० ४१।

२. कश्मीरी भाषा और साहित्य, सं० १९५६ ई०, पृ० २।

३. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, द्वितीय संस्करण १९५७, पृ० १३६।

भिन्न गिनना ही युक्तियुक्त होगा।[1] कश्मीरी भाषा का उद्भव इबरानी से भी माना जाता है।[2] मान्यता यह है कि प्राचीन समय में यहूदियों का समूह अपने देश सीरिया से निकलकर यहाँ आ बसा था, यह समूह अपने साथ अपनी भाषा भी लाया था इनके अनुसार कश्मीरी में किसी पुरुष के नाम के साथ आदरसूचक जो "जू" शब्द जैसे रामजू, लालजू, मानजू आदि लगाया जाता है वह यहूदियों की भाषा का ही प्रभाव है क्योंकि जू (Jew) यहूदियों को ही कहते हैं परन्तु यह कोई दृढ़ आधार नहीं है। 'जू' शब्द ब्रजभाषा में भी प्रयुक्त होता है। श्री अमल सरकार ने भी कश्मीरी को दर्द परिवार की भाषा माना है।[3] जब तक कोई अन्य मत दृढ़ आधार प्रस्तुत न करे तब तक ग्रियर्सन मत का ही समर्थन करना उचित है। भौगोलिक सीमा समीप होने के कारण कश्मीरी भाषा और रूसी भाषा में कई शब्द एक समान हैं जैसे 'समावार' आदि।

कश्मीरी भाषा के विकास के चिह्न १२वीं शताब्दी से ही प्राप्त होते हैं। प्रसिद्ध कश्मीरी इतिहासकार कल्हण ने सन् ११५० के लगभग 'राजतरंगिणी' की रचना की है, जिसमें कल्हण ने यहाँ के तीर्थ और नदियों के संस्कृत नाम न देकर कश्मीरी प्रचलित नामों का उल्लेख किया है। राजतरंगिणी में लिद्दर, तुलमुला, दिगोम, खोनमुह आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है जो उसी रूप में आज भी प्रचलित हैं। इससे स्पष्ट है कि १२वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही कश्मीरी भाषा का विकास हो चुका था।

१. कश्मीरी भाषा की प्रमुख विशेषताएँ :—कश्मीरी एक संयोगात्मक भाषा है। शब्दों में सुर की भिन्नता के कारण अर्थ में भी परिवर्तन आता है :—

बर=दरवाज़ा।
बर्=दुःखी होना
ब'र=दरार
बुर=फर्श के रोम
बुर्=लकड़ी पर रन्दा देने से जो पतला छिलका उठता है।
बेर=मिट्टी की छोटी दीवार
बीर्अ=लकड़ी की गेन्द
बार=बोझ

२. अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा कश्मीरी भाषा की वर्णमाला में स्वरों की संख्या अधिक है। इसी कारण कश्मीरी को लिपिबद्ध करने में कठिनाई का अनुभव होता है। कश्मीरी भाषा की स्वर व्यवस्था जटिल है।

३. कश्मीरी भाषा में अनेकार्थवाची शब्दों का आधिक्य है—

(अ) खूर=नाई का उस्तरा
खूर=पाँव की एड़ी
खूर=नौका चलाने का चप्पू

---

१. वही, पृष्ठ १४५।
२. 'तामीर' पत्रिका, अंक अक्टूबर १९५७ तथा जनवरी १९५८।
३. हैण्ड बुक आफ लैंगवेजिज एण्ड डाइलैक्टस ऑफ इंडिया, अमल सरकार, सं० १९६४, पृ० ६१।

खूर=कालीन बनाते समय आवश्यक यंत्र

(आ) ऑर=आलू बुखारा

ऑर=भूमि के अन्दर उगने वाली सब्जियों का कठोर भाग

ऑर=सर्प का कुंडलाकार में बैठना

ऑर=घास का विशेष गोलाकार

ऑर=लोहे का एक अस्त्र जो कलाकारों के काम आता है।

४. कश्मीर में हिन्दू और मुसलमान एक ही भाषा 'कश्मीरी' बोलते हैं परन्तु रूप दोनों के भिन्न हैं। हिन्दुओं की कश्मीरी में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है जैसे श्रान (स्नान), न्यशतुर (नक्षत्र), न्यन्दर (निद्रा), क्रूद (क्रोध), न्यरमल (निर्मल) आदि। मुसलमानों की कश्मीरी में फारसी शब्द जैसे ख़त, नज़र, हख, साफ़, ख़लथ आदि। यह भिन्नता शब्दावली तक ही सीमित नहीं है अपितु हिन्दुओं और मुसलमानों की कश्मीरी भाषा का उच्चारण भी भिन्न है जैसे :—

हिन्दू उच्चारण	मुसलमानी उच्चारण	अर्थ
ब्रोर	ब्योर	बिल्ली
क्रूर	क्यूर	कुआँ
पंछ	पांछ	पाँच
दह	दाह	दस
प्रार	प्यार	प्रतीक्षा करना
खारुन	खालुन	ऊपर लाना

स्पष्ट है कि मुसलमानों के उच्चारण में कठोर वर्णों का आधिक्य नहीं है।

५. साधारणतः जब एक भाषा की शब्दावली कोई दूसरी भाषा अपनाती है तो अपने प्रवाहानुकूल उन शब्दों की ध्वनि परिवर्तित होती है। कश्मीरी भाषा में भी ऐसे शब्दों की प्रचुरता है जिनका ध्वनि परिवर्तन हुआ है परन्तु मूल अर्थ वही है :—

मूल शब्द	कश्मीरी	हिन्दी अर्थ
आर्द्रः (संस्कृत)	ओदुर	गीला
एला (सं०)	ऑल	इलायची
कुलाल (सं०)	क्राल	कुम्हार
दन्तः (सं०)	दन्द	दान्त
गुर्ज़ (फारसी)	गरवंज	लकड़ी का चौखटा
मज़दूर (फारसी)	मजूर	नौकर
काग़ज़ (अरबी)	काकज़	कागज़

६. कश्मीरी वर्णमाला में एक वर्ण "च" का भी प्रयोग होता है जैसे चूर (चोर), चामन (पनीर), चोर (चार)। यह ध्वनि मराठी भाषा में भी है।

७. कश्मीरी भाषा में सघोष महाप्राण व्यंजन ध्वनियों का अभाव है अघोष महाप्राण का नहीं। वहाँ के उच्चारण में ख, छ, ठ, थ, और फ है परन्तु घ, झ, ढ, ध, भ नहीं।

कश्मीरी भाषा की लिपि

कश्मीरी भाषा की मूल लिपि शारदा लिपि है। इसमें लिखा प्राचीन कश्मीरी साहित्य आज भी उपलब्ध है। शारदा लिपि 'ब्राह्मी लिपि' से व्युत्पन्न है। उत्तरी ब्राह्मी को ही ईसा की चौथी शताब्दी में गुप्त लिपि की संज्ञा मिली और इसके अक्षरों तथा स्वरों की मात्राओं की कुटिल आकृतियों के कारण इसका नाम कुटिल रखा गया। इसका प्रचार छठीं से नवीं शताब्दी तक रहा। सी से नागरी और शारदा लिपियाँ निकली हैं।

कश्मीर प्रदेश की अधिष्ठात्री देवी शारदा मानी जाती है, जिससे यह स्थान 'शारदा देश' या 'शारदा-मण्डल' भी कहलाता है। कश्मीरी भाषा की लिपि भी शारदा लिपि कही जाती है। इसके प्राचीन शिलालेख दानपात्र, सिक्के तथा हस्तलिखित पुस्तकें उपलब्ध हैं। ईसवी सन् की ८वीं शताब्दी के राजा मेरुवर्मा के लेखों से यह ज्ञात होता है कि उस समय तक तो पंजाब में भी कुटिल लिपि का प्रचार था जिससे बाद में शारदा लिपि बनी। शारदा लिपि का सबसे प्रथम लेख सराहन (चम्बा राज्य) की प्रशस्ति है जिसकी लिपि १०वीं शताब्दी के आसपास की है। यही समय शारदा लिपि की उत्पत्ति का माना जा सकता है।

शारदा लिपि में विशेष ध्वनियों को अभिव्यक्त करने के लिए विशेष चिह्न हैं।[1] अतः कश्मीरी भाषा के लिए यह उपयुक्त लिपि है। शारदा और नागरी लिपि के कई वर्ण जैसे उ, ऊ, क, ढ, य और व एक समान हैं। शारदा लिपि की अपनी वर्णमाला है जिसमें सोलह स्वर और चौंतीस व्यंजन हैं।

पठानों के शासन काल में शारदा लिपि में लिखने पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। उसी समय से कश्मीरी के लिए फारसी लिपि का प्रचलन हुआ है। शारदा लिपि के लिए टंकन-यंत्र का अभाव है अतः इसमें प्रकाशन कार्य संभव नहीं है। आधुनिक युग में कश्मीरी जनता का अल्पांश ही इस लिपि से परिचित है। कश्मीरी भाषा को लिखित रूप देने के लिए शारदा के अतिरिक्त रोमन, फारसी और देवनागरी लिपि का भी प्रयोग होता है। ग्रियर्सन के अनुसार कश्मीरी स्वरों का क्रम बड़ा जटिल है। कई स्वर तीन या उससे भी अधिक रूपों में उच्चरित होते हैं जिसके लिए उन्होंने कुछ चिह्न भी बनाये हैं जिनकी व्याख्या उनकी ही पुस्तक में मिलती है।[2] श्री जियालाल कौल ने अपनी पुस्तक कश्मीरी लिरिक्स में रोमन लिपि को ही अपनाया है।

कश्मीरी साहित्य का अत्यधिक अंश फारसी लिपि में उपलब्ध है परन्तु उच्चारण की दृष्टि से यह लिपि भी उपयुक्त नहीं है। इस लिपि में वर्ण-संख्या कम है अतः चिह्नों का अधिक प्रयोग इसको जटिल बना रहा है। कहीं-कहीं इसमें मात्राओं का प्रयोग भी नहीं होता और पाठक को मस्तिष्क का सारा बल लगाकर उच्चारण स्वयं ढूंढना पड़ता है। कल्चर्ल अकादमी, कश्मीर से प्रकाशित प्रायः समस्त पुस्तकें इसी लिपि में उपलब्ध हैं।

कश्मीरी भाषा के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग कश्मीर के राजा गुलाबसिंह के शासन-काल में हुआ। उस समय से लेकर कश्मीरी हिन्दू प्रायः इसी लिपि का प्रयोग करते हैं। फारसी और रोमन लिपि से देवनागरी लिपि कश्मीरी भाषा के लिए अधिक उपयुक्त है परन्तु शारदा का स्थान यह भी नहीं ले सकती है। आज तक देवनागरी लिपि के कश्मीरी भाषा में प्रयुक्त तीन रूप उपलब्ध हैं :—

---

१. ऐसे ऑन कश्मीरी ग्रामर, ग्रियर्सन, सं० १८९९, पृ० ३०।

२. ए मैन्युअल ऑफ दि कश्मीरी लैंग्वेज, भाग १, ग्रियर्सन, सं० १९११, पृ० १५।

१. श्री सिरीकण्ठ तोषखानी द्वारा निर्मित रूप।

२. श्री जियालाल कौल जलाली द्वारा निर्मित रूप।

३. रूपान्तर सभा द्वारा निर्मित रूप।

इन तीनों रूपों को देखने से ज्ञात होता है कि इनमें सरल को भी जटिल बनाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरी कठिनाई यह है कि टंकन-यन्त्र की दृष्टि से ये तीनों रूप उपयुक्त नहीं हैं। 'तुर' और 'तूर' को क्रमशः 'तु'र' और 'तू'र' लिखा जा सकता है। 'अग' का प्रयोग 'अग्छ' के लिए श्री जलाली महोदय ने 'अ' के साथ 'ग' की आधी मात्रा लगाकर किया है जिसको कश्मीरी से अपरिचित व्यक्ति 'अग्छ' ही पढ़ लेगा 'अ'छ' नहीं। इसी प्रकार श्री तोषखानी का लिखा हुआ 'दुद' साधारण 'द्वोद' लिखा जा सकता है और इसमें किसी विशेष चिह्न लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। चिह्नों के लिए अर्धविराम (,) और बिन्दु (.) का प्रयोग सरलतापूर्वक किया जा सकता है। उपर्युक्त कठिनाइयों को समाप्त करने के लिए कश्मीरी नागरी लिपि को निम्न रूप दिया जा सकता है :—

अ'	अ'छ	नेत्र
आ'	आ'स	मुख
तु'	तु'र	टुकड़ा
तू'	तू'र	शीत
द्वो	द्वोद	दूध
न्वो	न्वोश	बहू
ओ'	नोर'	बाजू
च़	च़ामन	पनीर
छ़	छ़ाय	प्रतिबिम्ब

यह पूर्व प्रयुक्त रूपों से सरल भी है और टंकन यन्त्र के अनुकूल भी है। इन चिह्नों के प्रयोग से कश्मीरी ध्वनियाँ व्यवस्थित और सरल ढंग से प्रस्तुत की जा सकती हैं।

कारक और विभक्ति की संकल्पना

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

एम. ए., डी. लिट्.

कारक शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है 'करनेवाला' √ 'कृ+ण्वुल्'=कारक। व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की दृष्टि से 'कारक' शब्द एक प्रकार से 'कर्त्ता' (√कृ+तृच्) शब्द का पर्यायवाची है। "विभक्ति" शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है 'विभाग' या 'हिस्सा'—वि+√भज्+क्तिन्=विभक्ति। किन्तु व्याकरणशास्त्र में 'कारक' और 'विभक्ति' नाम के पारिभाषिक शब्दों की संकल्पना तथा परिभाषा भिन्न है।

व्याकरण में 'कारक' और विभक्ति' शब्द बहुत प्राचीन काल से अपनी विशिष्ट परिभाषाओं के साथ तथा विशिष्ट संकल्पनाओं के साथ प्रयुक्त होते चले आये हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी (ई० पूर्व ३५० वर्ष) के कारकों और विभक्तियों के स्वरूप-विश्लेषण पर विचार करें तो पता चलता है कि पाणिनि अर्थपरक दृष्टि से ही 'कारक' शब्द को प्रयुक्त करता है। पाणिनि की दृष्टि में 'रामः हतवान्' वाक्य का 'रामः' पद ही कर्ताकारक नहीं है, अपितु 'रामेण हतो बाली' वाक्य का 'रामेण' पद भी कर्ताकारक है। इसीलिए पाणिनि ने अष्टाध्यायी में सूत्र लिखा—'कर्तृकरणयोस्तृतीया,' (अष्टा० २।३।१८) अर्थात कर्त्ता और करण कारकों में तृतीया विभक्ति होती है। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि—'रामेण बाणेन हतो बाली' वाक्य में 'राम' कर्ताकारक और 'बाण' करण कारक हैं, लेकिन विभक्ति दोनों की तृतीया ही है—राम+एन=रामेण। बाण+**एन**=बाणेन (**'एन**' विभक्ति है, 'रामेण' पद है) अर्थात् विभक्ति पद का वह रूपान्तर है जो किसी विभाजन को सूचित करता हैं। वैसे कुछ विभक्तियाँ ऐसी भी हैं जो शब्द रूप तो प्रकट करती है; किन्तु उस शब्द-रूप में कोई कारक भी हो, ऐसी बात सदैव संभव नहीं। "बालकस्य पिता अत्रास्ति" के 'बालकस्य' में षष्ठी विभक्ति तो है, किन्तु इस पद में कोई कारक नहीं है, क्योंकि इस कारक का सम्बन्ध क्रिया से अवश्य होना चाहिए—"क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्।" उक्त वाक्य में 'अस्ति' क्रिया है। इस 'अस्ति' से 'पिता' पद का तो सम्बन्ध है, लेकिन 'बालकस्य' का नहीं। हाँ 'बालकस्य' का सम्बन्ध 'पिता' से तो है। 'पिता' से बालक' के सम्बन्ध को 'स्य' सूचित कर रहा है। इसी आधार पर संस्कृत वैयाकरणों ने छह ही कारक माने हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण। विभक्तियों की संख्या सात मानी है। पाणिनि आदि वैयाकरणों के मतानुसार षष्ठी विभक्ति तो है, लेकिन 'सम्बन्ध' नाम का कोई कारक नहीं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में कौन सी विभक्ति किस कारक में आती है इसके लिए कुछ सामान्य सूत्र लिखे गये हैं:—

"प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा"—(अष्टा० २।३।४६) (प्रातिपदिक का अर्थ, लिंग, परिमाण या वचन बतलाने के लिए प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है)।

"कर्मणि द्वितीया"—(अष्टा० २।३।२) (कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति आती है)।

"चतुर्थी संप्रदाने"—(अष्टा० २।३।१३) (संप्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति आती है)।

"अपादाने पंचमी"—(अष्टा० २।३।२८) (अपादान कारक में पंचमी विभक्ति आती है)।

"सप्तम्यधिकरणे च"—(अष्टा० २।३।३६) (अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति आती है)।

किन्तु 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (अष्टा० २।३।१८) जैसे विशिष्ट सूत्रों द्वारा यह भी स्पष्ट किया गया कि कर्त्ता कारक में और करण कारक में तृतीया विभक्ति भी होती है। निम्नांकित वाक्य के 'रामेण' और 'बाणेन' में तृतीया विभक्ति है। किन्तु 'राम' कर्ता कारक है। और '**बाण**' करण कारक है—"**रामेण बाणेन** हतो **बाली**"। इतना ही नहीं; 'बाली' प्रथमा विभक्ति में है, लेकिन कर्म कारक है।

'कर्मणि द्वितीया' (अष्टा० २।३।२) सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि "अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्" जैसे—'हरिं भजति'। यहाँ क्रिया कर्मानुसार नही है। किन्तु कर्मानुसार क्रिया आने पर वह कर्म कारक प्रथमा विभक्ति में आता है जैसे—'**हरिः** सेव्यते'। इस वाक्य का 'हरिः' पद कर्म कारक है, लेकिन प्रथमा विभक्ति मे है। इसलिए सदैव यह मानना कि कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति ही आती है, ठीक नहीं है। 'सः कटं करोति' में 'कटं'[1] द्वितीया विभक्ति है और कर्म कारक है। अतः कर्मकारक प्रथमा में भी आता है और द्वितीया में भी। इसी प्रकार "रामः रावणं हतवान्" में '**रामः**' प्रथमा विभक्ति है और कर्त्ता कारक है अतः सिद्ध है कि कर्त्ता कारक में प्रथमा विभक्ति और तृतीया विभक्ति—दोनों ही आती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत-वैयाकरणों के मतानुसार 'कारक' और 'विभक्ति' पृथक्-पृथक् तत्त्व है। दोनों की संकल्पनाएँ भी भिन्न हैं। 'कारक' अर्थ का अनुगामी है तो 'विभक्ति' शब्द-रूप की अनुगामिनी है। इसीलिए पाणिनि के व्याख्याकारों ने 'कर्म' को कारक ही कहा है, विभक्ति नहीं कहा। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (अष्टा० १।४।४९) की व्याख्या मे कहा गया है कि 'कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्' (=कर्म कर्ता का ईप्सिततम होता है।)[2] कारकों की परिभाषा करते हुए पाणिनि लिखते हैं—(१) स्वतंत्र[3] कर्त्ता' (अष्टा० १।४।५४) (=क्रिया का स्वतंत्र संपादक कर्ता होता है) (२) 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (अष्टा० १।४।४९) [कर्त्ता का मध्यम इष्ट कर्म होता है।] (३) 'साधकतमं करणम्' (अष्टा० १।४।४२) (क्रिया का परम साधक करण होता है)। (४) "कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्" (अष्टा० १।४।३२) (क्रिया जिसके लिए होती है वह सम्प्रदान होता है)। (५) ध्रुवमपायेऽपादानम (अष्टा० १।४.२४) (क्रिया जिससे अलग हो या निकले वह अपादान होता है) (६) आधारोऽधिकरणम् (अष्टा० १।४.४५) (क्रिया का जो आधार हो वह अधिकरण होता है)।

संस्कृत के वैयाकरणों ने कुल छह ही कारक बताये और 'कारकाणिषट्' की परम्परा चलती रही। पाणिनि के उक्त सूत्र इसके साक्ष्य में हैं।

ईसा के ३५० वर्ष पूर्व पाणिनि ने कारक और विभक्ति की दो भिन्न-भिन्न संकल्पनाएँ बताते हुए

---

१. 'कटम्' में—अम् प्रत्यय कर्मकारकत्व तथा एकवचनत्व का सूचक है।

२. 'त्वं गच्छ' में 'त्वं' कर्ता है। स्वतंत्र है जाए या न जाए। वाक्य में न भी हो तो कोई खास बात नहीं। अतः क्रिया के करने में या न करने में जो स्वतंत्र सत्ता रखता है, वाक्य में वही कर्ता होता है।

१. "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश" (ऋक्० ४।५८।३)।

लिखा कि संस्कृत भाषा में छह कारक और सात विभक्तियाँ हैं--(१) कारक--कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण (२) विभक्तियाँ--प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी। अर्थात् छह कारकों और सात विभक्तियों का व्याकरणिक विश्लेषण किया गया।

पतंजलि (ई० पू० २०० वर्ष) ने भी शब्द-महादेव की व्याख्या करते हुए ऋग्वेद के मंत्र में आये हुए 'सप्त हस्तासो' का अर्थ सात विभक्तियाँ किया है।

सारांश यह है कि सुबन्त पदों के प्रमुख विभाग सात निश्चित हुए और क्रिया से सम्बद्ध होना 'कारक' का प्रमुख लक्षण माना गया।

हिन्दी की जन्मदात्री अपभ्रंश भाषा कुछ-कुछ विश्लिष्टता की ओर बढ़ रही थी। बारहवीं शताब्दी की रचना 'संदेशरासक' में अब्दुर्रहमान ने लिखा--"सव्व हियउ महु दुक्खि भरिउ पूरिउ अहिउ" (सदेश-रासक ३।१९७)। इसका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार हो सकता है--

"सर्वं हृदयं दुःखे भरितं अधिकं पूरितम्।"

संस्कृत 'दुःखे' में 'दुःख' में अधिकरण कारक और 'दुःखे' (दुःख+ए) में सप्तमी विभक्ति बतायी जा सकती है। लेकिन अपभ्रंश के 'दुक्खिमहु' में समस्या दूसरी है। यहाँ 'दुःख' को अधिकरण कारक और 'दुक्खि' को सप्तमी विभक्ति बताया जा सकता है; लेकिन विश्लिष्टावस्था में उसके पीछे जो 'महु' है, उसे क्या बताना चाहिए? यदि संस्कृत 'मध्ये' का विकास ही 'महु' है तो हम उसे अव्यय या निपात कह सकते हैं। जैसे **'सः गृहं प्रति गच्छति'** में 'गृहं' द्वितीया विभक्ति और 'प्रति' निपात है। कारक की दृष्टि से 'गृह' कर्म कारक भी है।

विभक्ति-प्रत्ययों के साथ-साथ अनुगामी निपातों अर्थात् परसर्गों की स्थिति ब्रजभाषा और अवधी में भी मिलती है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड में लिखा है--

"बार बार मोहि लागि बोलावा।"--(बाल० २७५।१)

उक्त अर्द्धाली में 'मोहि' द्वितीय विभक्ति है या कहिए कि चतुर्थी विभक्ति है, लेकिन फिर भी 'लागि' परसर्ग और लगा हुआ है। **'मोहि लागि'** (मेरे लिए) के समानान्तर तुलसी दास की अवधी में 'धनहि लागि' भी प्रयोग हो सकता है। यहाँ 'धनहि' को चतुर्थी विभक्ति और 'लागि' को निपात या परसर्ग कहा जा सकता है। 'धन' को संप्रदान कारक कह सकते हैं।

साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी में 'धनहि लागि' का रूपान्तर होगा--'धन के लिए।' अब प्रश्न उठता है कि यदि "मोहन धन के लिए परिश्रम करता है" वाक्य के 'धन के लिए' में कारक, विभक्ति आदि को बताना पड़े तो हिन्दी के वैयाकरण को क्या व्यवस्था देनी चाहिए?

ऐसी स्थिति में व्यवस्था देने के लिए हिन्दी के वैयाकरण एकमत नहीं हैं।

इस प्रसंग में हिन्दी-भाषाशास्त्रियों को दो प्रमुख सर्गों में विभक्त किया जा सकता है--(१) पाश्चात्य भाषा शास्त्र से अप्रभावित हिन्दी भाषाशास्त्रि-वर्ग जिसमें स्व० पं० कामताप्रसाद गुरु तथा आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी प्रमुख हैं। (२) पाश्चात्य भाषाशास्त्र से प्रभावित हिन्दी-भाषाशास्त्रि-वर्ग जिसमें डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० आर्येन्द्र शर्मा, डॉ० उदयनारायण तिवारी, डा० हरदेव बाहरी आदि प्रमुख हैं।

पं० कामताप्रसाद गुरु का 'हिन्दी व्याकरण' सन् १९२० ई० में प्रकाशित हुआ था। इससे पूर्व पादरी

आदम साहब का एक व्याकरण 'हिन्दी-व्याकरण' के नाम से प्रकाशित हो चुका था। उसमें 'कारक' शब्द का ही प्रयोग है। 'विभक्ति' शब्द का कहीं उल्लेख भी नहीं है। सन् १९२२ ई० में उत्तर-प्रदेश के शिक्षा विभाग ने हिन्दी-मिडिल की पाँचवीं, छठी और सातवीं कक्षाओं के लिए 'हिन्दी-मिडिल-व्याकरण' प्रकाशित कराया था। इसके बाद सन् १९५८ ई० में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी कृत 'हिन्दी-शब्दानुशासन' को 'नागरी प्रचारिणी सभा', वाराणसी ने प्रकाशित किया।

संस्कृत-वैयाकरणों की परम्परा चली आ रही थी—'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' अर्थात् वाक्य की क्रिया से जिसका सीधा सम्बन्ध है, उसे कारक कहते हैं।

"अयोध्या के राजा रघु ने अपने **राज्य** में **राजकोष** से लाखों **रुपये** अपने **हाथों से ब्राह्मणों को** दिये।"

उक्त वाक्य की 'दिये' क्रिया से सीधा सम्बन्ध 'रघु'[1]; रुपये,[2] हाथों,[3] 'ब्राह्मणों',[4] 'राजकोष',[5] और 'राज्य'[6] पदों का है। अतः ये क्रमशः कर्ता, कर्म,करण, संप्रदान, अपादान, और अधिकरण कारक है। 'अयोध्या' में कोई कारक नहीं, क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध 'दिये' क्रिया से न होकर, संज्ञा, 'राजा' से है। उक्त छह कारकों की व्यवस्था संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार है, जिसका समर्थन आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने भी अपने 'शब्दानुशासन' (सन् १९५८ ई०) में किया है।

सन् १९२० ई० में पं० कामताप्रसाद गुरु ने 'कारक' शब्द की संकल्पना में परिवर्तन कर दिया। उन्होंने अपने हिन्दी-व्याकरण में लिखा—

"संज्ञा (या सर्वनाम) के जिस रूप से उसका सम्बन्ध वाक्य के किसी दूसरे शब्द के साथ प्रकाशित होता है, उस रूप को कारक कहते हैं।'

—(हिन्दी-व्याकरण अनु० ३०४)

पं०कामताप्रसाद गुरु ने 'कारक' की परिभाषा में क्रिया से संबन्ध वाले मुख्य लक्षण को परिवर्तित करके उसके स्थान 'पर किसी दूसरे शब्द के साथ संबन्ध' कर दिया। उसी परिभाषा के आधार पर "अयोध्या के राजा रघु ने...दिये" वाक्य के 'अयोध्या के' में संबंध कारक मात्र जाने लगा। संभवतः गुरुजी पर यह अँगरेजी-व्याकरण का प्रभाव था, जिसमें एक कारक 'पजैसिव केस' के नाम से भी है। गुरुजी के अनुसार हिन्दी में आठ प्रकार के कारक और आठ प्रकार की विभक्तियाँ हैं। उदाहरण—

कारक	विभक्तियाँ
(१) कर्ता	—(१) ने
(२) कर्म	—(२) को
(३) करण	—(३) से
(४) संप्रदान	—(४) को
(५) अपादान	—(५) से

---

१. 'रघु' देना क्रिया के संपादक हैं, अतः कर्त्ता हैं। २. रुपये देना रघु का अभीष्ट है अतः रुपये कर्म हैं। ३. देने का काम हाथों से किया गया है, अतः साधन रूप 'हाथ' करण है। ४. देने की क्रिया ब्राह्मणों के लिए संपन्न हुई है, अतः ब्राह्मण संप्रदान है। ५. देने की क्रिया राजकोष से दूर (अलग) होती हुई सम्पन्न हुई है, अतः राजकोष अपादान है। ६. देने की क्रिया राज्य में हुई है, अतः राज्य अधिकरण है।

कारक	विभक्तियाँ
(६) सम्बन्ध	—(६) का, के, की
(७) अधिकरण	—(७) में, पर
(८) सम्बोधन	—(८) हे, अजी, अहो, अरे।

पं० कामताप्रसाद गुरु को अग्रणी नेता स्वीकारते हुए 'हिन्दी-मिडिल-व्याकरण' (सन् १९२२) के लेखक ने भी कारक की परिभाषा लगभग उसी प्रकार से लिखी और आठ कारक तथा आठ विभक्तियाँ ही मानीं। हिन्दी-मिडिल-व्याकरण का लेखक विभक्तियों को 'कारक-चिह्न' भी लिखता है। वह कारक की परिभाषा इस प्रकार लिखता है—

"वाक्य में संज्ञाओं की अवस्था को कारक कहते हैं। कारक से यह जाना जाता है कि अमुक संज्ञा का सम्बन्ध वाक्य की क्रिया अथवा दूसरे शब्द के साथ किस प्रकार है।"[१]

गुरुजी के व्याकरण का प्रभाव हिन्दी-व्याकरण के अध्येताओं पर इतना पड़ा कि आगे चलकर कारक और विभक्ति की संकल्पना एक हो गयी। 'कर्त्ता-कारक' और 'प्रथमा-विभक्ति' में कोई अन्तर न रहा। चाहे कोई 'कर्त्ता-कारक' कहे या 'प्रथमा-विभक्ति'; दोनों का एक अर्थ समझा जाने लगा। संस्कृत-परंपरा से प्राप्त छह कारकों में आगे चलकर सम्बन्ध कारक तथा सम्बोधन कारक और सम्मिलित हो गये और कुल कारक-संख्या आठ हो गयी।

जहाँ तक 'विभक्ति' शब्द की संकल्पना का प्रश्न है, वहाँ यह कहा जा सकता है कि पं० कामताप्रसाद गुरु और आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी संज्ञा-सर्वनाम के साथ आने वाले 'ने' 'को', 'से', 'को', 'से', 'में', 'पर' आदि को विभक्तियाँ कहते हैं। खड़ी-बोली हिन्दी के संदर्भ में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने सम्बन्ध-विभक्ति और सम्बन्ध-प्रत्यय को लेकर बड़ी मौलिक और निर्भ्रान्त संकल्पना प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि—"राम के चार गौएँ हैं" वाक्य में 'के' सम्बन्ध-विभक्ति है, लेकिन "राम के चार बैल मेरे अधिकार में हैं" वाक्य में 'के' सम्बन्ध-प्रत्यय हैं।[२]

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने विभक्तियों के दो भेद माने हैं—(१) विश्लिष्ट विभक्ति (२) संश्लिष्ट विभक्ति।

खड़ी बोली हिन्दी में 'को' विश्लिष्ट विभक्ति है और ब्रज तथा अवधी में 'हि' संश्लिष्ट विभक्ति है। जैसे—'बालक को' में 'को' विश्लिष्टावस्था (पृथक् स्थिति) में है; लेकिन 'बालकहि' में 'हि' संश्लिष्टावस्था (मिश्रित स्थिति) में है। खड़ी बोली में भी 'मुझको' में 'को' विश्लिष्ट विभक्ति है, लेकिन 'मुझे' में 'ए' संश्लिष्ट विभक्ति है। यदि 'मुझको' का 'को' संश्लिष्ट स्थिति में होता तो 'मुझ ही को' प्रयोग न होता।

मान लीजिए कि खड़ी बोली हिन्दी का एक वाक्य इस प्रकार है—

"सब कोई मुझे समदरशी कहता है।"

---

१. हिन्दी-मिडिल-व्याकरण, एजूकेशन डिपार्टमेंट, यूनाइटेड, प्रोविंसेज़ सन् १९२२ ई०, पृ० २८।

२. देखिए आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, हिन्दी-शब्दानुशासन, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् २०१४, पृ० १३०।

उक्त वाक्य की 'मुझे' की-'ए' आचार्य वाजपेयी के मतानुसार संश्लिष्ट विभक्ति है। इसी आधार पर निम्नांकित अर्द्धाली के **'मोहि'** की 'हि' भी संश्लिष्ट विभक्ति ही होगी।

"समदरसी **मोहि** कह सब कोऊ"--(रामचरितमानस, किष्कि०. ३।८)

यदि उक्त अर्द्धाली का अनुवाद कोई खड़ी बोली में इस तरह करता है—"सब कोई **मुझको** समदर्शी कहता है।" तो इसमें 'मुझको' के 'को' को आचार्य बाजपेयी के मतानुसार विश्लिष्ट विभक्ति बताना पड़ेगा। बाजपेयी जी का यह भी कहना है कि एक ही विभक्ति कई कारकों में आ सकती है। जैसे—

(१) "मैं राम को जानता हूँ।"—यहाँ 'को' विभक्ति कर्म कारक में है।

(२) "राम को घर जाना है।"—यहाँ 'को' विभक्ति कर्त्ताकारक में है।

प्रथम वाक्य का **'राम'** कर्मकारक है। द्वितीय वाक्य का **'राम'** कर्त्ता कारक है।

पाश्चात्य भाषाशास्त्र से प्रभावित भाषाशास्त्रि-वर्ग के कुछ विद्वानों का मत पं० कामताप्रसाद गुरु और आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के मतों से भिन्न है।

डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० उदयनारायण तिवारी आदि का मत है कि 'मुझको' का **'को'** तो परसर्ग है और 'मुझे' की—'ए' विभक्ति है। उनके मत से 'विभक्ति' कारकीय अवस्था को सूचित करने वाला प्रारूप है जो संश्लिष्टावस्था में रहता है। लेकिन 'परसर्ग' विश्लिष्टावस्था में निर्दिष्ट संज्ञा या सर्वनाम के पीछे आया करता है। अँगरेज़ी **'पोस्टपोज़ीशन'** के स्थान पर उस वर्ग ने 'परसर्ग' का प्रयोग करना प्रारम्भ किया था। संस्कृत की परंपरा में तो उसे 'निपात' (अव्यय) भी कहा जा सकता है। अँगरेज़ी भाषा में संज्ञा-सर्वनाम के साथ 'प्रीपोज़ीशन' आते हैं, लेकिन हिन्दी भाषा में पोस्टपोज़ीशन प्रयुक्त होते हैं। अँगरेज़ी में **'अपटू सेविन'** और हिन्दी में **'सात तक'**। हिन्दी के निम्नांकित वाक्यों में 'को' परसर्ग विश्लिष्टावस्था में हैं—(१) हमें संथालों इत्यादि को प्रेम की दृष्टि से देखना चाहिए। (२) तुम अपने भाई, बहिन और भतीजे **ही को** यहाँ ले आते।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि **'मोहि'** की 'हि' तो आचार्य किशोरीदास वाजपेयी तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना आदि के मतानुसार 'विभक्ति' है ही लेकिन 'मुझको' का **'को'** क्या है? क्या आचार्य वाजपेयी के अनुसार इसे 'विभक्ति' कहना अधिक वैज्ञानिक है अथवा डॉ० सक्सेना के अनुसार 'परसर्ग' कहना समीचीन है?

मान लीजिए कि निम्नांकित एक वाक्य में **'अयोध्या के'** पदों के विश्लेषण के लिए आचार्य किशोरीदास बाजपेयी और डॉ० बाबूराम सक्सेना को दिया जाता है, तो वे किस प्रकार विश्लेषण करेंगे?

"अयोध्या के राजा ने लाखों रुपये ब्राह्मणों को दिये।" उपर्युक्त वाक्य के **'अयोध्या के'** **'के'** को आचार्य वाजपेयी 'विभक्ति' न बताकर 'सम्बन्ध-प्रत्यय' बताएँगे। पं० कामताप्रसाद गुरु के अनुसार यही **'के'** विभक्ति है। भाषावैज्ञानिक तथ्य-निर्णय के आधार पर पं० कामताप्रसाद गुरु का मत तो भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध होता है। कारण यह है कि उन्होंने जिन कारकीय चिन्हों को विभक्तियाँ कहा है, वे प्रायः सब शाश्वत रूपेण

---

१. देखिए—**'ने' परसर्ग का व्यवहार खड़ी बोली हिन्दी की एक प्रमुख विशेषता है।"**
—(डा० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, सं० २०१२ वि०, पृ० ४३९)

अक्षुण्ण रहने वाले हैं। उनके साथ पूर्वावस्था में आने वाली संज्ञाओं के लिंग-वचन परिवर्तित होने पर निम्नांकित हिन्दी-वाक्यों के अन्तर्गत उनमें परिवर्तन नहीं हो रहा। जैसे—

(१) **लड़की को** यहाँ ला। **लड़कियों को** यहाँ ला (सं० बालिकां अत्रानय। बालिकाः अत्रानय)

(२) **लड़के को** यहाँ ला। **लड़कों को** यहाँ ला (सं० बालकं अत्रानय। बालकान् अत्रानय)।

उपर्युक्त वाक्यों में 'को' विभक्ति मानी जा सकती है। लेकिन निम्नांकित वाक्यों में 'के' की स्थिति देखिए—

(१) **अयोध्या का** राजा दान करता है। (सं०—अयोध्याः राजा दानं करोति।)

(२) अयोध्या **के** राजा दान करते हैं। (सं०—अयोध्याः राजानः दानं कुर्वन्ति।)

(३) **अयोध्या की** रानी दान करती है। (सं०—अयोध्याः राज्ञी दानं करोति।)

(४) अयोध्या **की** रानियाँ दान करती हैं। (सं०—अयोध्याः राज्ञः दानं कुर्वन्ति।)

सर्वत्र 'अयोध्याः' पदों में पदान्त 'आः' अक्षुण्ण है, लेकिन संस्कृत वाक्यों के समानान्तर हिन्दी-वाक्यों में 'का' परिवर्तनशील है। अतः इसे विभक्ति मानना वैज्ञानिक नहीं। विभक्ति अक्षुण्ण रहती है। इस पर पश्चात आगत पद के लिंग-वचन का प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए आचार्य वाजपेयी उक्त **का**, **के**, **की** को प्रत्यय कहते हैं विभक्ति नहीं कहते। निम्नांकित वाक्यों की 'के' आचार्य वाजपेयी जी **के** मतानुसार विभक्ति अवश्य है, क्योंकि वह पश्चात् आगत पद के लिंग-वचन के प्रभाव से दूर है—

(१) उस लड़के **के** चार गायें हैं।

(२) उन लड़कों **के** चार-बैल हैं।

(३) उस लड़की **के** एक गाय है।

(४) उन लड़कियों **के** एक बैल है।

के के साथ-साथ् **का**, **की**, 'के' का विश्लेषण जो आचार्य वाजपेयी के द्वारा व्यक्त किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य वाजपेयी जी की दृष्टि और मत गुरु जी की दृष्टि और मत की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक हैं और तथ्यपूर्ण हैं। लेकिन डॉ० सक्सेना द्वारा अवधी के **केर**' (पु०) और **केरि**'[1] (स्त्री०) को परसर्ग बताया जाना असंगत है। 'परसर्ग' जब अँगरेजी 'पोस्ट पोजीशन' का अनुवाद है, तब तो वह 'प्रीपोज़ीशन का विलोम हुआ। अँगरेज़ी में जहाँ 'प्रीपोज़ीशन' आता है, वहाँ हिन्दी में 'पोस्टपोज़ीशन'। प्रीपोज़ीशन अपरिवर्तनशील होते हैं, अतः पोस्टपोज़ीशन भी अपरिवर्तनशील होना चाहिए।

" The song of Mohan the daughter of Mohan" में of अक्षुण्ण है, लेकिन 'मोहन का पुत्र', 'मोहन की पुत्री' में 'का' परिवर्तनशील है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब किसी स्थल पर साथ-साथ **हि**' और **कहँ**' आएँ तो उनका विश्लेषण किस तरह अधिक वैज्ञानिक है ?

तुलसी ने लिखा है—

"सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा।"—(रामचरितमानस, अर० १६।१०)।

(अर्थात् सब कुछ मुझको जानता है और सेवा में दृढ़ रहता है।)

---

१. इवोल्यूशन आफ अवधी, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९३७, पृ० २१७)।

इसी प्रकार 'हि' और 'लागि' साथ-साथ आएँ तो विश्लेषण क्या करना संगत है ?

उदाहरण—

"बार बार मोहिं लागि बोलावा"—(रामचरित मानस बालकाण्ड २७५।१)।

(अर्थात् बार-बार **मेरे लिए** बुलाते हैं।)

आचार्य वाजपेयी के अनुसार "**मोहिं कहँ**" में 'हि' संश्लिष्ट विभक्ति और 'कहँ' विश्लिष्ट विभक्ति है। इसी प्रकार **'मोहि लागि'** में 'हि' संश्लिष्ट विभक्ति और **'लागि'** विशिष्ट विभक्ति है। अर्थात् 'हि' और 'लागि' दोनों ही विभक्तियाँ हैं।

यहाँ संस्कृत की द्वितीया एकवचन सूचक—अम् और अवधी की द्वितीया सूचक 'हि' का अन्तर समझ लेना चाहिए। संस्कृत के अन्यपुरुषीय सर्वनाम पद 'तम्' (=उसको) का-अम् तो एकवचन और द्वितीया का सूचक है। उसी प्रकार 'तान्' (=उसको) का आन भी बहुवचन और द्वितीया का सूचक है लेकिन अवधी के 'ताहि' (=उसको) का-हि केवल द्वितीया का सूचक है। 'ति-हहि' (=उनको) का 'हि' भी द्वितीया का सूचक है। जैसे—

"बाली ताहि मारि गृह आवा"—(रामचरित मानस, किष्कि० ६।१०)।

"तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी"—(रामचरित मानस, किष्कि० ७।१)।

डा० सक्सेना के मतानुसार **'मोहि कहँ'** में **'हि'** विभक्ति और **"कहँ"** परसर्ग है। इसी प्रकार **'मोहि लागि'** में 'हि' विभक्ति और **'लागि'** परसर्ग है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी अपने 'ब्रजभाषा-व्याकरण' में **लागि** आदि को परसर्ग ही कहा है।

भारतीय भाषाशास्त्र की परम्परा में 'विभक्ति' शब्द की एक प्राचीन निश्चित संकल्पना चली आ रही है कि विभक्ति प्रतिपादिकीय पदान्त-तत्व है। जैसे 'बालकम्' पद में—अम्। किसी पद में एक विभक्ति के बाद दूसरी विभक्ति तो होती नही। फिर हिन्दी में अथवा ब्रज, अवधी आदि में **'मोहि लागि'** में 'हि' के साथ 'लागि' को भी विभक्ति कहना कुछ असंगत-सा लगता है। संस्कृत की परंपरा की रक्षा करते हुए यों कहा जा सकता है कि 'मोहि लागि' में 'हि' विभक्ति और 'लागि' निपात् (अव्यय) हैं। निपात के लिए अँगरेज़ी-परंपरा के 'परसर्ग' शब्द को ग्रहण किया जाए तो हम कह सकते हैं कि 'हि' विभक्ति और **'लागि'** परसर्ग है। 'सः गृहं प्रति गच्छति' में भी द्वितीयान्त 'गृहं' का 'अम्' विभक्ति और **प्रति** निपात (अव्यय) है। यदि **'प्रति'** को हम 'विभक्ति' कहेंगे तो भ्रान्तिमूलक होगा। प्राचीन संकल्पना में भी बाधा पड़ेगी। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के व्याख्याकार भट्टोजिदीक्षित भी 'गंगायाः' के अन्तिम 'याः' को विभक्ति ही बताते हैं।'पारे मध्ये षष्ठ्यावा' (अष्टा० २।१।१८) की व्याख्या में कहा गया है—"पारमध्य शब्दौ षष्ठ्यन्तेन सह वा समस्येते। गंगायाः मध्यात्=गंगामध्यात्।" यहाँ 'षष्ठ्यन्तेन सह' का अर्थ है—षष्ठ्यन्तेन पदेन सह=षष्ठी विभक्ति है। अन्त में जिसके, उस पद के साथ। हेमचन्द्र ने भी विभक्ति का अर्थ 'विभक्ति-प्रत्यय' ही किया है। वह ८।४।३४५ सूत्र की व्याख्या में लिखता है—

'अपभ्रंश षष्ट्या विभक्तित्याः प्रायो लुग् भवति' (सिद्ध हेम० ८।४।३४५।१)। सं०—गजानां

---

१. इवोल्यूशन आफ़ अवधी, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९३७, पृ० २१५।

कुंभान्=अप० गय कुम्भइँ। पुं० 'कुम्मान्' का अपभ्रंश में 'कुंभइँ' होता है। त० **'कमलानि'** का भी अपभ्रंश में 'कमलइँ'[1] रूप होता है।

मराठी में भी कर्म कारक की सूचक एक वचन में **'ला'** और बहुवचन में **'ना'** विभक्तियाँ हैं। ये परसर्ग नहीं, क्योंकि परसर्ग एक प्रकार से शुद्ध अव्यय हैं। मराठी में—**मुलाला** (=लड़के को); **मुलांना** (=लड़कों को)। संस्कृत में—बालकम्; बालकान्। मरा० ला=सं० अम्। मरा० ना=सं० आन्।

अतः प्राचीन संकल्पना को सुरक्षित रखते हुए हम कह सकते हैं कि **'मोहि लागि'** में **'हि'** विभक्ति है और **'लागि'** निपात (अव्यय) है। विभक्ति संश्लिष्ट होती ही है और निपात विश्लिष्ट (पृथक्) होता है आधुनिक पाश्चात्य भाषाशास्त्र के प्रभाव में आकर कहें तो ऐसा कहा जा सकता है कि **'मोहि लागि'** में **'हि'** विभक्ति और 'लागि' परसर्ग है। परसर्ग विश्लिष्टावस्था में होता है और अपरिवर्तित दशा में भी रहता है। ये दोनों लक्षण लागि में मिलते भी हैं। अतः **'हि'** को विभक्ति और **'लागि'** को परसर्ग कहना अधिक वैज्ञानिक है। परिनिष्ठित खड़ी बोली हिन्दी के संज्ञापदों के केवल रूपों पर ही विचार करें तो आधुनिक भाषाविज्ञान के अनुसार केवल **तीन कारक** ही सिद्ध होते हैं (१) अविकारी कारक, (२) विकारी कारक। (३) सम्बोधन कारक।

	एकवचन	बहुवचन
(१)	अविकारी कारक— घर, लड़का, किताब।	घर, लड़के, किताबें
(२)	विकारी कारक— घर, लड़के, किताब।	घरों, लड़कों, किताबों।
(३)	सम्बोधन—घर! लड़के किताब!	घरों, लड़कों, किताबों!

साहित्यिक खड़ी बोली में तो नहीं, हां हिन्दी की जनपदीय उपभाषाओं (ब्रज, अवधी, आदि) में हमारे समक्ष ऐसी समस्याएँ बहुत सी आ सकती हैं। अतः भाषाविज्ञान में सैद्धान्तिक पारिभाषिक शब्दावली की संकल्पना ऐसी निश्चित होनी चाहिए, जिससे हिन्दी और उसकी जनपदीय बोलियों अथवा अन्य भाषाओं पर भाषाशास्त्रीय दृष्टि से काम करने वालों को सुविधा रहे।

---

१. अपभ्रंश की यही 'अइँ' विभक्ति' हिन्दी में—एँ हो गयीं है जो पुस्तकें, लाटें आदि के स्त्रीलिंग बहुवचनीय (ऋजु अवस्था में) रूपों में समुपस्थित है।

गीति काव्य का प्रथम कवि 'उमापति'

डॉ० केशवदेव शर्मा
वेदान्ताचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०

"पद" का काव्यरूप में उद्‌गम मध्ययुगीय भाषा साहित्य की एक मान्य विशिष्टता है जिसका श्रेय संस्कृत के उपजीव्य ग्रन्थ श्रीमद्‌भागवत को ही दिया जा सकता है। वैष्णव धर्म के अभ्युदय काल में वैष्णव कवियों ने राधामाधव की लीला के चिन्तन की अवसर पर पदशैली में अपने काव्य का प्रणयन किया। राधा-कृष्ण की उपासना के साथ संगीत का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध रहा है। इन संगीतमय पदों के माध्यम से वैष्णव कवि अपने भावों को पूर्ण वैभव के साथ प्रकट करने में सफल हुए हैं। हिन्दी भाषा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसके अन्तर्गत अनेक विभाषाएँ स्थान बनाए हुए हैं। इस धारणा के आधार पर यदि वैष्णव पदावली के हिन्दी आदि प्रवर्तक का अन्वेषण करें तो अनेक तथ्य हमारे सन्मुख उपस्थित होना स्वाभाविक है।

हिन्दी के मर्मज्ञ विद्वानों का कथन है कि ब्रजभाषा के प्रथम पदकर्ता विष्णुदास से मैथिली पदकर्ता विद्यापति तथा बंगला पदकर्त्ता चण्डीदास प्राचीनतर हैं किन्तु इनके आविर्भावकाल से पूर्व एक और पदकर्त्ता हो चुके हैं, जिन्होंने वैष्णव पद-साहित्य के रूप में अपूर्व निधि हिन्दी 'पद' प्रेमियों को प्रदान की है। इनका नाम है उमापति। ये मिथिला के राजा नाथदेव (१०९८-११३५) की पीढ़ी के चौथे राजा हरिदेव के आश्रित कवि थे। अतः इनका आविर्भाव चतुर्दश शती का प्रथम चतुर्थांश (१३२० वि० के समीप) हो सकता है।

उमापति ने संस्कृत में 'पारिजात हरण' नाटक की रचना की जिसमें अनेक गीत अनेक रागों में निबद्ध कर रचे हैं। उमापति संगीत के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने हिन्दी में वैष्णव पदावलि की रचना की है जिसमें माधुर्य के साथ प्रसाद का मिश्रण है। यही कारण है कि उनके गीत अत्यन्त रससिक्त बन गए हैं। यथा—सत्यभामा की विरहदशा का वर्णन उसकी सखी सुमुखी श्रीकृष्ण के सन्मुख कर रही है—

कि कहन माधव तनिक विशेषे। अपनहु तनु धनि पाव कलेशे।
आपनु क आनन आरसि हेरी। चातक भरम कांप कत बेरी।
भरमहु नियकर उर पर आनी। परसै तरस सरसीरुह जानी।
चिकुर-निकर निय नयन निहारी। जलधर जाल जानि हिय हारी।
अपन बचन पिकरव अनुभागे। हरी हरी तेहु परितेजय पराने।
माधव आवहु करीय समधागे। सुपुरुष निठुर रहय न निदाने।
भुमति उमापति मन परमाने। माहेशरि देइ हिन्दूपति जाने।

सत्यभामा विरह सन्तप्ता है अतः उसके शरीर से उत्पन्न भय का स्वरूप विचारणीय है। जिसका अनुमान करके आश्चर्यचकित होना पड़ता है। सत्यभामा दर्पण में अपना मुख निहारती है, जिसे वह चन्द्रमा

समझती है तथा भय से कम्पित हो उठती है। अपने ही केशपाश को देखकर नीलधरा की भ्रान्ति से उसका दिल बैठने लगता है। अपने ही वचनों को कोकिला की ध्वनि (पिकरव) मान बैठती है। विरहिणी की ऐसी दशा क्या अत्योक्तिकता की द्योतक नहीं है?

श्रीकृष्ण का सत्यभामा का मान भंग करने के लिए मनाना—

जब सत्यभामा मान का परित्याग नहीं करना चाहती है तो श्रीकृष्ण अपना दोष स्वीकार कर लेते हैं तथा सत्यभामा से दण्ड देने के लिये आग्रह करने लगते हैं तथा कहते हैं—

मानिनि मानव जओं मोर दोसे
शास्ति करिय बरु न करिअ रोसे।
भौंह कमान विलोकन बाने
बंधह विधुमुख कय समधाने।
पीन पयोधर गिरिवर साथी
बाहु फांस धनि धरु मोहि बांधी।
को परिणति भय परसनि होई
भूषण चरण कमल देह मोही।
सुमति 'उमापति' मन परमाने
जगमाता देह हिन्दूपति जाने।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि मानिनि यदि मेरा ही दोष है तो मुझे दण्ड दो, क्रोध न करो। हे विधु-वदनि: अपने कमान रूप भ्रूको साध कर वाण सदृश्य तीखे कटाक्ष छोड़ो तथा मुझे विद्ध कर दो। पीन पयोधर रूपी पर्वतों में मुझे साध कर अपनी भुजारूप पाश में जकड़कर बांध लो। मैं इस दण्ड को सहन करने के लिए सतत उद्यत हूँ।

कवि उमापति के ऊपर प्रसिद्ध गीतिकार जयदेव का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यही कारण है कि उमापति के द्वारा रचित ऐसे अनेक पद प्राप्त होते हैं जिन्हें साक्षात जयदेव के गीतों का अनुकरण रूप ही माना जा सकता है। ऊपर सत्यभामा के 'मान' का चित्रण प्रस्तुत किया है: जिसके साम्य में **गीत -गोविन्द** का यह पद दिया जा सकता है:—

सत्यमेववासि यदि सुदति, मयि कोपिनी।
देहि स्वर-नरवर शर-घातम्।
धरय भुजबंधनं जनय रद खण्डनम्।
येन वा भवति सुख जातम्।

तात्पर्य यह है कि हे सुदति राधिके। यदि तुम वास्तव में मेरे ऊपर क्रुद्ध हो, तो मेरे शरीर पर तीक्ष्ण नख रूप वाणों का प्रहार करो। मुझे अपनी भुजाओं के बन्धन में डाल दो। अपने दांतों से मेरे अधर आदि अंगों का खण्डन करो, जिससे तुम्हें सुख मिले। अपराधी को उसके अपराधों के लिए वाण-प्रहार, बंधन तथा शस्त्रों द्वारा शरीरघात आदि दण्ड दिए जा सकते हैं। मैं भी इन दण्डों को प्राप्त करने के लिए तैयार हूँ। क्योंकि इन दण्डों का रूप शृंगारिक होने के कारण रस पोषक है, शोषक नहीं।

कवि उमापति ने भी जयदेव के ये ही भाव अपने पदों में स्पष्ट किए हैं इस प्रकार कवि उमापति गीति-काव्यकार के रूप में एक उत्कृष्ट स्थान रखते हैं। अब तक यह धारणा थी कि कवि विद्यापति ही हिन्दी के आदि पदकर्ता या प्रथम गीतिकार हैं किन्तु अब यह धारणा नितान्त भ्रमात्मक सिद्ध हो चुकी है तथा प्रमाणों के द्वारा यह सत्य सिद्ध होचुका है कि उमापति हिन्दी-जगत के प्रथम गीति काव्यकार हैं। बंगला के प्राचीन पदावलि-संग्रहों में उमापति उनके पाश्चात् इतनी ख्याति प्राप्त कर गए कि उमापति के व्यक्तित्व को कुछ फीका कर दिया कुछ भी हो उमापति ही एक ऐसे गीतिकाव्यकार हैं जिनके गीतों को मौलिक माना जा सकता है तथा जिनके ऊपर संस्कृत गीतिकाव्यकारों की पूर्ण छाप है।

कवियित्री ताजकृत बीबी-बांदी का झगड़ा

क्षेत्रपाल शर्मा

एम० ए०

भक्ति साहित्य में ताज का नाम अपना विशेष महत्व रखता है। उसकी 'हों तौ मुगलानी पै हिन्दुआनी ह्वै रहोंगी मैं' वाली पंक्ति आस्था का चरमोत्कर्ष हैं। कायमखानी कुलोद्भव नबाब फदनखाँ की पुत्री और बादशाह अकबर की पत्नी ताज श्री कृष्ण की परम उपासिका और पुष्टि सम्प्रदायी भक्त थीं। पुष्टि सम्प्रदायी होने के कारण उनकी व्रज और व्रजराज में अत्यन्त श्रद्धा थी—मृत्यु के उपरान्त उनकी समाधि व्रज के जती-पुरा गांव में श्रीनाथ जी के मन्दिर के पास बनाई गई। ताज ने सवैये कवित्त दोहे और धमार प्रचुर संख्या में लिखे हैं। पुष्टि सम्प्रदाय में इनकी साढ़े बारह धमार मान्य हैं। इनकी रचनाओं का वर्ण्य विषय कृष्ण भक्ति है।

खोज के वातायनों से अनेक तथ्यों पर आलोक पड़ता है। कुछ दिनों पूर्व ताज कृत 'बीबी बांदी का झगड़ा' नामक पुस्तक विद्वानों की दृष्टि में आई है। इस पुस्तक की कथावस्तु साधारण जीवन की एक घटना है एक मीराँ आदम नाम का व्यक्ति अपनी बीबी के यौवन के ढल जाने पर अपनी बाँदी से प्रेम करने लगता है बीबी बांदी के झगड़े का मूल कारण यह अवैध प्रेम है। इस पुस्तक का प्रारम्भ इन पंक्तियों से होता है :—

कथा तरंग उकति मति आई।
उकति युकति की माल बनाई।
नारी बहुत जि कहत पखाने।
सो कछु थोरे इहि महि आने।
आगम बात हांसी सुनि आवै।
रोवत मानस ताज हँसावै।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि यह कथा उक्ति युक्ति शैली में रची गई है और इसमें महिलाओं द्वारा लोक प्रचलित अनेक उपख्यानों अर्थात् कहावतों का प्रयोग है, इस रचना का उद्देश्य दार्शनिक या धार्मिक उपदेश देना नहीं है अपितु उसका उद्देश्य मनोरंजन मात्र है जैसा कि'रोवत मानस ताज हँसावे" इस पंक्ति में सुव्यक्त है।

झगड़ा साहित्य पर हिन्दी में अनेक पुस्तकें प्राप्त हैं—झगड़ा साहित्य रोचक साहित्य है। वस्तुतः यह क्लब लिट्रेचर का ही एक प्रकार है। हलका फुलका साहित्य लिखने की जो परम्परा हिन्दी में अमीर खुसरो से प्रारंभ हुई यह उसी की एक कड़ी थी। सोने रत्ती के झगड़े से तो सभी परिचित हैं जिसमें रत्ती सोने को पाप का मूल ठहराती है और सोना काले मुंह की रत्ती के सम्पर्क को ही अपने अधःपतन का कारण बतलाता है—"सोना कहै सुनार से उत्तम मेरी जात, काले मुंह की चिरमिठी तुली हमारे साथ" वाला कथानक जनप्रिय

कहानी है—जैसा कि सुस्पष्ट है कि इन झगड़ों में अधिकतर रोचक संवाद होते हैं। बीबी बाँदी का झगड़ा भी रोचक संवादों की शृंखला है, ताज ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'उकति युकति की माल बनाई' कह कर इसे स्पष्ट कर दिया है।

लोक जीवन में उपखानों को लिपिबद्ध करने की परम्परा प्रचलित ब्रज साहित्य में बहुत समय से चली आ रही है। जगदानन्द कृत "उपखान भागवत दशम स्कन्ध, शिवसहाय कृत—लोकोक्ति कौमुदी श्री शिवलाल कृत—जुक्ति समूह तथा जवाहर मल कृत—उपखान पचासा इसी परम्परा में आते हैं। कवियित्री ताज के बीबी बांदी के झगड़े में सौ से अधिक स्त्रियों द्वारा व्यवहृत उपखान प्रयुक्त हुए हैं—ताज ने उपखानों के लिए पखान शब्द का प्रयोग किया है—गढ़वाल की ओर पखान शब्द उपखान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ताज की रचना का उद्देश्य भी इन उपखानों को लिपिबद्ध करना है।

नारी बहुत जि कहत पखाने।
सो कछु थोरे इहि महि आने।

बीबी और बांदी के झगड़े में अनेक उपखान मिलते हैं जैसे—

काढ़ी सट्टों ज्यों दूध की माखी,
आंखि मूंदि अंधियारी करै।
चोरी कौ गुड मीठौ लागै
जांघ उघारे लाजन मरिए
चांद न कूदै ढांका रहै
धुनिया नया मूंज की तांत
दोनों हाथै ताली बजै
जो गुड खाय सो कान विंधावै
चंदा एकु सवा लखु तारे— आदि

इस पुस्तक में झगड़े की समाप्ति साजन और सजनी के मेल में इस प्रकार होती है

तेल ते पानी करै बांदी लंगर ढीठ
साजन साजन रति गये झूठे भये बसीठ
कुल की सरम है औरे बंदु
ताज कहां लौं जोरे छंदु
मीरां के काजै किया सांचा सोचु कराई
झूठै माया मोह सौं सबै रहै पछिताई॥

अंत में पुष्पिका दी गई है :—

इस प्रकार के ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि ब्रजभाषा में केवल ऐसे पारमार्थिक साहित्य का ही सृजन नहीं हुआ जो उत्तम वर्ग के लिए ही हितकारी हो अपितु समाज के मध्यम और सामान्य वर्ग के लिए भी रोचक साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया है ताज कृत बीबी बांदी का झगड़ा इस रोचक साहित्य का उत्कृष्ट नमूना है।

प्रेमयोगिनी मीराँ

कु० लक्ष्मी मिश्रा
एम० ए०, बी० एड०

"मैं गिरधर के रंगराती, सैयाँ मैं गिरधर के रंगराती,
पंचरंग चोला पहिरि सखी मैं झुरमुट रमवा जाती।
झुरमट मांहि मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाँती।"

"खोल मिली तन गाँती"—निरावरण, निरावगुंठित, बाबरी, दीवानी, मीरा, संसार की अद्भुत प्रेम-कथाओं की प्रधान नायिका मीरा, प्रेम के संसार में और संत-भक्ति संसार में एक अमर नाम, अमर ज्योति है।

मेवाड़ देश के मेड़ता में मीरा का जन्म संवत् १५५५ के लगभग हुआ। ये मेड़तिया के राठौर रणसिंह की पुत्री थीं। इनकी माता का देहान्त बहुत बचपन में हो गया था किन्तु मीरा के पति कौन हैं? इस सत्य को वह अपने जीवन में ही मीरा को समझा गयीं थीं।

एक बार एक बारात आई। बारात में दूल्हे को देखकर भोली बालिका मीरा माँ से सहज प्रश्न कर उठी—"माँ मेरा दूल्हा कौन है?" मीरा के भोले भाव से विमुग्ध माँ ने भी सहज ही संकेत से उत्तर दिया वह रहा तेरा दूल्हा। संकेत में प्रदर्शित वह दूल्हा था भगवान कृष्ण की मूर्ति; पुनश्च एक बार एक साधु मीरा के घर पर पधारे। साधु से पास अत्यधिक आकर्षक मोहक प्यारी कृष्ण की मूर्ति थी। कृष्ण मूर्ति को देख कर बाल-स्वभाव वश मीरा ललचा उठी। साधु ने मूर्ति माँगी परन्तु मूर्ति नहीं मिली। उसकी अप्राप्ति पर मीरा को अत्यधिक पीड़ा हुई, परन्तु यह भला कैसे हो सकता था कि मीरा को मूर्ति न मिलती, पत्नी को पति न मिलता। अस्तु, अप्रत्याशित ही दूसरे दिन साधु स्वयं ही मूर्ति लिये मीरा के पास पहुँचे। साधु का मीरा के पास स्वयं मूर्ति ले आने के पीछे केवल एक यही रहस्य था कि रात्रि में भगवान कृष्ण ने साधु को स्वयं ही स्वप्न में मीरा को मूर्ति प्रदान करने का आदेश दिया था।

पालन-पोषण के समय संस्कारों का प्रभाव भी कुछ कम प्रबल नहीं होता। मीरा का पालन किया था दादाराव दूदा जी ने। वे स्वयं नितान्त वैष्णव कृष्ण-भक्त थे। अतः शिशुकाल से ही मीरा को संस्कार रूप कृष्ण भक्ति की प्राप्ति हुई। उस पर साधु द्वारा प्राप्त मोहिनी मूर्ति मीरा के नयनों में समायी रहती। जिसके कारण रात्रि दिवस वह कृष्ण मूर्ति के समक्ष विभिन्न भाव लीलाओं से भरित क्रीड़ाएँ किया करती। शिशुकाल से ही कृष्णभक्ति में विभोर मीरा का विवाह १८ वर्ष की अवस्था में अनायास उदयपुर के राणा साँगा के ज्येष्ठ कुँवर भोजराज के साथ हो गया। यद्यपि मीरा का दाम्पत्य जीवन आनन्दपूर्ण था परन्तु फिर भी बचपन के प्यारे कौतुक नहीं भूले थे। कृष्ण की मूर्ति ने उन्हें पूर्वानुरक्त कर अपनी सुधि

बिसरने नहीं दी। फलतः उनके अनुराग का, कृष्ण प्रीति का उफान दिनों-दिन बढ़ती बाढ़ के सदृश उमड़ता ही रहा। उसी प्रीति की तन्मयता में उन्होंने लोक-लाज, कुल-मर्यादा सभी कुछ त्याग दिये। थोड़े ही समय के पश्चात् पति का देहान्त हो गया और तब मीरा पूर्णतः कृष्ण-भक्त हो गयीं, पूर्णतः प्रेम दीवानी। वह संतों की मंडली में नाचती, संतों की भीड़ लगी रहती। उनकी इसी गति-विधि से घरवालों का व्यवहार उनके प्रति कठोर होता गया। अंततः, राणा ने विष का प्याला भेजा। मीरा उसे प्रभु का चरणामृत समझकर पी गयीं। पिटारी में साँप भेजा गया तो उसे प्रभु का उपहार रूप हार समझकर निर्भीक अपने गले में धारण कर लिया। उनकी ऐसी अनन्य कृष्णानुरक्ति पर सम्बन्धियों द्वारा प्रेरित कोई भी बाधा प्रहार न कर सकी।

भगवद्भक्ति के क्षेत्र में मीरा का स्थान अत्यन्त ऊँचा है। आचार्य शुक्ल के अनुसार मीरा के पदों में 'माधुर्य भाव की प्रधानता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत से तो 'मीरा के पदों में अपूर्व भाव-विह्वलता, आत्म-समर्पण का भाव अभिव्यक्त है। कुछ पदों में तो निर्गुण भावना के दर्शन भी होते हैं जो मीरा के निर्गुणोपासक होने का संकेत करते हैं यथा—

'तुम बिच मो बिच अन्तर नाहीं
मेरेपिया मो मांहि बसत हैं। अद्वैतता का आभास कराता है।
'अटल रहे अविनासी'
गगन मंडल पर सेज पिया की

'किस विध मिलना होय' के रूप में उनकी आत्मा उस अनिर्वचनीय ब्रह्म की प्राप्ति को व्याकुल दिखाई देती है। यहीं पर उनके काव्य में पूर्ण रहस्यवाद का उदय होता है। यत्र-तत्र तत्कालीन हठयोग का प्रभाव भी दृष्टिगत है। इसके अतिरिक्त उनके पदों में निर्गुण संतों की पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग भी मिलते हैं। सत्गुरु, शून्यमहल, निरंजन, 'झिरमिट खेलने जाना' तथा 'सत्गुरु' मिलने से संयम का भागना आदि आदि।

मीरा मुख्यतः सगुणोपासिका हैं। उन्होंने कृष्ण के मधुर रूप की उपासना की है। किन्तु जब उनकी गूढ़तम अन्तर-अनुभूति अंतस्थल को चीरकर अपनी स्थिति स्थिर न कर सकी तो उन्होंने उस निर्गुण को भी अवश्य चाहा है जो भौतिक प्रपंचों से परे एकरस, एकरूप और निर्मुक्त है। 'आ अपनी गैल बता जा रे" भाव से प्रेरित अलौकिक प्रेम की दीवानी मीरा ने अपने उद्गारों द्वारा मुक्तावस्था का वह संदेश दिया है जो सदा-सर्वदा जाग्रत-जीवन्त और दीप्तमय है।

मीरा का व्यक्तित्व अपनी रचनाओं में इतना स्पष्ट है कि वे वस्तुतः अपनी भक्ति-भावना में किसी से प्रभावित हुई नहीं ज्ञात होतीं। मीरा ने तो केवल व्यक्तिगत ईश्वर की भावना रखी है जिसमें रूप सौन्दर्य और प्रेमाभिव्यक्ति है। पदों में इष्टदेव का वर्णनात्मक रूप भी नहीं। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि उन्होंने सन्तमत के अनुसार ईश्वर की भक्ति की है। सम्भव है संतों की भक्तिसाधना का प्रभाव उन पर पड़ा हो। ऐसे पदों में संतमत में प्रयुक्त रूपक और शब्दावली का ही प्रयोग इस रूप में प्राप्त है।

'नैनन बनज बसाऊँ री, जो मैं साहब पाऊँ री।
इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न नाऊँ री।
त्रिकुटीमहल में बना है झरोखा, वहाँ मैं झाँकी लगाऊँ री
सुन्नमहल में सुरत जगाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊँ री"

और भी—

सुरत निरत का दिवला सँजोले मनसाकी करले बानी
प्रेम हठी का तेल मँगाले, जगे रह्या दिन राती।"

मीरा श्री कृष्ण की अनन्य सेविका थीं। वह उनके कमल चरणों को त्यागकर स्वर्ग भी नहीं चाहतीं। कृष्ण वियोग उनके लिए असह्य है। वे सदा श्याम का सुन्दर रूप देखने को आतुर हो भाव विभोर गा उठती हैं—

'बसो मेरे नैनन में नन्दलाल
मोहनी मूरत सांवरी सूरत, नैना बने बिसाल।"

मीरा की भक्ति के दो ही प्रधान पक्ष हैं विनय और विरह। इन्होंने नारी की सम्पूर्ण मर्यादा रखते हुए नारी, प्रकृति, प्रेम और विरह प्रेम और भक्ति का पवित्र, सुन्दरतम रूप प्रस्तुत किया है। इसी भाव से अपने इष्टदेव गिरधर गोपाल की भक्ति में वे अनायास कभी-कभी नाच उठी हैं।

"मीरा नाची रे
पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे
मैं तो अपने नारायण की, आपहि हो गई दासी रे
लोग कहैं मीरा भई बावरी, न्यात कहैं कुलनासी रे॥"

मीरा के समस्त पदों में यद्यपि व्यक्तिगत प्रेमभाव का ही चित्रण है, उनका प्रेम लौकिकता लिए हुए भी है, क्योंकि उनके कथनानुसार गिरधर-नागर से पूर्व जन्म का सम्बन्ध है जो जन्मजात है। इसी भाव से ही इन्होंने इष्ट को प्रिय भरतार,प्रेम प्यारा, जन्म-जन्म का साथी आदि सम्बोधन से सम्बोधित किया है। कहीं कहीं अपने भगवान का उल्लेख प्रियतम, योगी, सगुण, ब्रह्म, प्रणयलीलाकारी आदि रूपों में भी किया है।'

"मीरा ने माधुर्य भाव से अपनी भक्ति-भावना का स्वरूप निर्धारित किया और स्वयं विरहिणी बनकर अपने आराध्य श्री कृष्ण से प्रणय की भिक्षा माँगी यही कारण है कि उनकी कविता में गीति-काव्य की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है।"

मीरा ने इन्हीं समस्त भावों से गिरधर गोपाल को रिझाया, उन्हें अपना लिया, और सदैव ही गिरधर गोपाल को अपना सर्वस्व, अपने पति के रूप में देखती रहीं केवल मात्र इस विश्वास भाव से—

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई,
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥'

मीरा ने शृंगाररस में अपनी लेखनी डुबोकर अपने भावों का प्रकाशन किया परन्तु शृंगार में वासना की दुर्गंध कहीं भी नहीं है। वहाँ तो केवल विशुद्ध आत्मनिवेदन है और वह भी आध्यात्मिक ही सांसारिक नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि से मीरा के ब्रह्म-विषयक विचार विशद हैं। मीरा का ब्रह्म कोई साधारण ब्रह्म नहीं, उसके विभिन्न रूप तथा नाम हैं। वह सर्वव्यापी है। उसी का अंश ही एक आत्मा का रूप है। उसके कर्म अनन्त हैं। जीवात्मा विषयक विचार तो मीरा के 'गीता' से ही साम्य रखते हैं। मीरा का विचार है कि मानव जीवन का उद्देश्य कर्म करना है। कर्मानुसार ही मनुष्य सुख दुःख भोगता है यथा—

"कर्मगति टारै नाहिं टरै" भाव से ही अनुप्राणित मीरा गा उठती है—

'कर्मगति न्यारी संतों कर्म गति न्यारी
बड़े-बड़े दीये मरगत कूं बन बन फिरत उघारी रे।
उज्ज्वल बरन दीनी बगुलन कूं, कोयल कर दीनी कारी रे।

और भी— 'करम गति टारै नाहिं टरै
सतवादी हरिचन्द से राजा, नीच घर नीर भरे
पाँच पांडु और सती द्रौपदी हाड़ हिमालै गरै।"

दार्शनिक भाव से मीरा के लिए यह संसार मिथ्या है। 'झूठा कुलरा जाती।' उनकी दृष्टि में बाह्याडम्बर बुरे हैं क्योंकि सभी आडम्बर आत्मा को अशुद्ध करने वाले हैं। अतः, मीरा की दृष्टि में 'सत्य' ही संसार का स्वामी है।

सत्य के समक्ष बाह्य शृंगार का कोई महत्व नहीं, क्योंकि—

झूंठा सब आभूषण री साँची पिया जी पोति
झूठा पट पेटम्बरा रे झूंठा दिखाणी चीर
साची पिया जी री गूदड़ी जामें निरबल बहै सरीर।"

अनुभूति में विरह की तीव्रतम विक्षिप्तता, शारीरिक कृशता और दौर्बल्य का अनुभव स्वाभाविक है। मीरा का विरह वर्णन निज का है अतः स्वाभाविक एवं प्रभावपूर्ण है। उनके काव्य में तो उन्हीं के विरहोद्गार परिलक्षित होते हैं। वस्तुतः, मीरा का विरह मार्मिक एवं गम्भीर है। उसमें विद्यापति की भाँति सम्भोग शृंगार की वासना की छाया तक नहीं। मीरा का विरह सूर आदि से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक एवं मर्मस्पर्शी है :

की "रैन अँधेरी विरह घेरी, तारा गणत निसि जात
लै कटारी कंठ चीरूं करूँगी अपघात
पाट न खोल्या, मुख न बोल्या, साँझ लगा परभात
अबोलना में अवधि बीती, काहे की कुसलात।"

"यह विरह की सच्ची कहानी है। अन्धकारमय रजनी है। प्रियतम मौन है। हृदय में विरह ज्वाला है। बेचारी विरहिणी आकाश के तारों पर दृष्टि डालकर उन्हें गिन रही है। सन्ध्या से प्रभात तक न प्रियतम आए और न द्वार ही खुला और न मुख से ही एक शब्द भी कहा। सम्पूर्ण समय मौन में ही व्यतीत हो गया" यद्यपि यह एक विरहिणी की स्वाभाविक मार्मिक उक्ति है परन्तु इसमें आध्यात्मिक तत्व की व्यथा सन्निहित है। यदि 'पाट' का अर्थ माया के परदे के रूप में स्वीकार किया जाए तो सम्पूर्ण पद आध्यात्मिक कलेवर ग्रहण कर लेगा और फिर इस रूप में भौतिकता में अलौकिकता ही व्यंजित हो उठेगी।

मीरा के काव्य में प्रेम और प्रेम-विरह की पीर ही सर्वत्र प्रकट है। उन्होंने उदार सहज रूप में प्रेम के दोनों पक्षों (संयोग एवं वियोग) का गान किया। किंतु संयोग के पद कम ही प्राप्त हैं। वे तो हृदय में ही उस 'छलिया' से मिलती हैं।

'जिनका पिया परदेस बसत है लिख-लिख भेजें पाती'
मोरा पिया मोरे हृदय बसत है, न कहूँ आती जाती।'

परन्तु यह संयोगानुभूति भी अधिक देर तो नहीं ठहरती और फिर 'वियोगिनी' का कंठ प्रिय से व्याकुल भाव से प्रश्न कर उठता है—

ऐसी लगन लगायें तू जीसी
तुम देख्यो बिन कल न परत हैं तलफ-तलफ जय जीसी''

मीरा की प्रणयानुभूति और विरह पीड़ा की अभिव्यक्ति जहाँ सुन्दर रहस्यवाद की भावना से ओत-प्रोत है वहाँ उस ब्रह्म को हृदय में बसने वाला बताकर उस 'अविनासी' से मिलती है। देखिए न--

'मेरे पिया मेरे हृदय बसत हैं ना कहूँ आती न जाती
चन्दा जायगा। सूरज जायगा, जायेगी धरण अकासी
पवण पानि दोनु तहीं जाँयगे, अटल रहे अविनासी।''

उनका यह रहस्यवाद अत्यन्त सरल और स्वाभाविक शैली में अभिव्यक्त है। उसमें कहीं भी दुरूहता-जटिलता नहीं वरन् नारी हृदय की साधना का सच्चा सहज-सुन्दर प्रतिबिम्ब है।

इस प्रकार मीरा एक मधुर-कंठी कोकिल सी बैठकर अपने गिरधर गोपाल की प्रीति से गुंजित गीत गाती हैं पर पृथ्वी पर नहीं वृक्ष की सबसे ऊँची डाल पर, स्वर्ग के कुछ पास ही, "सत्यतः मीरा जैसी कवियित्री को पाकर भक्तिकाल मानों स्वयं ही कृतकृत्य हो गया है। जितनी तन्मयता, पीर, आत्मविश्वास, अनन्य निष्ठा, और प्रेम सरित की अविरल अमरधारा मीरा की पदावली में बही, इतनी किसी भी अन्य संत-भक्त नारी कवियित्री के पदों में नहीं।" निश्चय ही, हिन्दी साहित्य में उच्च-पद पर मीरा का स्थान एवं अधिकार निरुपमेय एवं अक्षुण्ण है।

ब्रजभाषा : माधुर्य का ध्वनितात्विक आधार

डॉ० चन्द्रभान रावत
एम. ए., पी-एच. डी.

प्रास्ताविक

एक पंक्ति सुनाई पड़ती है : 'ब्रजभाषा की सी मिठलौनी कहाँ !' अर्थात् ब्रजभाषा की जो सौंदर्य तात्विक विशेषता रेखांकित की जा सकती है, वह उसकी 'मधुरता' है। वंश भास्कर के रचयिता सूर्यमल्ल[1] ने इसे स्वीकार किया है।[2] एक ओर ब्रजभाषा भक्तिसार माधुर्य की संवाहिका के रूप में समादृता रही और दूसरी ओर यह 'बादशाही बोली' के रूप में प्रतिष्ठित हुई।[3] इस प्रकार ब्रजभाषा की एक 'नैज' विशेषता की धारणा बनी पनपी।

सैद्धांतिक रूप से कुछ विद्वान् भाषा की कुछ निजी विशेषता के सिद्धांत को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।[4] यह विशेषता भाषा-संरचना के विभिन्न स्तरों पर प्रकट होती है। भाषा की प्रकृति के साथ जुड़कर ये विशेषताएँ उस भाषा की शैली के निर्माण में योग देती हैं। इस रूप में व्यक्तिगत सीमा से परे राष्ट्रीय शैली की भी बात की जाती है।[5] इन भाषागत और शैलीगत विशेषताओं के कारण एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद संभव नहीं होता।[6] दूसरी ओर ऐसे विद्वान हैं जो भाषा की वैयक्तिक विशेषता को मात्र व्यक्तिगत अभिरुचि से संबद्ध करके इस मत की वैज्ञानिकता को अस्वीकृत करते हैं। एक भाषा में किसी अन्य भाषा से अधिक सौंदर्य या माधुर्य है, यह मानना व्यक्तिपरक है, वस्तुपरक नहीं। इससे केवल

---

१. वंश भास्कर के टीकाकार कृष्णसिंह बारहट ने सूर्यमल्ल को 'भाषा' का आदि कवि कहा है--
देवबानि में आदि कवि जिम हुव बल्मक जात।
सूर्यमल्ल भाषा सुकवि मम मत तिमहिमनात।। वंश ३२५७।३७।

२. पुर दिल्ली ग्वालेर पुर बीज ब्रजादिक देस।
पिंगल उपनायक गिरी तिन की मधुर बिसेस।

३. 'अकबर कंपोज्ड डिस्कस इन ब्रजभाषा एण्ड इफ् एनी इंडो आर्यन लैंग्वेज कुड बी लैबेल्ड एज बादशाही बोली इन नार्थ इंडिया, इट वाज सर्टेनली ब्रजभाखा।' डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, इंडोआर्यन एण्ड हिन्दी, पृष्ठ १८०-१८१।

4. John Lotz, Symbols make man, Psycholinguistics, p. 1-15.

5. Eric H. Lenneberg and F. M. Roberts, The Language of Experience Psycholinguistics, pp. 496.

६. इस सिद्धान्त के लिए द्रष्टव्य : E. H. Lenneberg 'Congnition in Ethnolinguistics" Language (29; 263-171) तथा 'A note on Cassirer Philosophy of Language'. (Philosophy and Phnomenonological Research, 15, 512-522).

उस वैशिष्ट की सूचना मिलती है जो किसी भाषा के किसी विशेष संस्कृति, धर्म, राजनैतिक वर्ग या भावात्मक संदर्भों से संबद्ध हो जाने के कारण प्राप्त होता है। इसका स्रोत बाह्य है, भाषा की आंतरिक संरचना में नहीं। मध्यकाल में एक भाषा की दूसरी भाषा से सौंदर्य परक विशिष्टता घोषित करने की प्रवृत्ति ही विशेष रही।[1]

कभी-कभी एक ही भाषा के बोलीगत या वर्गगत भेदों के प्रति भी इसी प्रकार की संधारणाएं जमने लगती हैं। किसी बोली की सौन्दर्य तात्विक प्रतिष्ठा कुछ बाह्य कारणों से हो जाती है। इस विशेषता का आंतरिक संरचना के आधार पर कदाचित ही विश्लेषण किया जाता है। परिनिष्ठित बोली का अधिक अलंकरण और संस्करण भी होने लगता है। फलतः उसकी उपयोगितापरक प्रेरणात्मक और सौंदर्यतात्विक संभावनाएँ भी बढ़ जाती है।

बोली या भाषा की विशिष्ट स्थिति एक विशिष्ट भाव या विषय की अभिव्यक्ति के संदर्भ में हो जाती है। इस विषय की विवृत्ति के लिए उस भाषा के प्रयोग की अनिवार्यता का एक सामूहिक विश्वास दृढ़ होने लगता है। किसी भाषा या बोली के किसी साहित्य-विधा के साथ बंध जाने के फलस्वरूप भी उस भाषा के संबंध में यह दृष्टि जन्म ले सकती है। किन्तु आज के भाषा-विज्ञानी के सामने यह प्रश्न बना रह जाता है कि कोई सौंदर्य तात्विक विशेषता भाषा की प्रकृति से संबद्ध होती है अथवा कवि-साधना-जन्य। वस्तुतः कवि भाषा की सौंदर्यतात्विक संभावनाओं का अन्वेषण भाषा की प्रकृति के आधार पर ही कर सकता है। भाषा के रूपों का नवीन विकास एक सीमा तक ही सभव होता है।

यह निर्विवाद है कि ब्रजभाषा को जो सौंदर्य तात्विक वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ उसके लिए बाह्य कारण बहुत कुछ उत्तरदायी हैं। शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश की भाषिक और साहित्यिक परंपरा का रिक्थ इसे प्राप्त हुआ। मध्यदेश की महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति इसे प्राप्त हुई जिसके कारण यह अन्तर्क्षेत्रीय प्रसार कर सकी। साहित्य शास्त्र में 'रस-राज' की प्रतिष्ठा हुई और उसका वहन करने की क्षमता ब्रजभाषा में लक्षित हुई। राजस्थान और बुंदेलखंड की सामंतीय शक्तियों ने इसको आश्रय दिया। मुगल दरबार में यह 'बादशाही बोली' बनी। वैष्णव-भक्ति-आंदोलन का सशक्त संदर्भ भी इसको प्राप्त हुआ। धार्मिक दृष्टि से घोषणा की गई—मांगी 'मचल- मचल जामें मांगी हरि माखन रोटी' पद, गीत, ध्रुपद जैसी विधाओं

---

१. M. Pei, The story of Language (Philadelphia, 1949) PP. 254-55; Voices of Man. New York, 1962 P. 95. संस्कृत काव्यशास्त्र में संस्कृत से प्राकृत को अधिक मधुर-कोमल मानने के आग्रह चलते मिलते हैं।

क. अमिअं पाउअ कव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति।
कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति। हालः गाथा सप्तशती, २।

ख. ललिए महु रक्खरए जुवई जण बल्लहे ससिंगारे।
सन्ते पाइअ कब्बे को सक्कइ सक्कअं पढिउम्॥ (वज्जालग्गं)

ग. परुसा सक्कअ बंधा पाउअ बंधो वि होइ सुउ भारो।
पुरुस महिलाणं जेत्ति अभिहन्तरं तेत्तियभिमाणम्। राजशेखर : कर्पूरमंजरी।

घ. वाणी प्राकृत समुचित रसा बलेनैव संस्कृतं नीता। गोवर्द्धनः आर्या सप्तशती १।५२।

के साथ भी ब्रजभाषा का संबंध हो गया। इसका वस्तु-विधान माधुर्य से लवालव हो उठा। आभीर, गुर्जर, गोप जैसी निश्छल जातियों की अभिव्यक्तिपरक सरलता और अनगढ़ता भी इसे प्राप्त हुई। इन्ही सब कारणों से ब्रजभाषा का सौंदर्यतात्विक वैशिष्ट स्थापित हो गया। जब साहित्य शास्त्रीय शृंगार भक्तिशास्त्रीय 'माधुर्य' में परिणत होने लगा तो प्रायः शृंगार में प्रयुक्त बिंब और प्रतीकों को थोड़ी भंगिमा के साथ माधुर्य की अभिव्यक्ति में भी प्रयुक्त किया जाने लगा। साथ ही प्राकृत और अपभ्रंश की जिन विकासमूलक प्रवृत्तियों को काव्य के लिये उपयुक्त कहा गया, वे ब्रजभाषा में और भी स्पष्ट हो उठीं। इन्हीं अन्तर्बाह्य कारणों से ब्रजभाषा के लालित्य और माधुर्य के संस्कार मान्य हुए। 'निराला' जैसे नाद-सौंदर्य के पारखी ने ब्रजभाषा के इस वैशिष्ट को स्वीकार किया : "ब्रजभाषा साहित्य के विचार से बड़ी मधुर भाषा है। इसके शब्द टूटते हुए इतने मुलायम हो गये हैं जिससे अधिक कोमलता आ सकती।"[1] उन्होंने आगे कुछ उदाहरणों से अपनी बात को पुष्ट किया : "ब्रजभाषा ने अपने क्रियाओं के रूपों में भी विशेष श्रुतिकोमलता दिखलाई है। 'लाभ·करते' की तुलना में 'लहत', 'मुड़ते' की तुलना में 'मुरत', 'पाते' की अपेक्षा 'पावत' विशेष श्रुति-मधुर है[2]।"

१. काव्य शास्त्र में ध्वनि माधुर्य

१.१. **मूल संधारणा**—सामान्य भाषा में ध्वनि-प्रयोग सार्थक इकाइयों की निर्मिति में होता है। ध्वनियों पर अध्यारोपित लयात्मक और रागात्मक गुण सार्थक इकाइयों को कुछ अतिरिक्त भाव छायाएँ प्रदान करते हैं। काव्यभाषा में ध्वनितत्व का उपयोग एक विशिष्ट शैली के निर्माण में भी होता है। इसमें अर्थ निरपेक्ष ध्वनि विधान का शैलीकरण अर्थ संदर्भ के साथ सहअस्तित्व रखता है। सौंदर्यतात्विक ध्वनि नियोजन की प्रविधियों द्वारा भाषा में एक ऐसी सौंदर्यमूलक ध्वनि व्यवस्था उभरने लगती है जो सामान्य अर्थ और काव्यार्थ के बीच सेतु का काम करती है। इस प्रकार एक नवीन अर्थ इकाई जन्म लेती है। इसी आधार पर ध्वनिग्रामीय सौंदर्य, छन्द संगीत तत्व, पढ़न्त, काकु तथा ध्वनि प्रयोग का सांदर्भिक औचित्य जैसे पारिभाषिक काव्यशास्त्र में उभरने लगते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में भी ध्वनिप्रविधियों के संबंध में कुछ सिद्धांत निर्धारित हुये। दूसरी ओर भाषा विज्ञान में भी शैली तत्व के अन्तर्गत काव्य में प्रयुक्त ध्वनि-तत्व का विश्लेषण होने लगता है।[3]

भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों ने जब काव्यगत ध्वनि व्यवस्था पर विचार किया तो उनकी दृष्टि में एक ओर संस्कृत जैसी परिनिष्ठित, परिवर्तन की संभावनाओं से रहित, शास्त्रीयता से बोझिल, जटिल सन्धि नियमों से शासित और व्यंजनबहुल व्यवस्था वाली भाषा थी, और दूसरी ओर स्वर बहुल, अपेक्षाकृत

---

१. प्रबंध पद्म पृष्ठ, १४-१५।

२. वही, पृष्ठ, १०१।

३. A. W. Groot, 'Phonetics in its relation to Aesthetics.' in 'Mannual of Phonetics' (Ed. L. Kaiser, 1957) Amsterdam, P. 385

अनगढ़, गीति तत्व की जीवंत संभावनाओं से युक्त प्राकृत भाषा थी। आचार्यों की ध्वनि संधारणा में संस्कृत के कुछ ध्वनि-संयोजनों की अस्वीकृति और कुछ प्राकृत ध्वनि व्यवस्था की स्वीकृति झलकती है।

१. २. कोमलता : मधुरता

व्यक्त-अव्यक्त रूप से आचार्यों का ध्वनि सौंदर्य निरूपण उनके शृंगारपरक संस्कारों से प्रभावित रहा। इसीलिए कोमलता और मधुरता से संबंधित ध्वनियों का विवेचन अधिक किया गया है। भामह ने ध्वनियों के कुछ संधिजन्य विकासों को कठोर कहा। त वर्गीय ध्वनियों का शकार के साथ प्रयोग नहीं करना चाहिये। इस प्रकार की संधियों से—च्छ का उद्गम होता है,[1] जो सुनने में कठोर है। विसर्ग संधि-जन्य—ओ (मनः+रथ=मनोरथ) ध्वनि का भी भामह ने वर्णन किया है।[2] ञ-य (=पंचमाक्षर रहित, वर्णमाला की शेष बीस ध्वनियों) के पश्चात् यहि-'ह्' वर्ण हो तो पूर्ववर्ती वर्ण का सवर्ण[3] हो जाता है। यह भी श्रुत-पारुष्य के कारण वर्जित है। कुंतक ने भी वर्ण्यवस्तु के साथ वर्ण्यवस्तु के औचित्य को सिद्धांततः माना है।[4] किसी भी प्रसंग में अनुचित वर्ण्य योजना श्रुतिपेशल नहीं हो सकती।

कठोर ध्वनियों के वर्णन के संबंध में कुछ किंवदंतियाँ भी मिलती हैं। मगध के एक राजा शिशुनाग ने अपने महल के भाषाव्यवहार में आठ ध्वनियों का प्रयोग वर्जित कर दिया था।[5] ट, ठ, ड, ढ, श, ष, ह, और क्ष। इस प्रकार मूर्धन्य, ऊष्म, महाप्राण एवं संयुक्त ध्वनि कठोर मानी गयी हैं। मथुरा के एक राजा कुविन्द ने भी अपने यहाँ कठोर ध्वनियों का प्रयोग वर्जित कर दिया था।[6] कुन्तल देश के राजा सात-वाहन को संस्कृत के कठोर ध्वनि विधान की अपेक्षा प्राकृत ध्वनियाँ मृदुतर प्रतीत होती थीं।

ध्वनियों के उच्चारण भी कोमल, कठोर, मधुर-कटु हो सकते हैं। ल/र के संबंध में राजशेखर ने लिखा है कि लकार का बलपूर्वक उच्चारण अ रकार का अर्ध रेफ के समान पढ़ना चाहे नैयायिकों और वैया-करणों को शोभा देता हो, कवि का आदर तो इनके मधुर कोमल उच्चारण के कारण ही होता है।[7] इसका तात्पर्य यह है कि इन दोनों ध्वनियों का एक मृदुल मधुर उच्चारण कवि समाज में प्रचलित था। साथ ही 'ल' की अपेक्षा 'र' की कोमलता अधिक मान्य थी। ब्रज भाषा में ल > र की प्रवृत्ति/ल/के मृदुलीकरण का ही परिणाम हो। रेफयुक्त संयुक्त रूपों का प्राकृत अपभ्रंश की स्थिति में सबसे अधिक समीकरण और सरली-करण हुआ था। प्राकृत ध्वनि विकास की इस प्रवृत्ति को सौंदर्यमूलक महत्व देते हुए रेफ के उच्चारण को कठोर बतलाया गया है। धीरे-धीरे कोमल और कठोर ध्वनियों की सामान्य संधारणाओं में वृत्ति, गुण और रीति के विवेचन में सैद्धांतिक रूप ग्रहण किया।

---

१. काव्यालंकार ६।६०।
२. वही ६।६१।
३. वाक्+हानि=वाग्घानि : पद+हति=पद्धति।
४. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, २।२ वृत्ति।
५. राजशेखर : काव्य मीमांसा अध्याय १०, पृष्ठ १२३।
६. राजशेखर : काव्य मीमांसा अध्याय १०, पृष्ठ १२३।
७. वही, अध्याय-७, पृष्ठ ८३।

१.३. मधुरावृत्ति

भरत के अनुसार 'भारती वृत्ति'[1] नाटकीय भाषा व्यापार है। जो उत्तम पात्रों द्वारा प्रयुक्त (=संस्कृत) है। यह स्त्रियों के लिए वर्जित है।[2] अग्निपुराण ने विस्तार करते हुए भारती वृत्ति में प्राकृत को भी समेटा—"वाक् प्रधाना नरप्राया स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता।"[3] भरत के अनुसार भारती 'शब्द वृत्ति' है। उद्भट ने इसे रसानुगुण शब्द व्यवहार के सिद्धांत में बांधकर कोमला, परुषा, और उपनागरिका—यह त्रिविध वर्गीकरण किया। इस प्रकार शब्द-व्यवहार के स्थान पर वर्ण व्यवहार की प्रतिष्ठा हुई। रुद्रट ने पहले वृत्ति विवेचन समास के आधार पर किया और वृत्तियों का नामकरण भौगोलिक आधार पर किया।[4] पीछे अनुप्रास प्रकरण में उन्होंने वर्ण-प्रयोग के आधार पर पांच वृत्तियों का परिगणन किया। मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा।[5] इस प्रकार ध्वनियों के आधार पर वृत्ति निर्णय प्रचलित हुआ।

मधुरावृत्ति के संबंध में कहा गया कि इसमें स्पर्शों के पूर्ववर्गीय नासिक्य व्यंजन प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार सानुनासिक वातावरण मधुरा की प्रमुख पहचान के रूप में स्वीकृत हुआ। संयुक्त लकार का भी प्रयोग अपेक्षित है। ह्रस्व स्वर के व्यवधान से युक्त रकार णकार भी आते हैं। रुद्रट ने प्रायः संयुक्त ध्वनियों के आधार पर वृत्तियों का परस्पर अलगाव सिद्ध किया। 'परुषा' में कठोर संयुक्त ध्वनियों के उदाहरण दिये।[6] इससे यह सहज अनुमेय है कि मधुरा में संयुक्त वर्ण योजना का अभाव ही मान्य था। केवल नासिक्य प्रकृति के संयुक्त व्यंजन रह सकते थे। 'ललिता' में लघु ध्वनियों के विन्यास, घ, ध, र, स ध्वनियों का बाहुल्य और असंयुक्त/ल्/ध्वनि का प्रयोग आवश्यक माना गया।[7] ल् की ध्वनि के द्वित्व और सामान्य रूप के आधार पर मधुरा और ललिता को भिन्न किया गया है। उदाहरण में ल/र ध्वनियाँ अधिक है। रुद्रट ने संयुक्त और असंयुक्त ध्वनियों को वृत्ति विवेचन का मुख्य आधार बनाया।

मधुर संदर्भ में केवल नासिक्य और वर्गीय व्यंजन के संयुक्त रूप आ सकते थे। शेष संयुक्त रूप मधुरा में प्रायः वर्जित और परुषा में आवश्यक हैं।[8] असंयुक्त ध्वनियों में से मूर्धन्य ध्वनियों को मधुर परिवेश से यथासंभव बाहर रखने के लिए कहा गया। लघु असंयुक्त, विशेष रूप से/र/,/ल/,/स/ध्वनियाँ ललित संदर्भों के उपयुक्त हैं।[9] मधुरा ललिता और कोमला वृत्तियों की ध्वनि संबंधी मान्यताएं परस्पर विनिमेय रही।

---

१. शेष तीन वृत्तियाँ कैशिकी (ग्रेसफुल मोड ऑफ एक्शन) आर्भटी (वायलेंट मोड ऑफ एक्शन) तथा सात्वती (एक्शन ऑफ मेंटल मूड्स) हैं।

२. ना० शा० २२।२५।

३. अग्नि० ३४०।६।

४. काव्यालंकार २।३, ४; नामकरण=पांचाली, लाटीया, गौड़ीया। वामन ने भी नामकरण की यही पद्धति अपनायी।

५. काव्यालंकार २।१८-३१।

६. लिप्सा, कुत्सित, कर्म, क्रम, ह्रं, ह्री आदि। काव्यालंकार २।२६।

७. वही २।१९।

८. काव्यालंकार २।२६।

९. रुद्रट काव्यालंकार २।२९।

१.४. माधुर्य गुण

संस्कृत काव्य शास्त्र के क्षेत्र में दस और तीन गुण मानने वाली दो परंपरायें मिलती हैं।[1] तीन गुण वाली परंपरा ने गुण निरूपण का आधार समास रखा।[2] दण्डी ने मिला-जुला आधार स्वीकार किया।[3] दण्डी ने श्लेष, समता और सुकुमार गुणों का निरूपण वर्ण विन्यास के आधार पर किया है। 'श्लेष' में अल्पप्राण वर्णों के प्रयोग से उत्पन्न शिथिलता के अभाव की बात कही गयी है।[4] 'समता' में एक ही प्रकार की शैली का प्रयोग होता है। वर्णानुसार यह मृदु, स्फुट, और मृदु-स्फुट हो सकती है। मृदु वर्ण ये हैं : ह्रस्व स्वर, वर्ग के अन्त्यक्षर तथा दन्त व्यंजन। स्फुट में विकट[5] और मृदु स्फुट में मिली-जुली योजना रहती है।[6] 'सुकुमार' वर्णों का प्रायः प्रयोग होता है। बीच में निष्ठुर वर्ण आ सकते हैं। इस प्रकार दण्डी ने मृदु ध्वनियों की धारणा को ग्रहण किया।

माधुर्य गुण को दण्डी ने शब्दार्थ गुण माना। अर्थात् इसमे ध्वनियाँ और अर्थ दोनों ही मधुर होने चाहिए। इस प्रकार संरचना की दृष्टि से माधुर्य की दृष्टि विशिष्ट हो जाती है।

१.५. रीति : सिद्धांत और माधुर्य

रीति का विवेचन कुछ आचार्यों ने समास के आधार पर किया।[7] और कुछ ने अनुप्रास के आधार पर।[8] कुछ आचार्य मिश्रित आधार को लेकर चले।[9] दण्डी की योजना इस प्रकार की प्रतीत होती है : समाधि-गुणआलंकारिक व्यवहार; ओजसमास; वर्ण-माधुर्यअनुप्रास। यह भी मिश्रित प्रणाली है। भामह ने वैदर्भी में कोमल वर्णों का प्रयोग आवश्यक माना है।[10] अन्य आचार्यों के वैदर्भी रीति निरूपण का सार यह है : वैदर्भी विदर्भ देश से संबद्ध; ललितात्मिका (एलीगेंट मोड ऑफ एक्सप्रेशन); मधुराक्षर विन्यासः प्रायः समासाभाव : सभी गुणों का समावेश : प्रसाद माधुर्य की विशेषता : कैशिकी वृत्ति से संबद्ध शृंगार हास्य के लिए उपयुक्त। इस प्रकार वैदर्भी के निरूपण में मधुर और कोमल ध्वनियों से संबंधित सभी मान्यताएँ समाविष्ट हैं।

---

१. भामह ३ गुणों को मानकर चले और भरत तथा दण्डी १० गुणों को। दस गुणों वाली परंपरा वैदर्भों की और ३ गुणों वाली काश्मीरियों की थी। वी० राघवन, शृंगार प्रकाश, पृष्ठ २९३।

२. भामह : काव्यालंकार २।१।

३. दण्डी काव्यादर्श १।४१, ४२ इनमें वर्ण, शब्द, अर्थ को आधार माना गया है।

४. काव्यादर्श १।४३।

५. स्फुट वर्ण ये हैं : दीर्घ स्वर, ओष्ठ वर्ण एवं ठ् ड् श ष और ह।

६. काव्यादर्श १।४७।

७. रुद्रट इसी प्रकार के आचार्य हैं।

८. रीति को वृत्त्यानुप्रास के रूप में माना गया। मम्मट का नाम इस संबंध में उल्लेखनीय है।

९. राजशेखर ने समास अनुप्रास और यौगिक तीन तत्वों के आधार पर रीति का विवेचन किया। भोज और अग्निपुराण की भी पद्धति मिश्रित है।

१०. काव्यालंकार १।३४।

ऊपर के विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत के आचार्यों ने मधुर के निरूपण में कठोर ध्वनियों को निषिद्ध किया और मधुर कोमल एवं ललित ध्वनियों को स्वीकृत। अपने विशिष्ट संदर्भों में दोनों का औचित्य भी रहता है। निषेध पक्ष में इन ध्वनियों या ध्वनि संयोगों का वर्जन रहा :—

१. **कुछ सन्धिजन्य विकास :** तवर्ग+श=च्छ : विसर्ग संधिजन्य—ओ (मनः+रथ+मनोरथ); पंचमाक्षर रहित वर्णमाला की शेष ध्वनियों के पश्चात् ह वर्ण होने पर पूर्ववर्ती सवर्ण हो जाता है। (वाक्+हानि-वाग्घानि)।

२. **संयुक्त वर्ण :** क्ष तथा अधिकांश संयुक्त ध्वनियाँ।

३. रकार का रेफ के समान एवं द्वित्व

४. **उच्चारण** लकार का कठोर और रकार का रेफ के समान उच्चारण।

५. दीर्घ स्वर

६. मूर्धन्य ध्वनियाँ : ट, ठ, ड, ढ, ण, ष।

७. ओष्ठ्य वर्ण

८. श, ह

मधुर संदर्भों के लिए स्वीकृत ध्वनियाँ ये हैं :—

क. मधुर ध्वनियाँ : नासिक्य+स्पर्श, संयुक्त लकार;

ह्रस्वस्वर के व्यवधान से रकार और णकार

ख. ललित ध्वनियाँ : लघु वर्ण; घ, ध, र, स; असंयुक्त ल।

ग. कोमल ध्वनियाँ : ह्रस्व स्वर; वर्ग के अन्त्यक्षर; दन्त्य-व्यंजन।

वृत्ति, गुण और रीति के विवेचन में जो सौंदर्यतात्विक आकृतियाँ स्वीकृत हुई, वे ब्रजभाषा के ध्वनि विधान में विकसित हुई। इस विकास-क्रम में निषिद्ध ध्वनियों का निराकरण और स्वीकृत ध्वनियों का वरण सहज स्वाभाविक हो गया। इसी दृष्टि से ब्रज भाषा की ध्वन्यात्मक प्रकृति पर आगे विचार किया गया है।

२. माधुर्य : स्वर स्तर

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि व्यंजनों की अपेक्षा स्वर ध्वनियाँ अधिक कोमल संगीतात्मक और लचीली होती हैं। ब्रजभाषा की प्रकृति स्वर बहुल है।[1] इसके शब्द प्रायः स्वरांत हैं। शब्दान्त दीर्घ स्वर संगीतात्मक संभावनाओं में वृद्धि करते हैं इसलिये ब्रजभाषा संगीत के माध्यम के रूप में भी स्वीकृत रही। नीचे ब्रजी के स्वर विधान की कतिपय विशेषताओं का परिचय दिया गया है जिनका सौंदर्य तात्विक महत्व है।

२.१. स्वरान्त पद रचना

ब्रजी की पद रचना दीर्घ स्वरांत भी है और ह्रस्व स्वरांत भी। दीर्घस्वरान्त पद आकारान्त या औकारान्त हैं, और ह्रस्व स्वरांत उकारान्त।

---

१. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी : "भारत की आर्य बोलियों में, स्वर ध्वनि बहुलता थी। ब्रजभाषा भी इस स्वर बहुलता के कारण (क्योंकि इसके सब शब्द स्वरान्त होते थे) विशेषतया श्रुति मधुर भाषा है।" निबंध संग्रह, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ ११०-११]

२.१.१. आकारान्त पद

सामान्यरूप से पदों की आकारान्तता खड़ी बोली की विशेषता है। किंतु पद के अन्त में आने वाला /-आप्रायः शिथिल, अघोष या लुप्त हो जाता है। फलतः अकारान्त शब्द व्यंजनान्त होने के संकट में पड़ जाते हैं। स्वरांतता की रक्षा के लिए अन्त्य/-अ/का दीर्घीकरण कर दिया जाता है। उदाहरण के लिये/गोपाला/[१] 'गोपाल',/मोहना/[२] 'मोहन',/दरसना/[३] 'दर्शन',/मगना /[४] 'मग्न' शब्दों को लिया जा सकता है। नयन के स्थान पर/नयना ~ नैना।[५] जैसे रूप अधिक सुन्दर लगते हैं।

/-आ/के स्थान पर/-व/का प्रयोग भी कहीं-कहीं मिलता है जैसे 'नाचत नटवा मोर सुधंग अंग, तैसे बाजत मेह मृदंग।'[६] यह रूप पूर्वी अंचल के समकक्ष है।

इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप स्वरांत संगीतात्मकता अक्षुण्ण बनी रहती है। यह आकारान्तता उससे भिन्न है जो खड़ी बोली में संस्कृत के विसर्ग से विकसित मिलती है। यहाँ स्वर सुरक्षा की अथवा सौंदर्य वृद्धि की प्रच्छन्न प्रवृत्ति है।

२.१.२. औकारान्त पद

खड़ी बोली के सपाट-/-आ/प्रत्यय की अपेक्षा/-औ/गोलाकार होने के कारण अधिक ललित-कोमल माना जाता है। खड़ी बोली और ब्रजभाषा का मुख्य अंतर अधिक है।[७] वैसे ब्रजी के निरूपण में /-ओ ~ औ/ दोनों की स्थिति मानी गई है।[८] इनमें से प्रथम कनौजी की ओर बढ़ने पर मिलती है और द्वितीय पश्चिमी ब्रज में। साहित्य में धीरे-धीरे औकारान्त प्रवृत्ति अधिक लोकप्रिय होती गयी, जो/-ओ/की अपेक्षा मदुलतर है।

इस प्रवृत्ति का विकास प्राकृत युग से ही हुआ है। प्राकृतों की एक प्रवृत्ति विसर्ग > ओ की थी।[९] बहु-वचन रूप विसर्ग के लोप से आकारान्त रह गये।[१०] कुछ बोलियों में आज भी यह संरचना मिलती है।[११] क्रिया-

---

१. परमानंददास, हस्तलिखित पद संग्रह, पद-७०।

२. कृष्णदास, हस्तलिखित पद संग्रह, पद-१२३ (डॉ० दीनदयाल गुप्त)

३. अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीतल, पद-२८।

४. नन्ददास, वही, पद-३९।

५. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, डॉ० सरयू प्रसाद अग्रवाल, सूरदास मदन मोहन, पद-५।

६. भक्त कवि व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी पद-६८०।

७. डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १८४।

८. कैलॉग, ग्रामर ऑफ द हिन्दी लंग्वेज, पृष्ठ-१२८।

९. पुत्रः आगतः > पुत्तो आगतो। विसर्ग संस्कृत में पुंलिग एक वचन का प्रत्यय है।

१०. पुत्राः आगताः > पुत्ता आगता

११. रा० ए०—लड़को आयो 'लड़का आया' तथा ब० व० लड़का आया 'लड़के आये' गुजराती और सौराष्ट्री में भी यही प्रवृत्ति मिलती है।

संरचना के अतिरिक्त संबंध कारक भी ओकारान्त मिलते हैं।[1] यह ओकारान्त प्रकृति प्रायः सभी प्राकृतों की थी।[2] मागधी की भी यही प्रकृति थी पर आज मागधी से विकसित पूर्वी बोलियों में यह रूप नहीं मिलता।[3] ब्रजी, राजस्थानी, गुजराती और सिन्धी क्षेत्र में यह प्रवृत्ति मिलती है। भविष्य रचना भी ओकारान्त होती है।[4] /-आ/प्रत्यय वाला क्षेत्र कुरुजनपद से कुरु जांगल (बांगर) होता हुआ पंजाब के अंत तक चला गया है।

राजस्थानी की /-ओ/ वाली प्रकृति ब्रज क्षेत्र में कुछ सीमित हो गयी है। संबंध कारक और क्रिया रूपों की रचना में तो दोनों क्षेत्र समान हैं किंतु ब्रज में कुछ आकारान्त संज्ञारूप भी मिलते हैं : राजस्थानी 'राम को छोरो'=ब्रजी० राम को छोरा'; राज० 'थारो छोरो=ब्रजी० तेरो छोरा।' इस प्रकार ब्रजी की प्रकृति मिश्रित है। आकारान्त रूप कौरवी बोली के सान्निध्य के कारण हो सकते हैं। इस प्रवृत्ति की दृष्टि से पांचाली और कनौजी ब्रजी के समीप हैं।[5] आकारान्त संज्ञायें जहाँ हिन्दी बहुवचन में एकारान्त हो जाती हैं वहाँ ब्रजी में आकारान्त ही रहती है।[6] ब्रजी की भाँति पांचाली (कनौजी) भी मिश्रित प्रकृति की है।[7] किंतु इन दोनों में एक प्रवृत्तिगत अंतर यह है कि ब्रजी में ओ > औ की प्रवृत्ति मिलती है[8] कनौजी में नहीं।

इस प्रकार ब्रजी की क्रिया, संज्ञा, विशेषण की रचना ओकारान्त है।[9] औ अपनी विवृत्ति, और गोलाई और अन्य स्थिति के कारण अत्यन्त संगीतात्मक है। इस प्रवृत्ति का सौंदर्यतात्विक मूल्यांकन किया गया है। ओ में गोलाई तो है, पर निवृत्ति नहीं। इसके स्थान पर औ का विकास माधुर्य के अनुकूल है।

२.१.३. उकारान्त पद

यह ब्रजभाषा की प्रमुख प्रवृत्ति है, और एक दीर्घ शृंखला की कड़ी भी है।[10] इस प्रवृत्ति का संबंध आभी-

---

१. राज० को=गुज० नो=हि० का; राज० का=गुज० ना=हि० के।

२. पं० किशोरीदास बाजपेयी : भारतीय भाषा विज्ञान, पृष्ठ १५३।

३. वही।

४. राज०--छोरो जायगो 'छोरा जायेगा'। सार्वनामिक विशेषण भी तेरो, मेरो आदि मिलते हैं। पूर्व की ओर चलने पर इस प्रत्यय का लोप होता चलता है।

५. लरिकवा आओ है 'लड़का आया है।'

६. ब्रजी--छोरा गये=हि० 'लड़के गये।' राज० में बहुवचन रूप आकारान्त ही है।

७. पांचाली एक ओर ब्रज से मिली है दूसरी ओर खड़ी बोली के मुरादाबादी क्षेत्र से। उधर अवधी से भी उसकी रेखा मिलती है। इस लिये यहाँ-आ और औ दोनों की झलक है। किशोरीदास बाजपेयी, भारती भाषा विज्ञान० १८१।

८ यह प्रवृत्ति परवर्ती है। प्राकृतों में ओकारान्त रूप नहीं मिलते। डा० शिवसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा साहित्य और उसका साहित्य, पृष्ठ-२३९।

९. आधुनिक ब्रजी में संयुक्त क्रिया का एक रूप ओकारान्त भी बन जाता है : । गयौ + ओ। । गयो। 'गया था'। पश्चिमी ब्रजी के क्षेत्र में इसका भी रूप / गयो / ही मिलता है। केवल अंत्य / औ / की दीर्घता में वृद्धि हो जाती है।

१०. द्रष्टव्य : मेरा लेख 'उकार बहुला प्रवृत्ति की परंपरा और ब्रज की 'बोली', भारतीय साहित्य, अक्टूबर १९५६, पृष्ठ ६५।

रादि जातियों से जोड़ा जाता था।[1] सभी मध्यकालीन भाषाओं की यह एक विशेषता थी।[2] विशेष रूप से यह पश्चिमी प्राकृतों में मिलती है।[3] ध्वनि विकास की अन्य प्रवृत्तियों के कारण[4] उकारान्तता ही उकार बहुलता में भी वृद्धि होती गयी। प्राकृत अपभ्रंश में जो शब्द रूप उकारान्त नहीं थे, वे भी ब्रजी में उकारान्त हो गये हैं।[5] विदेशी भाषाओं से आगत शब्दों के साथ भी यह प्रत्यय प्रयुक्त होता है।[6] संज्ञाओं के साथ-साथ विशेषण भी उकारान्त हो गये : सुंदरु, लालु। वर्तमान कालिक कृदन्त से व्युत्पन्न क्रिया रूप भी उकारान्त होते हैं। जैसे ।जातु।'जाता', ।बसतु। 'बसता'। स्वरांत क्रिया धातुओं के आज्ञावाचक रूपों की रचना में ।-उ। की सहायता ली जाती है।[7] इस प्रकार ब्रजी की रूप रचना और शब्दावली उकारान्त और उकार बहुला हो जाती है।

ब्रजी का ।-उ। भी संगीतात्मक महत्व रखता है। खड़ी बोली के सपाट ।-अ। की अपेक्षा गोलाकार ।-उ। अधिक कोमल और कलात्मक है। स्वरों की इस गोलाई के कारण बंगला आदि पूर्वी भाषाएँ ललित-कोमल मानी जाती हैं। उकारान्त होने के कारण ही तेलुगु अधिक मधुर और संगीतात्मक कही जाती है। यहाँ भी ब्रजी की यह प्रकृति देश के पूर्वाञ्चल की भाषाओं के समकक्ष है।

२.२. विवृत्तोन्मुख स्वर विकास

उच्चतर मध्य, अग्र अगोलीकृत स्वर ।ए। का विकास निम्नतर मध्य, अग्र स्वर ।ऐ। में हो जाता है, और उच्चतर मध्य पश्च गोलीकृत स्वर ।ओ। का विकास निम्नतर मध्य पश्च स्वर /औ/ में। इस आधार पर परिनिष्ठित हिन्दी और ब्रजी का विभेद भी होता है। √दे-का ब्रजी में √दै—मिलता है। सहायक क्रिया 'है' के महाप्राणत्व का लोप होकर ब्रजी में ।ऐ। ही रह जाता है। उदाहरण : रामु ऐ='राम है।' स्वर संकोचन की प्रवृत्ति के कारण भी निम्नतर मध्य स्वर विकसित होता है : प्रा० दीसइ > ब्रजी दीसै : कहइ > कहै : आवइ > आवै, सबहिं > सबइ > सबै 'सबको'। इन्हीं प्रवृत्तियों के फलस्वरूप ।ओ। > ।औ। हो जाता है।

सानुनासिक होने पर उच्चतर मध्य स्वरों की प्रकृति निम्नतर होती जाती है। उच्च स्वरों की अपेक्षा निम्न स्वर संगीत और माधुर्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं।

२.३. स्वरों का ह्रस्वीकरण

जैसा कि पहले देखा जा चुका है ह्रस्व स्वर काव्यशास्त्र में मृदु माने गये हैं।[8] ब्रज में स्वरों के ह्रस्वीकरण

---

१. ना० शा० १७।४९, ५४, ५५।

२. प्राकृतों में अः > ओ के स्थान पर वैकल्पिक रूप से अः > उ के उदाहरण भी मिल जाते हैं। नियं प्राकृत में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है। द्रष्टव्य : मेरी 'मथुरा जिले की बोली', पृष्ठ ४६-४८।

३. डा० चटर्जी ओ० डे० ऑफ बंगाली लैंग्वेज, पृष्ठ १२६।

४. मध्यग-व- > उ-की प्रवृत्ति उल्लेखनीय है। इस पर आगे विचार किया गया है।

५. सं० सर्व > प्रा० सव्व > ब्र० सब; सं० ग्राम > प्रा० गाम > ब्र० गामु।

६. दरबार > दरबारु; नसीब > नसीबु, होश > होसु।

७. √-जा-से।जा।उ। 'जा',√खा-से ।खाउ। 'खा',√ले-से । लेउ। उकारान्तता मिलती है।

८. द्रष्टव्य प्रस्तुत लेख—१.५।

की प्रवृत्ति भी मिलती है। छन्द शास्त्र में सभी दीर्घ स्वरों का ह्रस्व उच्चारण स्वीकृत रहा है।[1] ।ए। तथा ।ओ। का ह्रस्व उच्चारण मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं की प्रमुख विशेषता रही है।[2] दीर्घता का ह्रास पादान्त और पाद मध्य हो सकता है। पादान्त ह्रस्वीकरण अधिक लोकप्रिय रहा। क्योंकि तुक रचना अन्त में ही होती है। तुक रचना का बन्धन अधिक जटिल होता है। तुक का स्वरूप ध्वन्यात्मक भी है और मनोवैज्ञानिक भी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दीर्घ या ह्रस्व सौंदर्य और उसके सांदर्भिक औचित्य का समावेश होता है।[3] ।ए। और ।ओ। के ह्रस्वोच्चरित रूप [एँ] [ओँ] ब्रजी की भी विशेषता है।[4] सूरसागर के निम्नलिखित उदाहरणों से इस प्रवृत्ति को उदाहृत किया जा सकता है :

ए > एँ--

प्रभु [तेँ] रौ बचन भरोसौ साँचौ[5]
दर दर लोभ लागि लि [एँ] डोलति नाना स्वाँग बनाबैं[6]
कि [तेँ] दिन हरि सुमिरन बिनु खोए।[7]

ओ > ओँ

अर्थ काम [दोँ] उ रहैं दुवारैं धरम मोक्ष सिर नावैं।[8]
जो [कोँ] उ प्रीति करैं पद-अंबुज उर मंडत निरमोलक हार।[9]
कपट लोभ वाके [दोँ] उ भया ते घर के अधिकारी।[10]

उपर्युक्त दो लघूच्चरित रूपों के अतिरिक्त अन्य दीर्घस्वरों ।आ।,।ई।, ।ऐ। के भी ह्रस्व रूप साहित्य में मिलते हैं।[11]

अन्त्य दीर्घ स्वर।आ। के ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति भी मिलती है : "रेखा > रेख ~ रेह, धन्या > धन ~ धनि, वामा > वाम, वार्ता > बात, आशा > आस, लज्जा > लाज, भुजा > भुज आदि।

---

१. बौद्ध संस्कृत साहित्य में इस प्रकार का स्वर व्यत्यय अधिक प्राप्त होता है।

२. नियम और उदाहरण के लिये द्रष्टव्य : वाणीभूषण १।६; प्राकृत पिंगल १।४।

३. हेमचन्द्र ने छन्दानुशासन के आरंभ में ही इस तत्त्व की ओर संकेत किया है--"वंशस्थकादि-चरणान्त-निवेशितस्य गत्त्वं लघोः न हि तथा श्रुति शमदायि।"

४. डा० कैलाशचन्द्र भाटिया : ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन पृष्ठ १२४।

५. सू० सा० १।३२।

६. वही, १।४२।

७. वही १।५२।

८. सू० सा० १।४०।

९. वही १।४१।

१०. वही १।१७३।

११. प्रेमनारायण टंडन, सूर की भाषा, पृष्ठ ६२।६५।

२.४. स्वर शृंखलाएँ

एक से अधिक स्वरों का बिना किसी व्यंजन ध्वनि के व्याघात के एक साथ आना स्वर शृंखला है। संस्कृत में स्वर संयोग नहीं मिलते थे। मध्यकालीन प्राकृतों में जब स्वर मध्यग व्यंजन लुप्त होने लगे और स्वर एक दूसरे के समीप आकर अपनी शृंखलाएँ बनाने लगे। ब्रज भाषा तथा हिन्दी की अन्य बोलियों में, परिनिष्ठित हिन्दी की अपेक्षा स्वर संयोग की स्थितियाँ अधिक रहीं।[1] परिनिष्ठित हिन्दी विकासक्रम से कुछ हटकर तत्सम बहुल हो गयी है। इसीलिए उसका स्वर बाहुल्य भी कम हो गया है। ब्रजभाषा मध्यकालीन स्वरबहुल भाषाओं की परम्परा में आती है।

स्वर शृंखला दो स्वरों की भी हो सकती है और दो से अधिक स्वरों की भी।

२.४.१. दो स्वरों की शृंखला[2]——इस तालिका से स्पष्ट हो जाती है।

प्रथम स्वर	द्वितीय स्वर												
		अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	एँ	ऐ	ओ	ओं	औ
	अ			+	+	+	+	+	+	+			
	आ			+	+	+	+	+			+		
	इ	+	+			+		+	+	+			
	ई												
	उ	+	+	+	+			+					
	ऊ												
	ए			+	+	+	+	+					
	एँ							+					
	ऐ							+	+				
	ओ			+	+	+	+						
	ओं			+		+		+					
	औ	+		+									

---

१. अन्य प्रादेशिक बोलियों में भी खड़ी बोली की अपेक्षा स्वर-संयोग की स्थितियां अधिक हैं। भोजपुरी के स्वर-संयोगों के लिए द्रष्टव्य : डा० विश्वनाथप्रसाद, फोनेटिक एंड फोनोलॉजिकल स्टडी ऑफ भोजपुरी (१९५०) पृ० ११८-११९। इस पुस्तक में ७२ स्वर संयोग माने गये हैं। अवधी में २४ स्वर-संयोग माने गये हैं: डा० बाबूराम सक्सेना, एवोलूशन ऑफ अवधी, (१९३६)।

२. यह तालिका डा० कैलाशचन्द्र भाटिया की 'ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन' पुस्तक, पृष्ठ १२८ से ली गयी है।

बोल चाल की ब्रजी में इनसे कुछ अधिक ही स्वर-संयोग मिलते हैं।[1] दीर्घ स्वरों, लघूच्चरित रूप और उनके संयोग साहित्यिक ब्रजी की विशेषता है।

२.४.२. दो से अधिक स्वरों की शृंखला

दो से अधिक स्वरों की शृंखला दो प्रकार की मिलती है: एक श्रुतियुक्त शृंखला और दो संयोजक (जंकचर) या विवृत्ति (हिआएटस) से युक्त शृंखला। प्रथम प्रकार की शृंखला एक ही शब्द में आयी ध्वनि की बनती है और दूसरे संयुक्त पदों की।

२.४.२.१. श्रुतियुक्त त्रिस्वर शृंखला

इस शृंखला में ।इ।, ।ई।, ।उ। अथवा ।ऊ। की स्थिति अवश्य रहती है। इन्हीं के द्वारा क्रमशः [य] और [व] श्रुतियां जन्म लेती हैं। कुछ उदाहरण ये हैं :

।इ आ ई। : ।सि आई।=[स् इ^{य} आई] 'स्याही'

।इ आ ऊ। : ।पि आऊ।=[प् इ^{य} आ ऊ] 'प्याऊ'

।अ ऊ आ। : ।कौआ।=[क् अ उ^{व} आ] 'कौआ'

डॉ० प्रेम नारायण टंडन ने सूर की भाषा से कुछ उदाहरण दिये हैं। इनमें श्रुति का संकेत नहीं किया गया है, पर श्रुति का तत्त्व ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से उपस्थित अवश्य है।[2]

कुछ ऐसे शब्द रूप भी प्राप्त होते है, जिनमें शब्द+प्रत्यय की स्थिति है। स्वरांत द्वि-स्वरान्त शब्दों के साथ स्वर या द्विस्वर प्रत्यय संबद्ध होकर त्रिस्वर शृंखला की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। इनमें श्रुति का प्रवेश भी हो जाता है। नीचे कुछ उदाहरण दिये गये है।

२.४.२.२. क्रिया+ऐकान्त प्रत्यय—[जइयै]=।जइ ऐ।; [पइयै]=।पइ ऐ।, इसी प्रकार [करइयै], [बिछइयै], [मँगइयै], [दुरइयै], [अधिकइयै] आदि शब्द है। इनको ग्रंथों में श्रुतियुक्त ही लिखा गया है। वस्तुतः [ये] अथवा [यै] भी ।ऐ। या ।ए। के श्रुतियुक्त रूप ही हैं।[3]

२.४.२.३. संयोजक वाली त्रिस्वर-शृंखला

स्वरांत पदों के साथ प्रायः [-ई] ('केवलार्थक) ही']-[ऊ] '(समेतार्थक) भी', ।ऐ। 'है' 'को' का प्रयोग त्रिस्वर शृंखला का कारण बनता है। पद और प्रत्यय के बीच विवृत्ति [-।-] रहती है। बोलचाल की ब्रजी के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

।आ ई ई।	: ।राई+ई।	'राई ही'
।इ ए ई।	: ।दीए+ई।	'दीपक ही'
।आ ऊ ई।	: ।नाऊ+ई।	'नाई ही'

---

१. द्रष्टव्य 'मेरी मथुरा जिले की बोली', पृष्ठ १२२।

२. सूर की भाषा, पृ० ७०-७१।

३. ऐसे रूपों के लिये द्रष्टव्य, सू० सा० १।२३९।

।आ उ ई।	: ।दा उ+ई।	'दाँव ही'
। ई औ ई।	: ।ही औ+ई।	'हृदय ही'
। आई ऐ।	: ।भाई+ऐ ।	'भाई को'
। ई ए ऐ।	: । दी ए+ऐ।	'दीपक को'
। आऊ ऐ।	: । ताऊ+ऐ।	'ताऊ को'
। आईऊ।	: । ताई+ऊ।	'ताई भी'
। ई एऊ।	: । ही ए+ऊ।	'हृदय भी'

इस प्रकार ब्रजभाषा में स्वर शृंखला तीन स्वरों वाली भी हो सकती है। श्रुति और संयोजक शृंखला को वैज्ञानिक दृष्टि से तोड़ने अवश्य हैं, पर श्रुति का उच्चारण शिथिल और संयोजक के 'मौन अस्तित्व' होने के कारण स्वर शृंखला शैली और प्रभाव की दृष्टि से अविच्छिन्न ही रहती है। भाषा का स्वरात्मक वातावरण इन दोनों तत्वों से बाधित नहीं होता।

२.५. अनुनासिकता

भारोपीय भाषाओं की सानुनासिक प्रकृति प्राचीन[1] और नवीन[2] विद्वानों ने स्वीकार की है। काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रवृत्ति का सौंदर्य तात्त्विक मूल्य स्वीकार किया गया है। यह पहले देखा जा चुका है। ब्रजभाषा ध्वनि विज्ञान की एक प्रमुख प्रवृत्ति सानुनासिकता है। इसके माधुर्य का यह प्रमुख ध्वन्यात्मक आधार है। भाषा की कोमलता और माधुर्य की दृष्टि से स्वर-ध्वनियों का नासिक्यीकरण[3] महत्वपूर्ण है। कुछ पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों में इस प्रवृत्ति को चिह्नित भी किया गया है।[4] नासिक्यीकरण को चिह्नित करना एक अनुभूत प्रवृत्ति की स्वीकृति ही है।

स्वरों का नासिक्यीकरण बद्ध भी होता है और मुक्त भी।

२.५.१. बद्ध नासिक्यीकरण

पार्श्ववर्ती उपस्थित या लुप्त नासिक्य वर्णों के प्रभाव से स्वरों का पश्चगामी या पुरोगामी नासिक्यी-करण् ब्रज भाषा की विशेषता है।

२.५.१.१. पश्चगामी नासिक्यीकरण

यह प्रवृत्ति पुरोगामी प्रक्रिया से अधिक मिलती है। । कान। 'कान', । जाँमवंत। 'जामवंत', । हनूंमाँन। 'हनुमान'। स्रोंनित। 'शोणित', । तुँम। 'तुम' आदि।

---

१. ऋग्वेद प्रातिशाख्य (शाकल्य) १।२६, पाणिनी, ८।४।५७।

२. डेनियल जोन्स ने भी यह तथ्य स्वीकार किया है।

३. इनके उच्चारण में स्वरत्व के लिये अनिवार्य सांस मुंहसे निकलती है और अनुनासिकत्व के लिए अनिवार्य साँस नाक से निकलती है।

४. विशेष रूप से ।आ। को चिह्नित करने की प्रवृत्ति मिलती है।

मध्यवर्ती नासिक्यीकरण स्वरमध्यवर्ती नासिक्य व्यंजन अथवा नासिक्य व्यंजन के व्यंजन गुच्छ् में प्रथमांश होने पर सम्पन्न होता है। मध्यकालीन भाषाओं में स्वरमध्यग-म->-व-की प्रवृत्ति मिलती है। इस क्रम में पूर्ववर्ती स्वर भी सानुनासिक हो जाता है : । चाँवण्ड। 'चामुंड' : । रोंव[1]। 'रोम'। स्वर मध्यग नासिक्य व्यंजन युक्त व्यंजन गुच्छ के प्रभाव से सानुनासिक होने के उदाहरण ये है : अमृत> अंब्रित : अमृत सर> अँम्बरसर, आम्र> आँम।[2] स्वर मध्यग (म्+ब) की स्थिति के उदाहरण : दिगम्बर> दिगँम्भर√ दिगँभर : कदम्ब> कदँभ। संस्कृत न+म> म+न के पूर्ववर्ती स्वर का भी नासिक्यीकरण हो जाता है। सन्मुख> सम्मुख ~ समुँहीं ~ साँमुई ~ सउँह ~ सउँही ~ सौंही।

२.५.१.२. पुरोगामी मध्यवर्ती नासिक्यीकरण

इसके कुछ उदाहरण ये हैं : मूसा 'चूहा', माँथा, नाँथ 'नाथ', सुमुँखि । बोलचाल में भी यह प्रवृत्ति मुखर है : । तैं नैं। 'तूने' : । तैं नैं ई।='तूने ही'। यदि ।ई। 'ही' को ।-नैं। से पहले रखा जाये तो यह नासिक्य नहीं होता : । छोरा ई नैं। 'लड़के ही ने' ~। छोरा नैं-ई। 'लड़के ने ही'।

२.५.२. मुक्त नासिक्यीकरण

पद के मध्य या अन्त में घटित होने वाली इस प्रक्रिया के ध्वन्यात्मक कारण नहीं संभवतः मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं।[3] अर्थात् किसी नासिक्य ध्वनि के प्रभाव से यह परिवर्तन नहीं होता।

२.५.२.१. मध्य में

यह नासिक्यीकरण स्वर पूर्व या व्यंजन पूर्व हो सकता है। ग्रियर्सन ने इसका संयुक्त व्यंजन से पूर्व घटित होना माना है।[4] आँसू> अश्रु; मूछ> श्मश्रु आदि में यही प्रवृत्ति है। साँस< श्वास, फाँस< पाश, चाँप< चाप जैसे उदाहरणों में संयुक्त व्यंजन पूर्व होने की अनिवार्यता नहीं है। यह विवृत्ति या स्वर-विच्छेद (हाइएटस) के रूप में आकर[5] दो स्वरों को अलग भी करता है : कूँ आँ< कू अ अ< कूपक में यही कारण

---

१. यह और आगे की सूची डा० सिद्धेश्वर वर्मा के आधार पर दी गई है—जर्नल ऑफ द डिपार्टमेंट ऑफ लेटर्स, कलकत्ता यूनीवर्सिटी, खण्ड-१८, पृष्ठ १-२०।

२. पुरानी हिन्दी में आँबहि, अँबराउँ जैसे रूप भी मिलते हैं।

३. Nasalty, the tendency which was already present in the language was an involuntary device to cover the defects of pronouncing an unfamiliar word and in the case of familiar words was a means of rendering more open the penult or antipenult of palysyllabic words, and a concomitant of possibly increased vocalic length of monosyllabic words." (Jr. of the Dept. of Latters, Calcutta University, Vol. XVIII, p. 10).

४. JRAS, 1922, p. 383.

५. सिंधी में भी यह प्रवृत्ति है : ट्रम्प, सिंधी ग्रामर, १५।

प्रतीत होता है। जूंआँ < जूया ~ जूवा < यूका में भी यही प्रवृत्ति मिलती है। इस प्रवृत्ति का इतिहास पुराना है[1]। नासिक्यीकरण बहुधा विवृत स्वरों का किया जाना है। अ। का नासिक्यीकरण सबसे अधिक मुखर है।

२.५.२.२. अन्त में

। सौं। ~ सैं 'से' आदि अंत मुक्त नासिक्यीकरण के उदाहरण हैं। ब्रजभाषा के हस्तलिखित ग्रंथों में भी इनको चिह्नित किया गया है : । ए।, । ऐ।, तथा । आ। जैसे विवृतोन्मुख स्वरों के नासिक्यीकरण को चिह्नित किया गया है। । इ। तथा । उ। को प्रायः यों ही छोड़ दिया गया है।

। — ऐं। ब्रजी में एक प्रत्यय भी है। कुछ क्रिया विशेषणों में इसका प्रयोग मिलता है : । बैठें। 'बैठे हुये'। गएँ। 'गये हुए' आदि रूपों में यह क्रिया के साथ संबद्ध है। स्थानवाचक रूप ये हैं : । पाछें। ~ । पीछें। 'पीछे'। 'आगें। 'आगे' आदि। हस्तलिखित ग्रंथों में यह भी नासिक्यांकित मिलते हैं।

कुछ अव्यय । - हूँ। 'भी' से युक्त भी मिलते हैं : । अजहूँ ~ अजहुँ। 'आज भी'। कतहूँ।, कहीं-न-कहीं'। कबहूँ ~ कबहुँ। जब कभी आदि। कारक चिन्हों के अनुस्वरांत रूप भाषा के सानुनासिक वातावरण को सघन बनाते हैं। कैं। 'के यहां'; । कौं ~ कूं। 'को', । सों ~ सूं ~ सैं। 'से' आदि।

। आ। मध्य स्थिति की अपेक्षा अन्त्य नासिक्यीकरण से कम प्रभावित होता है। अंत्य स्थिति में। ओ, औ, ए, इ, उ। आदि ध्वनि ग्राम अधिक नासिक्यीकृत होते हैं। प्रातिशाख्यों में 'अभिधान' की चर्चा मिलती है।[2] वक्ता अन्त्य अक्षर या वर्ण का पूर्ण उच्चारण करना नहीं चाहता अथवा बलाघात के क्षीण होने के कारण अंत्य उच्चारण शिथिल हो जाता है। संभवतः स्वरों का अन्त्य नासिक्यीकरण इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

स्वरों के नासिक्यीकरण की यह प्रवृत्ति संस्कृत में बोल चाल के रूपों में संभवतः प्रचलित होगी किंतु परिनिष्ठित लेखन और उच्चारण में इसका अस्तित्व नहीं मिलता इसीलिए सानुनासिक स्वरों की ओर काव्यशास्त्र के आचार्यों ने संकेत नहीं किया। मध्यकालीन भाषाओं[3] से ब्रजभाषा तक और कुछ-कुछ हिन्दी तक भी यह प्रवृत्ति चली आयी और यही ब्रजभाषा के माधुर्य का प्रमुख आधार बन गयी है। ब्रजभाषा साहित्य में इसकी स्थिति आरंभ से ही है।[4]

२.५३. नासिक्य व्यंजन > अनुनासिक स्वर

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है।[5] नासिक्यव्यंजन और नासिक्य व्यंजनों पर आधारित

---

१. इसका सम्बन्ध डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने वैदिक से जोड़ा है। "This intervocalic masalization in HIndi, Lahanda, Sindhi, seems to be an inheritence from Vedic, though, We donot find Striking cases of the phenomenon in pali and PKT. Perhaps it occured in AP.....though it was not so transcribed."
(ऊपर उद्धृत, पृष्ठ १८) डा० ग्रियर्सन ने इनका संबंध प्राकृतों से ही माना था JRAS, 1922, p. 384.

२. ऋग्वेद प्रातिशाख्य २।१३।

३. पिशेल, प्राकृत व्याकरण, पैरा १८०।

४. डा० शिवप्रसाद सिंह : सूरपूर्व ब्रजभाषा और साहित्य पृ० २४२-४४।

५. द्रष्टव्य प्रस्तुत प्रबंध १.५।

संयुक्त व्यंजन मधुर और कोमल माने गये थे। ब्रज भाषा में इन व्यंजनों का भी मृदुलीकरण स्वरों की अनुनासिकता में मिलता है। ङ > ँ :शृंगारः > सिगार; अ > ँ अञ्चल > आँचल; ण > ङ पण्डित > पाँडे; न > : आनन्द > आनँद;[1] सँताप > सँताप।[2] म > ँ : सम्पूर्ण > सँपूरन।[3] कभी-कभी पूर्वस्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण के साथ नासिक्यांश की सहस्थिति मिलती है : पाँडे < पण्डित; छाँड़ौ < छँडउ; आँकुस < अंकुश।

२.५४. नासिक्य स्वर : ध्वनि ग्रामीय स्थिति

ब्रजी में उदासीन तथा फुस्फुसाहट वाले स्वरों को छोड़कर शेष सभी स्वरों के सानुनासिक रूप मिलते हैं : अँगिया, आँखि, नाहिं, मईं, कुँवर, ऊँचौ, सैंत, नैंकु, मोकों, क्यौं आदि। इनकी स्थिति मात्र संस्वनात्मक (एलोफोनिक) नहीं है, यह ध्वनि ग्रामीय है, जो निम्नलिखित स्वल्पान्तर युग्मों से स्पष्ट है।

। ई। : । ईं। : । गई। 'गई' (एक०) । गईं। 'गईं' (बहु०)
'ऐ। : । ऐं। : । पैठ। 'ज्ञान' । पैंठ। 'पैंठ'
। आ। : । आँ। । । आग। 'अग्नि' । आँग। 'अंग'
। ऊ। : । ऊँ। । । जूआ। 'जुआ' । जूँआँ। 'जू'
। औ। : । औं। : । गौ। 'गया' । गौं। 'स्वार्थ'
। अ। : । अँग। : । अगार। 'आगे' । अँगार। 'अंगार'
। इ। : । इँ। : । सिगार।[4] 'सिगरेट' । सिँगार। 'शृंगार'
। उ। : । उँ। : । पाउ। 'एक पाव' । पाँउँ। 'पैर'।[5]

नासिक्य स्वरों की ध्वनिग्रामीय और संस्वनात्मक स्थिति के कारण ब्रजी की सानुनासिक प्रकृति सिद्ध हो जाती है। इसका सौंदर्यतात्विक मूल्य है। सामान्य स्वरों की भांति सानुनासिक स्वरों के संयुक्त रूप भी मिलते हैं।

२.५५. सानुनासिक स्वर संयोग

ब्रजी की ध्वन्यात्मक मधुरता को यह प्रवृत्ति द्विगुणित कर देती है। सानुनासिक स्वर संयोग का द्वितीयांश सानुनासिक होता है, और वही इस रूप में चिह्नित भी होता है। इसके प्रभाव से पूर्ववर्ती स्वर भी अनुनासिक हो जाता है और सानुनासिक स्वर शृंखला सम्पन्न हो जाती है। अग्रेलिखित तालिका द्रष्टव्य है :

---

१. सू० सा० १०।३६।
२. वही ३।१३
३. वही।
४. यह स्वल्पान्तर युग्म साहित्य में संगृहीत नहीं है।
५. विस्तार के लिए द्रष्टव्य : 'मथुरा जिले की बोली' पृष्ठ १२१-१२२।

प्रथम स्वर	द्वितीय स्वर								
		अ	अँ	इँ	ईं	उँ	ऊँ	ऐं	ऐं
	अ							+	+
	आ				+	+	+	+	
	आँ					+			
	इ							+	
	ईं							+	
	उ		+					+	
	उँ	+							
	ए					+			
	ओ						+		

तालिका में प्रदर्शित स्वर संयोग सूर साहित्य के इन उदाहरणों से प्रमाणित होते हैं : । भऐं ।[1] 'हुए' । इहाँउ ।[2] 'यहाँ भी' । गुसाई ।[3] [गुसाँईं] 'गोस्वामी" । ठाऊँ ।[4] [ठाँउँ] 'स्थान' । गाँऊँ ।[5] [गाँऊँ] 'गाऊँ'; । लाऐं ।[6] [लाँऐं] 'लावें' । दिऐं ।[7] 'दिये' । कुँअँर ।[8] 'कुंवर' । भुअँग ।[9] 'साँप' । हरुऐं ।[10] 'हलके', । देऊँ ।[11] 'दूं" । सोऊँ ।[12] 'सोऊँ' ।

उपर्युक्त उदाहरणों में से सानुनासिक स्वर के पूर्व सघोष व्यंजन+स्वर; या सकार+स्वर होने पर पूर्व स्वर भी प्रायः सानुनासिक हो जाता है।

२.५.६. रूप रचना में अनुनासिक प्रत्यय

संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण क्रिया और क्रिया-विशेषण की रचना में अधिकांश नासिक्य प्रत्ययों अथवा विभक्तियों का प्रयोग होता है। इसके परिणामस्वरूप नासिक्य स्वर-ध्वनियों की क्षिप्रता में वृद्धि होती है।

---

१. सू० सा०, २।२२; २. सा० ३।२, ३. वही १-१४७, ४. वही, १-१२८, ५. वही १-१६६; ६. वही १-१४६, ७. वही २-६, ८. वही ४०९४, ९. वही ३७७५, १०. वही १०-२५७, ११. वही ३-१३, १२. वही १-५१।

२.५.६.१. संज्ञा की रूप-रचना

संज्ञा की सविभक्तिक और कारकीय, दो प्रकार की रचना मिलती है। सविभक्तिक रचना में {-हिं], [-ऐं] तथा [-आँ] प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है। द्वितीया (कर्म) की रचना के उदाहरण ये हैं : । उहिं।[1] 'उसको', । गोविंदहिं।[2] 'गोविंद को', । गोपालै।[3] 'गोपाल को'। अधिकरण की रचना में भी । ऐं। अथवा । आँ। का प्रयोग होता है। जैसे : । पालनैं।[4] 'पालने में', । हिंडोरैं।[5] 'हिंडोले में'। । कनियाँ।[6] 'गोद में'। । पनिआँ।[7] 'पानी भरने को' कर्म की रचना है। यदि अंतिम दो उदाहरणों के अंत्य स्वर को मात्र शब्द विस्तार माना जाये तो यह कहा जायेगा कि आँकारान्त निर्विभक्तिक पद सविभक्तिक रूप में प्रयुक्त होते हैं।

कुछ संज्ञाओं के अंत में अकारण विस्तार के कारण । आँ। आ जाता है। इससे शुद्ध मृदु मधुर अर्थ व्यंजित होता है। उदाहरण ये हैं : । बहिआँ। 'बाँह', । बिरिआँ। 'बेला', । छहिआँ। छैआँ। 'छाया' ('नाहिंन वसत तिहारी छैआँ'), । मथनिआँ। 'मथानी' और । लगनिआँ। 'लग्न'। इन स्त्रीलिंग शब्दों के अतिरिक्त पुल्लिग शब्द भी आँकारान्त विस्तार करते हैं। पनिआँ। 'पानी', । दतिआँ।[8] 'दाँत', । मोहनिआँ। 'मोहन' आदि। इनमें से बीच का उदाहरण इस प्रक्रिया से स्त्रीलिंग बन गया है। इस प्रत्यय के द्वारा लघुता या कोमलता व्यक्त होती है जैसे : । धनुहिआँ।[9] 'छोटा धनुष' तथा । पनहिआँ।[10] 'छोटे जूते'।

इस प्रत्यय का प्रयोग संज्ञा की बहुवचन रूपरचना में भी होता है : अलि से । अलिआँ।, गली से । गलिआँ, । रँगरलिआँ। आदि। वात्सल्य संदर्भ में सूर ने लघुता या मृदुता की सूचक इस प्रकार की पदावली का प्रयोग किया है। जहाँ नासिक्यांश रूप रचना सम्पन्न करता है, वहाँ मृदुता और मधुरता का भी द्योतक है।

२.५.६.२. सानुनासिक कारक चिह्न

संबंध को छोड़कर सभी कारक चिन्ह व्रजी में सानुनासिक हैं।

क. कर्ता : । नैं। ~। ऐं। : तैनैं। 'तूने' : । कारैं।[11] 'काले (नाग) ने', । सकटैं ।[12] 'शकट ने।'

---

१. सू० सा० ४।५।

२. वही २।१३।

३. 'अपने बाल गोपालै रानी जू पालने झुलावै।' (चतुर्भुजदास : अष्टछाप परिचय, पृ० २७६, पद-३)।

४. 'प्यारी लाड़िलौ पालने झूलै। (कृष्णदास : वही, पृ० २३०, पद, २०)।

५. सू० सा० भाग-२, पद २६८८।

६. सूरदास मदन मोहन, अकबरी बार के हिन्दी कवि, पृष्ठ४४७, पद-१।

७. 'जमुना जाति ही हौं पनिआँ' भक्त कवि व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी, पृ० ३२९, पद ५२०।

८. 'हरसित देखि दूध की दतिआँ' सू० सा० १०।८२।

९. सू० सा० ९।१९।

१०. वही।

११. । ताकी माता खाई कारैं। 'उसकी माता को काले (नाग) ने खा लिया।'

१२. । सकटैं गरब बढ़ायौ। 'शकट ने गर्व बढ़ाया।'

ख. **कर्म** : । कौं ~कूं ~कुँ ।[1] 'को' । । ऐं । का भी कर्मकारकीय प्रयोग मिलता है ।[2]

ग. **करण** : । तैं ~सुं ~सूं ~सौं ~सेंती ।[3] इस रचना में ।-ऐं । का प्रयोग भी मिलता है । । सूतैं ।[4] 'सूत से'

घ. सम्प्रदान : इसके निरनुनासिक और सानुनासिक दोनों रूप मिलते हैं। पर । कुँ ~कूं ~कौं । का ही बाहुल्य है ।

ङ. अपादान : इसके भी निरनुनासिक रूपों की अपेक्षा सानुनासिक रूपों का बाहुल्य मिलता है । । तें ~ तैं । चिन्ह अधिक लोकप्रिय रहे ।[5] । सौं । का प्रयोग अपेक्षाकृत कम मिलता है । 'परवत सौं इहिं देहु गिराइ ।'[6]

च. अधिकरण : इसके चिह्न ये हैं : । पहिं ~पाहीं । 'पर' तथा । मँझार ~मँझारि ~मँझारे ~माँझ ~माँह ~माँहि ~माँहीं ~मांहैं ~माँहँ ~महुँ ~महिआँ ~में ~मैं ~मौं । 'में' ।[7]

।-ऐं । विभक्ति पर आधारित रूप ये हैं : । द्वारैं ।[8] 'द्वार पर', । माथैं ।[9] 'माथे पर' ; । करेजैं ।[10] 'कलेजे में', । सरनैं ।[11] 'शरण में' । कहीं-कहीं । हि । से युक्त रूप भी मिलते हैं : । ब्रजहिं ।[12] 'ब्रज में' ।

छ. सम्बन्ध कारक सानुनासिक संरचना का अपवाद है । कुछ शब्द भी कारकवत प्रयुक्त होते हैं । जैसे—। आगैं । 'अपादान', । तरैं । 'अधिकरण' ये भी अनुस्वारांत ही हैं ।

२.५.६.३. सार्वनासिक रूप रचना

सर्वनामों के मूल रूपों में से उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष एक वचन सानुनासिक हैं । साहित्य में । हों ।[13] उ० एक० और । तूँ ।[14] मध्यम० एक० प्रयुक्त मिलते हैं । इसका कारकीय रूप । तैं ।है । जैसे "ग्वालिनि

---

१. ना० प्र० स० द्वारा प्रकाशित सूर सागर में / कौं / का ही प्रयोग है, किंतु अन्यत्र दूसरे रूप भी मिलते हैं । सू० सा० ९।१७१-१७३ आदि ।

२. /आजु गई कछु काज घरैं / (सू० सा० १०।७६) ; / तौहू घरैं न मन में ज्ञानैं / (ज्ञान को) वही ४।१२ ।

३. द्रष्टव्य : डा० प्रेमनारायण टण्डन, सूर की भाषा, पृ० १६१ ।

४. ।किंहि गयंद बाँध्यौ सुनि मधुकर पदुम नाल के काँचे सूतैं / सू० सा० ३९१६ ।

५. सू० सा० सभा संस्करण में/तैं/ का ही प्रयोग किया गया है ।

६. सू० सा० ७।२ ।

७. उदाहरणों के लिए द्रष्टव्य : सूर की भाषा, पृ० १६६-१७० ।

८. द्वारैं भीर गोप गोपिन की । सू० सा० १०।२१ ।

९. माथैं मुकुट । सू० सा० १०।१९ ।

१०. बतियाँ छिदि-छिदि जाति करेजैं । सू० सा० ३८४७ ।

११. तब सुरपति हरि सरनैं गयौ । सू० सा० ८।७ ।

१२. ब्रजहिं बसैं आपहिं बिसरायौ । वही १६८७ ।

१३ हों संग साँवरे के जैहों । सू० सा०, पद १६६८ । पुराने साहित्य में इसका पूर्व रूप / हउँ / भी मिलता है । प्रद्युम्न चरित्र, ७०२ ।

१४. जसु रावण हारा तूं दई । छिताई वार्ता ४।६ ।

तैं मेरी गेंद चुराई"[1] और "धन्य जसोदा धन्य तैं कौन पुन्य कीने।"[2] इसका अर्थ है 'तूने' जिस प्रकार संज्ञा की रूप रचना नासिक्य स्वर प्रत्ययों के आधार पर होती है उसी प्रकार सर्वनाम की भी होती है। उदाहरण के लिए नीचे उत्तम पुरुष एक० सर्वनाम की रूपतालिका प्रस्तुत है।

मैं~हौं 'मैं'
मैंहूँ, ~मैं हुँ 'मैं भी'
मैं हीं, ~हों हीं 'मैं ही'
मोंहीं, 'मुझको'
मेरैं, 'मेरे यहाँ'
मोकौं, ~मोकूं, ~मोकँहूँ, 'मुझको'
मोतैं, ~मोसौं, ~मोसूं, ~मोसैं, 'मुझसे'
मोहि, महियाँ, ~मोहि, माँझ ~मोमैं, 'मुझ में'
अन्य सर्वनामों की सानुनासिक रचना का इससे अनुमान लगाया जा सकता है।

२.५.६.४. विशेषण रचना

कुछ विशेषणों में अकारण अन्त्य स्वर विवृत और नासिक्य हो जाते हैं। जैसे। छठैं।[3] 'छठवें' । थोरैं।[4] 'थोड़े', । सूनैं[5]। 'सूने'। यह सानुनासिक विकृति संभवतः विभक्तियों के घुल-मिल जाने का परिणाम है।

बलात्मक सानुनासिक प्रत्यय ।-हुँ। तथा ।-हिं। हैं। । एकहुँ आँक ।, । आठहुँ सिधि ।, । अतिहि पुनीत। चार हूँ जुग ।, आदि प्रयोग सूर साहित्य में मिलते हैं।[6]

[-औयों] प्रत्यय वाले विशेषण भी ब्रजी की विशेषता है। क्रिया धातु या नाम धातु के साथ संलग्न होकर ये विशेषणों की रचना करते हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :[7]

√ढरक्-+ [औंयौ]√औंह्यौं।=। ढरकौंयौ।~। ढरकौह्यौं। 'ढालू'
√हँस्-+ [औंहे] । हँसौंहे। 'हंसते हुए'
√ललच्-+[औंहे]=। ललचौंहे। 'ललचाते हुए'
√लज्- +[औंहीं]=। लजौंहीं। 'लज्जाशील'

सूर में यह प्रयोग अत्यन्त मधुर है : 'बतियाँ तुतरौंहीं।'[8] 'नैन लजौंहैं'[9]

---

१. कुंभनदास, विद्याविभाग, काँकरौली, पद १४०।
२. नंददास, अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ३२६, पद ३८।
३. छठै मास इन्द्री प्रगटावै। सू० सा० ३।१३।
४. सुत बांधति दधि माखन थोरैं। वही १०।३४४।
५. गये स्याम ग्वालिनि घर सूनैं। वही १०।३१७।
६. सूर की भाषा, पृ० ३००-३०१।
७. मथुरा जिले की बोली, पृष्ठ १८९।
८. सू० सा० १०।२९४। ९. वही।

विशेषणों की एक संरचना यह मिलती है : धातु+[-ऐंम्-]+[-आ ए ई]=विशेषण। [-ऐंम्-] के प्रभाव से अन्त्य ।आ। भी सानुनासिक हो जाता है।

√कतर्-+[-ऐंम्-]+[आ]=। कतरैंमाँ। 'कटा हुआ'

√ढर्-+[-ऐम्-]+[आ]=। ढरैंमाँ। 'ढलवाँ'

√चढ़्-+[-ऐंम्-]+[-आ]=। चढ़ैंमाँ। 'चढ़े हुए'

इन विशेषणों का प्रयोग दोनों लिंगों के विशेष्यों के साथ हो सकता है।

२.५.६.५. क्रिया की रूप रचना

क्रिया की संरचना में प्रयुक्त होने वाले सानुनासिक प्रत्ययों की तालिका इस प्रकार है :

[-इँ]—बहु० स्त्री० वर्त० कृदन्त : । चीतर्तिं।[१] 'चीततीं हैं।'

[-ई]—बहु० स्त्री० भूत० कृ० : ।उपजीं।,[२] । गवनीं।[३] 'गईं'।

[-उँ]—संभावनार्थ : । देंउँ। 'दूं'

[-ऊँ]—उत्तम० एक० संभावना : । जिवाऊँ।[४] 'खाना खिलाऊँ'

[-ऐं]—अन्य० बहु० वर्त० अनिश्चय : । स्रवैं।[५] 'स्रवित होती हैं।'

संहरैं, 'संहार करते हैं।' पूर्वकालिक कृदन्त : । निसि भरों। 'रात होने पर' आदि।

[-ओं]—भूतकालिक प्रत्यय का प्रयोग। -न्-। के पश्चात् होता है : ।दीन्हों।~। दीनों। 'दिया'

[-औं]—संभावित रूपों की रचना में प्रयुक्तः । करौं।[६] तथा । पसारौं।[७] 'पसारूँ'

[-हिं]—वर्त० अनिश्चय । देहिं।[८] 'देती हैं'।

[-हौं]—भविष्य संरचना में प्रयुक्त । जैहौं।[९] 'जाऊँगी'

उत्तम० बहु० तथा अन्य० बहु० में । जैहैं। जैहे रूप मिलते हैं।

यह सहायक क्रिया भी है :। लागत हौं।[१०] 'लगती हूँ'। । ऊँ। तथा । औं। वाले रूपों में स्वतंत्र वैविध्य मिलता है। साहित्य की प्रवृत्ति । औं। वाले रूपों की ओर है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजी की रूप रचना में सानुनासिक तत्व मुखर और

---

१. सू० सा० १०।३२

२. वही ४।४।

३. वही १०।३२।

४. वही ८।८।

५. वही १०।३०।

६. 'कहा करौं मोसौं कहौ सबहीं' सू० सा०, प्रथम भाग, १४२३।

७. सू० सा० १०३७।

८. वही ५।३।

९. हौं सँग साँवरे के जैहौं। सू० सा०, भाग-१, १६६८।

१०. तेरे माई लागत हौं री पैयाँ। चतुर्भुज दास, अष्टछाप परिचय, पृ० २८६, पद ४७।

प्रमुख है। यह तत्व ब्रजभाषा के माधुर्य के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी है। क्रिया विशेषणों की सानुनासिक रचना पर पहले विचार किया जा चुका है।

३. माधुर्य : व्यंजन स्तर

यह सत्य है कि किसी भाषा की मधुरता और कोमलता का मापदण्ड स्वर ध्वनियाँ होती हैं, क्योंकि स्वरों में श्वास प्रवाह निर्बाध रहता है, और कुछ परिस्थितिजन्य अपवादों को छोड़कर स्वर के उच्चारण में अनिवार्यतः घोषतत्व रहता है। इसके फलस्वरूप उसकी नादात्मकता व्यंजन से अधिक होती है। इसके अतिरिक्त यह भी सर्वमान्य है कि व्यंजनों की अपेक्षा स्वरों में मुखरता (Sonority) भी अधिक होती है।[२] पिछले विवरण से यह स्पष्ट होता है कि स्वरों एवं नासिक्य स्वरों के बाहुल्य के कारण ब्रजी में मुखरता और संगीतात्मकता पर्याप्त मात्रा में है। व्यंजन के विकास की भी कुछ ऐसी स्थितियाँ ब्रजभाषा में परिलक्षित होती हैं, जिनके कारण इसका माधुर्य सिद्ध हो जाता है।

कोमलता और मधुरता की दृष्टि से संस्कृत के आचार्यों ने व्यंजनों की भी कोटियाँ की हैं। इनको दृष्टि में रखते हुए ब्रजभाषा के व्यंजन स्तरीय माधुर्य को देखना प्रबंध के इस विभाग में अभीष्ट है।

३.१. व्यंजन लोप

यह विकासविधि मध्यकाल में ही पर्याप्त स्थान बना चुकी थी। इसीलिए प्राकृतों को गीति काव्य के लिये अधिक उपयुक्त भी कहा गया था। ब्रजभाषा में भी एक सीमा तक वही परंपरा जीवित है। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यंजनों की कठोरता कम होती है, भाषा स्वर-बहुल बनती है, और कठोर माने जाने वाले संयुक्त व्यंजन भी समाप्त हो जाते है।

कभी-कभी तो व्यंजन पूर्णतः लुप्त हो जाता है जैसे––समुद्र > समद। अधिकांश उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनमें व्यंजनों के स्थान पर पहले अर्धस्वर। य।, । व। आते हैं और पीछे इनका विकास क्रमशः । इ। और । उ।[३] में हो जाता है। इस प्रकार के उदाहरण 'प्राकृत पैंगलम्' में भी मिलते हैं।[४] जैसे––भेउ (२२०।२ भेव < भेद) आउ (५५२।४ < आव < आयाति), ठाउ (२३६।५ ठावँ < ठाभ < स्थान); < पसाउ (२५७।६ < पसाव < प्रसाद) घाउ (५०४।२ < घाव < घातः)। संदेश रासक में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। उपर्युक्त शब्द ब्रजी के साहित्यिक एवं क्षेत्रीय रूप में मिल जाते हैं।

---

१. द्रष्टव्य : प्रस्तुत प्रबंध २.५.२.२।

२. डेनियल जोन्स, एन आउटलाइन आफ इंग्लिश फोनेटिक्स (कैम्ब्रिज १९५०, पृ० ५४)।

३. । व > उ ब्रजी की विशेष प्रवृत्ति है। डॉ० चाटुर्ज्या, वर्ण रत्नाकर, पैरा-१८। यह विशेषता प्रारंभिक मैथिली की भी है। संदेस रासक और ब्रजी में यह प्रवृत्ति समान रूप से मिलती है। हरिवल्लभ मायाणी संदेश रासक की भूमिका, पैरा-३३। पूर्वी क्षेत्र की भाषाओं की भी यह विशेषता है (वर्ण रत्नाकर पैरा-१८)।

४. डा० शिवप्रसादसिंह, सू० पू० ब्रजभाषा और साहित्य, पृ० १०२।

व्यंजन के स्थान। य ~ इ । हो जाने के कुछ उदाहरण ये हैं : पसाइ ~ पसाय < प्रसाद, पयालि < पाताल, सयल > सकल, सायर < सागर, अमिय < अमृत; हिय < हृदय, राय < राज ।

। व । व्यंजन या तो । उ । में परिवर्तित हो जाता है अथवा लुप्त हो जाता है। वैसे प्रथम रीति ही अधिक प्रचलित रही है। कभी-कभी संयुक्त रूपों में भी व > उ की प्रवृत्ति मिलती है : स्वरूप > सुरूप[1] य > इ के पश्चात् स्वर संकोच की प्रवृत्ति से विवृत्त स्वर भी हो जाता है : जय > जइ > जै; भय > भइ > भै आदि।

३.२. व्यंजनों का मृदुलीकरण

३.२.१. मूर्धन्य ध्वनियों का विकास : जैसा कि पहले देखा जा चुका है, संस्कृत काव्यशास्त्र में मूर्धन्य ध्वनियों को कठोर कहकर उनको मधुर संदर्भों में त्याज्य ठहराया गया है। ब्रजभाषा में इन ध्वनियों का विकास कोमल ध्वनियों में होता है।

क. ण > न—यह प्रवृत्ति ब्रजी को प्राकृत और अपभ्रंश से अलग करती है। ब्रजी में ण की ध्वनि-ग्रामीय स्थिति समाप्त ही हो गयी।[2] राजस्थान के कुछ ब्रजभाषा कवियों में मूर्धन्य नासिक्य प्रचलित रहा।[3] कहीं-कहीं स्थानीय विशेषता के रूप में भी इसकी स्थिति है।[4] किंतु ब्रजभाषा के साहित्य से इसका पूर्ण बहिष्कार कर दिया गया है। यहाँ गनपति (गणपति) सरन (शरण), मानिक (माणिक्य) बीन (वीणा) गुन (गुण) आदि ही सुनाई पड़ते हैं।

ख. ड > र—खोरि < प्रा० खोडि; चूरौ < प्रा० चूडल्लउ; ऊजर < उज्जड; झार < झाड़; खरी < खड़ी; जोरि < जोड़ि; पर्‌यौ < पड्‌यौ ~ पड़ा; बीरा < बीड़ा < बीटिका; थोरौ > थोड़ा > थोडइ स्तोक, करोर < करोड़ < कोटि; फारइ < फाडइ; दारिम < दाड़िम आदि में ड ~ ड़ > र की प्रवृत्ति मृदुलीकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

ग. ट > र—भट > भर; कर्‌हाइ√करहैया < कटाह।

घ. ठ > ढ़ —मठ > मढ़। मड़ैया भी इसी से विकसित प्रतीत होता है।

ङ. ष > स—भूषण > भूसन; भीष्म > भीसम आदि।

इस प्रकार मूर्धन्य ध्वनियों का विकास ब्रजी में माधुर्यानुकूल हुआ है। पूर्वी क्षेत्र की बिहारी और बंगाली भाषाओं से विकास की इन दिशाओं का साम्य है।

३.२.२. मं > वँ—इस विकास में । म ।, । व । और अनुस्वार के रूप में विभाजित हो जाता है। इससे व्यंजन का मृदुलीकरण और वातावरण की अनुनासिकता में वृद्धि होती है: कँवलु < कमलम्; भँवइ < भँमइ < भ्रमति; साँवरो < श्यामल; भँवर < भ्रमर।

३.२.३. ल > र—बंगाली में इसके विपरीत र > ल की प्रवृत्ति मिलती है किंतु बिहारी आदि बोलियों

---

१. परमानंद सागर, २०४।

२. डा० चाटुर्ज्या उक्ति व्यक्ति स्टडी पैरा-२२; ब्रजभाषा (डा० धीरेन्द्र वर्मा, पैरा-१०५)।

३. सूर्यमल्ल के वंशभास्कर में इसका प्रयोग सर्वत्र तो नहीं पर कहीं-कहीं तत्समों के आग्रह, अपभ्रंश शैली के प्रयोग या राजस्थानी की प्रकृति के कारण मिल जाता है।

४. डा० धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजभाषा पैरा-१०५।

मेंल > रही है। वास्तव में। र। का उच्चारण पुराने समय में मूर्धा से ही माना जाता था।[१] पीछे इसका विकास दन्त्य-वर्त्स्य माना गया।[२] यह विकास मूर्धन्य के मृदुलीकरण से ही संबद्ध है।[३] संस्कृत काव्यशास्त्र में रेफ का उच्चारण तो कठोर माना गया है किंतु। र। का सामान्य उच्चारण कठिन नहीं है। । ल। का एक कठोर उच्चारण भी काव्यशास्त्र में उल्लिखित है। इसी काव्यशास्त्रीय संदर्भ में। ल्। की अपेक्षा। र। का उच्चारण कोमल माना जा सकता है।

ब्रजी में इसके बहुत से उदाहरण मिलते हैं : आमरौ < आमलक ओखरी < प्रा० ओक्खल; रावर ~ राउर < रावल < राजकुल; आरसु < आलस्य; हिबारौ < हिमालय। सूर की 'बातन भुरइ राधिका भोरी' पंक्ति में मुख्य सौदर्य ल > र का है।

३.२.४. व > ब—ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रवृत्ति बहुत प्राचीन है। शिक्षाग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है।[४] आधुनिक बोलियों में ही नहीं, संस्कृत के श्रेष्ठ साहित्य और अभिलेखों में भी इस प्रवृत्ति के प्रमाण मिलते हैं।[५] आज यह प्रवृत्ति पूर्वी भारत की भाषाओं और बोलियों में मिलती है।[६] पश्चिमी क्षेत्र की कुछ बोलियों में। व। ध्वनि कुछ सुरक्षित है।[७] उत्तर पश्चिम में इस विकास का नितांत अभाव नही है।[८] भौगोलिक वितरण के आधार पर कुछ विद्वानों ने इस प्रवृत्ति का संबंध केवल पूर्वी क्षेत्र की मध्यकालीन भाषाओं से जोड़ा था किंतु परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति सर्वत्र मिलती है।[९]

ब्रजभाषा की यह प्रवृत्ति पूर्णतः अपवाद रहित है। पश्चिमी या परिनिष्ठित हिन्दी में। व। की ध्वनि सुरक्षित है। ब्रजी बुंदेली और कनौजी इस प्रवृत्ति की दृष्टि से समान हैं। एक प्रकार से ब्रजी पश्चिमी और पूर्वी व > ब प्रवृत्ति वाली भाषाओं के बीच एक कड़ी है।

ध्वनि का यह विकास मृदुल और मधुर है या नही इसका कोई वस्तुपरक प्रमाण तो नहीं है। इसके विपरीत काव्यशास्त्र में ओष्ठ्य वर्ग की ध्वनियों को कोमल नही माना गया है। किंतु यह तो निश्चय कहा

---

१. पाणिनीय शिक्षा का विवरण इसी प्रकार का है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा, क्रिटिकल स्टडीज इन द फोनिटिक अब्जर्वेशंस ऑफ इण्डियन ग्रामेरियन्स, पृ० ७।

२. यह प्रातिशाख्यों का मत है। (वही)।

३. यह भी ब्रजी की एक प्रमुख विशेषता है। डा० धीरेन्द्र वर्मा : ब्रजभाषा, पैरा-१०९।

४. शिक्षा संग्रह, बनारस संस्कृत सीरिज (१८९३) माण्डवी शिक्षा।

५. It is now well known that this change of initial 'v' into 'b' has occured in several modern dialects. But the Phenomenon has occured even in the classical Skt., inscriptions of Gupta-Period.

(डा० सिद्धेश्वर वर्मा, फोनेटिक अब्जर्वेशन्स ऑफ इण्डियन ग्रामरियन्स, पृ० १३०)।

६. उड़िया, बिहारी, बंगाली में व > ब की प्रवृत्ति स्पष्ट और निरपवाद है।

७. सिन्धी लहंदी, गुजराती और मराठी में इसकी सुरक्षा मिलती है।

८. डोगरी, मगरवाही, पश्चिमी पहाड़ी में व > ब विकास के चिह्न मिलते हैं।

९. स्वयंभू रामायण ३१।३; पुष्पदंत, आदि पुराण २३०।३१।

जा सकता है कि । व । की अपेक्षा । ब । का उच्चारण सुकर है। बच्चा भी । व । का उच्चारण पीछे सीखता है, और । ब । का आरंभ में ही सीख लेता है।

३.२.५. य > ज

इस प्रवृत्ति की दृष्टि से भी पूर्वी अंचल की भाषा-बोलियों के समीप है। कुछ संयुक्त रूपों या भूत-कालिक कृदंतों[1] को छोड़कर शेष स्थितियों में । य । का । ज । में परिवर्तन हो जाता है। जैसे : जस < यश, कारज < कार्य, जवन < यवन, सुजस < सुयश आदि।

। य । की अपेक्षा । ज । ध्वनि भी सुकर और कोमल दिखलाई पड़ती है।

३.२.६. श > स

इस प्रवृत्ति को पश्चिमी अपभ्रंश बोलियों की विशेषता मानकर, इसे पूर्वी और पश्चिमी बोलियों की विभाजक रेखा के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। पूर्वी बोलियों में स, ष > श की प्रवृत्ति मिलती है किंतु बिहारी बोलियाँ इस प्रवृत्ति की दृष्टि से ब्रजी के ही समीप हैं। कुछ विद्वान इसको पूर्वी और पश्चिमी की भेदक प्रवृत्ति न मानकर परिनिष्ठित अपभ्रंश में श > स की प्रवृत्ति को ही मुख्य मानते हैं। "यद्यपि दोहा कोशों और चर्यापदों की भाषा में 'श' ध्वनि का अस्तित्व पाया जाता है, तथापि इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि यह उन ग्रंथों की भाषा की विशेषता है, क्योंकि इस नियम का पालन सर्वत्र नहीं किया गया है। जहाँ कहीं क्षेत्रीय प्रभाव है वहाँ ष, श > स पाया जाता है, अन्यथा इन तीनों के स्थान पर 'स' (परिनिष्ठित अपभ्रंश परम्परा के अनुसार) कर दिया गया है और कहीं तीनों का अस्तित्व पाया जाता है।"[2] ब्रजभाषा के सम्पूर्ण साहित्य में यह प्रवृत्ति निरपवाद रूप से प्राप्त होती है।

काव्य शास्त्र में । स । ध्वनि मधुर संदर्भों के लिए अधिक उपयुक्त मानी गयी है। इसलिए विकास की इस प्रक्रिया को सौंदर्यतात्विक महत्व प्राप्त हो जाता है। आसा < आशा; ससि < शशि; निसिकर < निशि-कर; अतिसय < अतिशय जैसे शब्दों के कारण ब्रजभाषा की व्यंजन विधि मधुर हो जाती है।

३.२.७. सघोषीकरण

अघोष ध्वनियों की अपेक्षा सघोष ध्वनियाँ अधिक कोमल और मधुर मानी जाती हैं। ब्रजभाषा में अघोष ध्वनियों का परिवर्तन न्यूनाधिक रूप में सघोष ध्वनियों में हो जाता है।

क > ग के उदाहरण ये हैं : सगुन < शकुन, सुग्गा ~ सुग ~ सुआ < शुक; लोग < लोक; भगत < भक्त, सिगरे < सकल, प्रगट ~ परगट < प्रकट।

ट > ड ~ ड़ ~ र के उदाहरण ये हैं : घोड़ा ~ घोरा < घोटक; अखाड़ौ ~ अखारौ < अक्षवाट।

छ > ज ~ झ के उदाहरण ये हैं : बूझना = पूछना (पृच्छ) जूठौ < उच्छिष्ट। इन उदाहरणों से प्रवृत्ति का संकेत मिलता है।

---

१. राख्यौ, दयौ, (ज्यों, त्यों = क्रि० वि०)।

२. जगदीश प्रसाद कौशिक, अपभ्रंश भाषा के क्षेत्रीय भेद : समस्या और समाधान, ना० प्र० पत्रिका वर्ष ७०, अंक-२, पृ० ९।

३.३. संयुक्त व्यंजन > असंयुक्त व्यंजन

काव्य शास्त्रीय संधारणा के अनुसार संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ कोमल और मधुर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में बाधक बनती हैं। केवल नासिक्य ध्वनियों से संयुक्त रूप कुछ कोमल माने गये थे। मध्यकालीन भाषाओं में जहाँ संस्कृत के स्वर मध्यग व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति मिलती है, वहाँ संयुक्त व्यंजनों की समाप्ति की प्रवृत्ति भी कम सशक्त नहीं रही।

आरंभिक पिंगल में प्राकृताभास के लिए या संदर्भगत आवश्यकता के अनुसार संयुक्त ध्वनियों का प्रयोग मिलता है। शैलीगत यह वैशिष्ट्य परवर्ती साहित्य में भी मिल जाता है। 'वंशभास्कर' की भाषा में प्राकृत मिश्रण की सचेतन प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप संयुक्त व्यंजनों वाले रूप मिल जाते हैं। शुद्ध ब्रजदेशीया को संयुक्त वर्णों से कवि ने सयत्न बचाया है। प्राकृत मिश्रित ब्रजी में ये रूप आये हैं : लग्गे 'लगे', बज्जरन, अट्ठ, चउत्थी, सज्ज, लक्कत, हक्कत, फतमल्ल, अप्पमल्ल आदि।' इन सारे प्रयोगों को सचेतन शैली प्रक्रिया से संबद्ध करके ही देखना चाहिए। जहाँ प्राकृताभास उपस्थित होता है, वहाँ छप्पय छंद ही सबसे अधिक जमा है।[1]

कुछ शब्दों में संयुक्त वर्णों और असंयुक्त वर्णों के बीच स्वतंत्र वैविध्य भी मिलता है : पुकार ~ पुक्कार, एक ~ इक ~ इक्क; चौथी ~ चुत्थी छ ~ छट्ठो, सात ~ सत्त, आठ ~ अट्ठ, लाख ~ लक्ख। संयुक्त वर्ण प्रायः समीकरण वाली पूर्व स्थिति के हैं।[2] इनका प्रयोग शैली की दृष्टि से ही हुआ है।

३.३.१. आदि स्थित संयुक्त व्यंजन

पद के आरंभ में केवल [य], [व] से संयुक्त रूप मिल सकते हैं,[3] अन्य संयुक्त रूप व्यंजन-लोप की प्रक्रिया से समाप्त कर दिये जाते हैं। स्पर्श > परस, भ्रमर > भंवर, प्रिय > पिय आदि उदाहरणों से यह प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है।

ऋ का उच्चारण। र। के समान हो गया था। इसलिये इस मात्रा से युक्त आदि स्थित व्यंजन को स्वरागम की पद्धति से सामान्य कर दिया गया। नृत्यत, > निरतत, हृदय > हिरदै में यही प्रवृत्ति दिखलाई पड़ रही है। त्रिया > तिरिया, प्रवीण > परबीन, शुद्ध। र। से संयुक्त रूपों के विकास के उदाहरण हैं।

पद के आदि में प्रयुक्त संयुक्त व्यंजन को निरस्त करने की एक और पद्धति आदि स्वरागम है। अस्तुति < स्तुति; अस्नान < स्नान इसी < वृत्ति के द्योतक हैं। इससे भी ब्रजी की स्वर-बहुलता में वृद्धि होती है। साथ ही संयुक्त व्यंजन की आदि स्थिति भी समाप्त हो जाती है।

आदि में भी स्वर भक्ति के उदाहरण मिलते हैं : परस < स्पर्श; दुआर ~ दुवार < द्वार।

३.३.२. स्वर मध्यग संयुक्त व्यंजन :

स्वर-मध्यग संयुक्त व्यंजन को समाप्त करने की तीन प्रविधियाँ मिलती हैं : मध्य स्वरागम या स्वर-भक्ति, सरलीकरण और नासिक्य व्यंजन का सानुनासिकता में विकास।

---

१. वंशभास्कर ३१५३।२२, ४०६।२६।

२. कट्टि, दुग्ग, हत्थ, कज्ज।

३. ग्यारह, स्वाद आदि। स्वप्न > सपना में इसके प्रति भी असहिष्णुता प्रकट होती है। स्वर्ग > सुरग ~ सरग भी ऐसा ही उदाहरण है।

३.३.२.१. मध्य स्वरागम

इस प्रक्रिया के दो सौंदर्यतात्त्विक परिणाम निकलते हैं : संयुक्त व्यंजन को कर्कशता से भाषा की मुक्ति और भाषा की स्वर-बहुलता में वृद्धि। प्राचीन काल के ध्वनिविद् भी इस प्रवृत्ति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। मध्यकाल में आकर यह प्रवृत्ति प्रमुख हो गई। ब्रजभाषा तक यह प्रवृत्ति निरंतर वर्द्धमान रही

क. र~ल+संघर्षी

इस परिस्थिति में स्वर भक्ति की स्थिति संस्कृत ध्वनिवदों ने भी स्वीकार की है।[1] पालि और प्राकृत में र+व्यंजन का विकास समीकरण के भी आश्रित रहा[2] और स्वर भक्ति के भी।[3] पालि में प्रायः समीकरण ही मिलता है।[4] । अ । ~ । इ । का आगम होता था।[5] इस प्रकार संघर्षी ध्वनियों से पूर्व स्वरभक्ति होना भारतीय भाषाओं में नियमित सा रहा।[6] स्वरभक्ति का स्वर । ऐ । के समान भी उच्चरित माना गया है।[7] हो सकता है इसी का विकास । इ । में हो गया हो। संभवतः ह्रस्व स्वर । अ ।, । इ ।, तथा । उ । के द्वारा स्वर-भक्ति सम्पन्न होती थी। प्राकृत युग में । ह । के पूर्व । अ । और । स । के पूर्व । इ । अधिक आते हैं।

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने जब रेफ युक्त व्यंजनों को कठोर मानने का लक्षण दिया तो संभवतः उनकी दृष्टि में यही विकास प्रवृत्ति लक्षित रही होगी। ब्रजभाषा में । अ । के आधार पर स्वरभक्ति सम्पन्न हुई है। जैसे : वर्ष > बरस; दर्शन > दरसन।

ख. र्+स्पर्श व्यंजन

मारगि < मार्ग; पूरन < पूर्ण; बरन < वर्ण; पर्ण < परन[8] दुरदैव < दुर्दैव; आयुरबल[9] आयुर्बल। बोलचाल में 'मार्ग' का। मारिगु। भी मिलता है। और सूरकालीन ब्रजभाषा में। मारग। भी : 'काहे को रोकत मारग सूधौ।'

ग. स्पर्श+संघर्षी

अप्सरा > अपछरा[10]; उत्साह > उतसाह; (उछाह भी)

घ. संघर्षी+स्पर्श

भीष्म > भीसम ~ भीषम; कृष्ण > किसन।

---

१. तैत्ति० प्रातिशाख्य २१।१५; अथर्व प्राति० १।१०२; वाजसनेयी प्राति० ४।१७। उदाहरण : दर्श-> दरिश, अर्ह > अरिह।

२. गर्जति > गज्जति; गर्दभ > गद्दभ; गर्भ > गब्भ।

३. वर्ष > बरिष; कर्ष > करिष; अर्हत् > अरिह।

४. दर्शन > दस्सन।

५. यह प्रवृत्ति मुख्यतः र+ह् की स्थिति में मिलती है।

६. डा० सिद्धेश्वर वर्मा : फोनिटिक ऑबजरवेशंस आफ इंडियन ग्रैमेरियन्स, पृ० १३४।

७. केशवी शिक्षा, प्रतिज्ञा सूत्र २।३। दर्शतम् > दरेशतम्।

८. लक्ष्मण सेन पद्मावती कथा-६१।

९. परमानंद सागर २०२।

१०. छिताई वार्ता-८। ११. छिताई वार्ता-१११।

ङ. स्पर्श+स्पर्श

मुगती[1] ~ मुकति,[2] सबद शब्द आदि।

च. स्पर्श+नासिक्य

जतन < यत्न; सपनो < स्वप्न; पदमावति[3] पद्मावती; बिधन < विघ्न; अगिनी < अग्नि; मगन[4] < मग्न।

छ. स्पर्श+पार्श्विक

सुकल[5] शुक्ल।

इस प्रकार स्वर मध्यग संयुक्त व्यंजनों को स्वर भक्ति की पद्धति से असंयुक्त कर दिया जाता है। इस पद्धति का सौंदर्यतात्विक महत्व सर्वस्वीकृत है।

३.३.२.२. संयुक्त व्यंजन > समीकृत व्यंजन > सरलीकृत व्यंजन

पहले संयुक्त व्यंजन को समीकरण की पद्धति से द्वित्व अथवा दीर्घ व्यंजन के रूप में विकास-दिशा मिली। जब ध्वन्यात्मक वैषम्य का संक्रमण समत्व में हुआ, तब स्थिति कुछ मृदुल अवश्य हुई, चाहे व्यंजन लोप के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली स्वर बहुलता और स्वर शृंखला में प्राप्त मृदुलता से यह कम हो। व्यंजन की दीर्घता (द्वित्व) की अपेक्षा स्वरों की दीर्घता अधिक रुचिकर है। आगे के विकास क्रम में सरलीकरण की प्रवृति ने दीर्घ व्यंजनों को ह्रस्व और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को प्रायः दीर्घ कर दिया। समीकरण जन्य द्वित्व व्यंजन में लुप्त व्यंजन का स्मारक रहा। किंतु सरलीकरण जन्य स्वर के दीर्घीकरण में लुप्त व्यंजन का वह स्मारक भी समाप्त हो गया। इस प्रवृत्ति के बीज तो अपभ्रंश में ही जम गये थे पर इसका पूर्ण प्रतिफलन बारहवीं शती के पश्चात् विकसित होने वाली ब्रजी जैसी बोलियों में हुआ।

पश्चिमी क्षेत्रों में समीकरणजन्य व्यंजन द्वित्व कुछ-कुछ बना रहा।[6] किंतु पूर्व की ओर चलने पर सरलीकरण सामान्य नियम बनता जाता है। ब्रजी में सरलीकरण का ही नियम है। इस दृष्टि से यह पूर्वी क्षेत्र के समान है। प्राकृत पैंगलम् जैसी पुरानी रचना में सरलीकृत रूप पर्याप्त मिलते हैं।[7]

---

१. छीहल बावनी-४।

२. मुकति आये मंदे में मेली। सूर।

३. प्रद्युम्न चरित-४।

४. परमानंद सागर २०५, ६।

५. वही, २०८।

६. डा० चाटुर्ज्या, : "हिन्दी में हमें काम, हाथ, कल, सच कुछ, नथ, रत्ती, चद्दर, उम्मेद आदि रूप मिलते हैं, जब कि उन्हें भाषा नियम के अनुसार काल, साच कूछ, नाथ, राती, चादर तथा उमेद होना चाहिए था, किंतु अंतिम शब्दों में व्यंजन-द्वित्व सुरक्षा का मूल कारण पंजाबी का प्रभाव है।" (भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ १२४)।

७. आछे (४६२।२, < अच्छइ < अक्षति) करीजे (४०२।२, < करिज्जइ < क्रियते) चाम (४३९।-२, < चर्म आदि रूप इसके उदाहरण हैं। साहित्यिक ब्रजी में भी ये प्रचलित हैं।

सरलीकरण के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं : जूठो < *जुष्ट < उच्छिष्ट; बूढ़ो < बुड्ढ < बृद्ध; तासु < तस्य; फागु < फग्गु; काज < कज्ज < कार्य; कीजइ < किज्जइ < क्रियते। जुत < युक्त जैसे शब्दों में पूर्ववर्ती स्वरों का दीर्घीकरण भी नहीं हुआ।

३.३.२.३. नासिक्य+अन्य व्यंजन > ँ + व्यंजन

संस्कृत के काव्यशास्त्र में इस प्रकार के संयोग (नासिक्य+व्यंजन) को अन्य संयुक्त रूपों से मधुर माना गया है। किंतु ब्रजभाषा में इस नासिक्य व्यंजन के स्थान पर शुद्ध सानुनासिकता आ जाती है, जो पूर्ववर्ती स्वर के दीर्घीकृत या सामान्य रूप के साथ संलग्न हो जाती है। यह मधुरता की दिशा में आगे का कदम ही है। इस प्रकार के संयुक्त रूपों के प्रथम नासिक्यांश को अनुस्वार कहकर बिंदी से व्यक्त कर दिया जाता किंतु वास्तव में अनुस्वार ऊष्म और अंतस्थ ध्वनियों के पूर्व ही आता है।[१] शेष स्थितियों में वह वर्गीय व्यंजन ही है। इस वर्गीय व्यंजन का विकास अनुनासिकता में होता है। जिस स्वर के साथ यह अनुनासिकता संबद्ध होती है, उसका दीर्घीकरण अनिवार्य नहीं वैकल्पिक है। उदाहरण ये है : वंशी > बाँसुरी, पंक्ति > पाँति, पण्डित > पाँड़े, इनमें स्वर का दीर्घीकरण भी है। गोविन्द > गोविंद, रंग > रँग, नन्द > नँद जैसे उदाहरणों में स्वर का दीर्घीकरण नहीं हुआ।

३.४. संयुक्त ध्वनि > असंयुक्त ध्वनि

क्ष > छ। ख : क्षत्री > छत्री; नक्षत्र > नछत्र, यक्ष > जच्छ; क्षत्री > खत्री, रक्षपाल > रखवारौ; वृक्ष > रुख आदि। त्य > च; मृत्यु > मीचु। ध्य > झ : युद्धय > जुज्झ > जूझ; सन्ध्या > संझा ~ साँझ ~ संजा। त्स > छ : उछंग ~ उच्छंग उत्संग।

उपर्युक्त विवेचन से ब्रजभाषा का माधुर्य के ध्वन्यात्मक आधार का स्पष्टीकरण हो जाता है। इस माधुर्य का कारण केवल यह नहीं है कि ब्रजी में मधुर संदर्भ अधिक रूपायित हुए हैं। ब्रजी की ध्वन्यात्मक प्रकृति का विकास भी इस प्रकार हुआ कि यह मधुर संदर्भों की संवाहिका बन सकी। विकास की कुछ सरणियाँ तो प्राकृत अपभ्रंश युग की हैं और कुछ आगे बढ़ कर ब्रजभाषा को और अधिक मधुर-सुकुमार बना देती है। नासिक्य व्यंजनों का सानुनासिक स्वरों में अर्द्ध-संवृत स्वरों का अर्द्ध विवृत स्वरों में विकास भी मधुरतर है। प्राकृतों में मूर्द्धन्य ध्वनियों का बाहुल्य माधुर्य की अभिव्यक्ति को बाधित करता था। ब्रजी में मूर्द्धन्य व्यंजनों का भी मृदुलीकरण हुआ। द्वित्व व्यंजनों के बाहुल्य के कारण प्राकृतों का वातावरण सरल-सुंदर नहीं था। ब्रजी ने इस वातावरण को भी सरल कर दिया। इस प्रकार ब्रजी में माधुर्य की अभिव्यंजना के लिए उपयुक्त प्रविधियाँ स्वतः विकसित हुई। ब्रजी के ध्वन्यात्मक विकास की कुछ प्रवृत्तियाँ पूर्वी अंचल की भाषा-बोलियों के समीप हैं। कई शताब्दियों तक ब्रजभाषा अपने स्वाभाविक माधुर्य के कारण ऐहिक शृंगार और पारलौकिक माधुर्य के माध्यम के रूप में गृहीत रही।

---

१. Emereau, The Nasnal Phonemes of sanskrit, (Language, 22, 1946) Allen Phonetics in Ancient India. धीरेन्द्र वर्मा. हिन्दी साहित्य का इतिहास. प० ९४।

ब्रज-गौरव : ग्वालकवि

डॉ० भगवान सहाय पचौरी
एम. ए., पी-एच. डी.

संस्कृत में सामान्यतः दो कोटि के आचार्य हुए : १. मौलिक उद्भावक और २. व्याख्याता। भरत, भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने काव्य शास्त्र के विविध अंगों के सम्बन्ध में अपनी-अपनी मौलिक उद्भावनाएं की हैं। अतएव ये मौलिक उद्भावक आचार्यों की कोटि में आते हैं। मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने उपर्युक्त आचार्यों के प्रतिपादित सिद्धान्तों की व्याख्याएं प्रस्तुत की। अतः ये आचार्यों की द्वितीय श्रेणी में गणनीय हैं। हिन्दी में बात कुछ और ही रही। हिन्दी के आचार्य कहे जाने वाले केशवादि कवियों ने मौलिक उद्भावनाएं तो की ही नहीं, अपने पूर्ववर्ती संस्कृताचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों की व्याख्याएं करने में वे प्रायः असफल-असमर्थ रहे। अधिकांश हिन्दी कवियों ने काव्यशास्त्र के गूढ़-शुष्क-सिद्धान्त-प्रधान दुरूह विषयों को पूर्ण मनोयोग भी नहीं दिया। अंगुलियों पर गणनीय जिन कतिपय पंडितों ने इस विषय को तनिक गम्भीरता से ग्रहण भी किया, तो वे भी प्रायः उनकी तलस्पर्शी मार्मिक व्याख्याएं नहीं कर पाये। अतः हिन्दी में आचार्यों की एक पृथक् ही परिपाटी बनती है। एक तो वे आचार्य थे, जो संस्कृत के लक्षण-उदाहरणों के सीधे अनुवाद हिन्दी में रूपांतरित करते रहे। दूसरे वे जो लक्षण तो संस्कृत के शास्त्र पर आधृत लिखते रहे किन्तु उदाहरण अपने स्वतंत्र लिख-लिखकर अपनी काव्य प्रतिभा का प्रदर्शन करते रहे। तीसरे आचार्य वे हैं जो संस्कृत ग्रन्थों के लक्षणों को आत्मसात् करते हुए इतिहास-परक और विमर्शात्मक विवेचन करते हुए अपने और पूर्ववर्ती कवियों के उदाहरण देकर विषय को स्पष्टता और स्वच्छतापूर्वक व्याख्याएं देकर सुलझाते रहे। इन अन्तिम कोटि के कवियों ने पद्य को अपनी व्याख्या में जहाँ अस्पष्ट होते देखा तो गद्य के माध्यम से भी वस्तु-विषय को स्पष्ट करने की भरपूर चेष्टा की। वस्तुतः हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने कवि-शिक्षक होने की सार्थकता ही सिद्ध की। परन्तु जिन्होंने मात्र कवि-शिक्षक कर्म करके ही अपने आचार्य-कर्त्तव्य की इतिश्री न समझी और अतल गहराइयों में उतरकर सिद्धान्तों की परख की, मनोयोगपूर्वक व्याख्याओं के मौलिक मोती निकाल कर हिन्दी को प्रदान किए, वास्तव में वे ही हिन्दी के आचार्य कहलाने के अधिकारी हैं। इस सारणी में एक अग्रणी नाम है कुलपति मिश्र का। इन्होंने गद्य को भी व्याख्या का माध्यम बनाकर कुछ गहरी डुबकियाँ लगाईं। इसी परम्परा को मिखारीदास ने अग्रसर किया। ग्वाल ने इसी परम्परा में सर्वाधिक गहराइयों में उतर कर विस्तृत गद्य व्याख्याएं दीं, इतिहास सम्मत प्राणवान विमर्श दिये और हिन्दी के ही नहीं संस्कृत के भी सर्वमान्य आचार्यों एवं व्याख्याकारों के सिद्धान्तों को आत्मसात करते हुए अपने स्वतंत्र तर्कसम्मत मतों की उपस्थापनाएं कीं। उपेक्षित लक्षण ग्रन्थों को भी वे प्रथम बार अपने पांडित्यपूर्ण विवेचन में स्थान दे पाये और इस प्रकार हिन्दी काव्य शास्त्र को अद्यतन स्वरूप प्रदान करने का श्रेय मिलता है महा-कवि ग्वाल को।

इस कवि के ग्रन्थों की अनुपलब्धता ने हिन्दी काव्यशास्त्र की अधुनातन उपलब्धियों पर जो परदा डाल रखा था, वह आज उठ गया है। ग्वाल साहित्य के अनावृत होने पर हिन्दी काव्यशास्त्र का पुर्नमूल्यांकन आज की आवश्यकता बन गई है। अतएव सूत्र रूप में यहाँ ग्वाल के आचार्यत्व का मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है।

एक आचार्य के दुर्वह-दुरूह कर्म का निर्वाह करने की ग्वाल में कितनी प्रतिभा, क्षमता और निपुणता थी, इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि इसने रीतिशास्त्र पर ही पूरे छै ग्रन्थ लिखे—१. रसिकानन्द [१८७९ वि०], २. रसरंग [सं० १९०४ वि०], ३. बलवीर विनोद [सं० १९०४ वि०], ४. कवि दर्पण [सं० १८९१ वि०], ५. प्रस्तार प्रकाश [सं० १९०३ वि०] और ६. साहित्यानन्द [सं० १९०५ वि०]।

काव्यशास्त्र का कोई अंग ग्वाल के कार्यक्षेत्र की परिधि से बाहर नही रहा। अन्यान्य हिन्दी आचार्यों की भाँति चर्विति-चर्वण अथवा पिष्टपेषण की परम्परा का यहाँ निर्वाह नहीं हुआ। जो विषय एक ग्रन्थ में स्वच्छ और स्पष्ट न हो सका उसे परवर्ती ग्रन्थ में पुनः नवीन दृष्टि से कवि ने सँजो कर रख दिया है: यहाँ तक कि ग्रन्थों का आकार वृहत से वृहतर होता चला गया। 'साहित्यानन्द' इस कवि का और हिन्दी रीति साहित्य का आकार, प्रौढ़ता एवं गुण की दृष्टियों से विशालतम और अन्तिम रीति ग्रन्थ है, जिसमें रीति के सर्वाङ्ग का विशदता, स्वच्छता, स्पष्टता, विमर्श एवं पूर्णता पूर्वक पाण्डित्यपूर्ण विवेचन मिलता है।

यहाँ प्रमाण स्वरूप संस्कृत और हिन्दी के ऐसे आचार्यों और कवियों की नामावली देना उचित दीखता है, जिनके मतों को मूल या अनुदित रूप में ग्वाल ने खण्डन अथवा मण्डन के लिये अपने ग्रन्थों में अंगीकृत किया है—

संस्कृत—भरताचार्य [नाट्यशास्त्र], भामह [काव्यालंकार], दण्डी [काव्यादर्श], रुद्रट [काव्यालंकार], रुद्रभट्ट [शृंगार तिलक], आनन्दवर्धन [ध्वन्यालोक], अभिनव गुप्त [ध्वन्यालोक की लोचन टीका], राजशेखर [कर्पूरमंजरी एवं काव्य मीमांसा], धनंजय [दशरूपक], भोज [शृंगार प्रकाश], मम्मटाचार्य [काव्य प्रकाश], जयदेव [चन्द्रालोक], विद्याधर [एकावली], विश्वनाथ [साहित्यदर्पण], भानुदत्त [रसमंजरी], भानुमिश्र [रसतरंगिणी] रूप गोस्वामी [भक्ति रसामृत सिन्धु एवं उज्ज्वलनीलमणि], अप्पय दीक्षित [कुबलयानन्द], वैद्य नाथ सूरि [अलंकार चन्द्रिका], पंडित राज जगन्नाथ [रस गंगाधर], विश्वेश्वर पण्डित [अलंकार प्रदीप], वात्सायन [कामसूत्र], कोक्कोक [रति रहस्य], श्री हर्ष [रत्नावली], पिंगलाचार्य [पिंगल], अमर सिंह [अमरकोश], एकाक्षरी भारती [वृत्ति, वेणी संवर्त्त], कुमार सम्भव, वीरचरित्र आदि।

हिन्दी—केशवदास (रसिक प्रिया, कवि प्रिया एवं राम चन्द्रिका), चिन्तामणि (कवि कुल कल्पतरु), देव (काव्य रसायन, भवानी विलास, भाव विलास एव प्रेमतरंग), भिखारीदास (काव्यनिर्णय), मतिराम (रसराज), विहारी (सतसई), कुलपति मिश्र (रस रहस्य), जसवंतसिंह (रसमंजरी), हरचरण दास (सभा प्रकाश और (कवि वल्लभ), पद्माकर (जगत्विनोद), ठाकुर, श्रीपति (काव्य सुधाकर), नरवर पति रामसिंह (रस विनोद), परमेश, सुन्दर, दयानिधि, दयाल, वैरीसाल (भाषा भरण), उदयनाथ कवीन्द्र, बलभद्र (नखशिख), सूरतिमिश्र (अमर-चन्द्रिका और नखशिख), दूलह (कविकुलकंठाभरण) आदि।

हिन्दी आचार्यों का अनुसरण न करते हुए ग्वाल ने संस्कृत के प्रायः सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों का मंथन

किया और सभी का अपने विवेचन में उपयोग किया है। फिर भी इसके प्रमुखतम ये आधार ग्रन्थ हैं—नाट्य शास्त्र, काव्य प्रकाश, रसमंजरी, रस तरंगिणी, कामसूत्र, रति रहस्य, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द और पिंगल। रीति कवियों के विरुद्ध एक आरोप यह भी है कि वे एक या दो आधार ग्रन्थ लेकर ही ग्रन्थ-रचना में प्रवृत्त हो जाते थे और यह कि वे संस्कृत वाङमय का तलस्पर्शी ज्ञान नहीं रखते थे। यह आरोप बहुत अंशों में सत्य भी है। किन्तु ग्वाल के रीति ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य से दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि उसने प्रायः सम्पूर्ण संस्कृत काव्य शास्त्र का तो गूढ़ अध्ययन किया ही था, निरुक्ति पर भी उन्हें अच्छा अधिकार प्राप्त था। यही नहीं हिन्दी के पूर्ववर्ती रीति ग्रन्थकारों की रचनाओं का भी उन्होंने अच्छा अध्ययन कर रखा था, तभी तो वह संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी कवियों को भी अनकेत्र उद्धृत कर सके। सस्कृत और भाषा के अगाध वाङमय का आमूल आलोड़न करके ग्वाल ने जिस सन्तुलित समन्वित हिन्दी काव्यशास्त्र का सृजन किया, उसे देखकर विद्वान् आश्चर्य करेंगे। ग्वाल की अध्ययन-गरिमा के विषय में आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन उचित ही है कि "हिन्दी रीति शास्त्र की परम्परा में संस्कृत आधार ग्रन्थों का कदाचित सबसे अधिक आलोड़न करने वाले यह ही (ग्वाल) हुए है।[1] संस्कृत साहित्य के व्यापक अध्ययन ने ग्वाल में अटूट आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया था, जिसके कारण वे दृढ़ता पूर्वक हिन्दी के ही नही, संस्कृत आचार्यो के सिद्धान्तों पर भी अपना सूक्ष्म निर्णय देने में सफल हुए। मम्मट जैसे स्वनामधन्य व्याख्याकार के दोष निरूपण को बड़े आत्मविश्वास के साथ चुनौती दे सके। स्पष्टोक्ति में इस कवि ने रंचमात्र भी चूक नहीं की। ईमानदारी इस कवि मे इतनी है कि उसने संस्कृत आचार्यो के ऋण को भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकारा है। विवादास्पद स्थलों पर उसने नितान्त वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया है। प्रथमतः हिन्दी के लक्षणों का उल्लेख किया गया है। यथा :

'प्रथम प्रमान भरताचार्य का मत—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव इन करिथाई भाव व्यंग ठियो रस आनन्द स्वरूप प्रगट होत है।

अथ अभिनवगुप्ताचार्य कौ मत—नाट्य काव्य देखि सुनि आवरण विगत होंय अरु आनन्द रूप प्रकाशित चैतन्य सोई रस होत है।

अथ काव्य प्रकाश कौ मत—कारन कारज सहायक ये मिलि फिर प्रगट होंय थाई भाव सो रस। कारन कारज सहायक इन हीं को नाट्य शास्त्र मे विभाव अनुभाव कहत हैं अरु भावादिक में एक ही होय जहां और भावना की कल्पना करि लीजियत है।

अथ साहित्य दर्पण कौ मत—स्वयं प्रकाश आनंद स्वरूप शुद्धत। अखण्ड ज्ञान रहित ब्रह्मानंद स्वादतुल्य ऐसौ रस होत है। —रसिकानंद ४।१

इसके पश्चात् विमर्श चलता है और अंत में कवि ने अपने नवीन मत की उपस्थापनाएं की हैं, जिन्हें अथ हमारौ मत' या 'हमारौ नवीन मत' करके पृथक लिखा है।

हिन्दी के पूर्ववर्ती आचार्यो ने संस्कृत के साथ जहाँ न्याय नहीं बरता वहाँ इस कवि ने अपने अकाट्य तर्कों द्वारा उनके साथ वैमत्य रखते हुए नवीन भाष्य दिये है और 'नवीन लक्षण' शीर्षक के साथ अपनी परिभाषायें लिखी हैं। कुलपति मिश्र द्वारा प्रतिपादित काव्य-परिभाषा को ग्वाल ने अपना तर्क पूर्ण मत प्रस्तुत

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत : दूसरा भाग, सं० २०२३ वि० पृ० ६१०।

किया है।[1] इससे कवि के ज्ञान एवं उसकी आलोचना शक्ति का पता चलता है। अमरकोश[2] के उद्धरणों और वेद[3] के वाक्यों से भी कवि ने अपने कथनों की पुष्टि की है। संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य मम्मट के परस्पर विरोधी कथनों की भी कवि ने कविदर्पण में एक स्थान पर आलोचना की है, और उसे केवल अपने ज्ञान बल पर खंडित करने का प्रयास किया है।[4] ग्वाल का यह प्रयास उनके आत्म विश्वास का द्योतक है। यहाँ कवि का आशय काव्य-प्रकाशकार की कमियों की ओर संकेत करने का है, जिनकी ओर किसी भी टीकाकार ने

---

१. देखिए लेखक के शोध प्रबन्ध का पृ० १९४

२. विकारो भावसो भाव शोध प्रबन्ध : पृ० २४८

३. 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' आदि साहित्यानन्द चतुर्थ स्कन्ध शोध : पृ० २५३

४. कवि दर्पण में दोष प्रसंग में काव्य प्रकाश पर इस प्रकार विमर्श प्रस्तुत करते हैं :—

पाठी काव्य प्रकाश के तिनसों प्रश्न हमार।
मम्मट से या सिंधु को करो लेख उद्धार॥
केतिक ऐसे प्रश्न हैं सुनो बिबुष चित्त सुद्ध।
है उनहीं के लेखसों उनको देख विरुद्ध॥
केते केवल प्रश्न ही करियत बुद्धि विचार।
काहू टीका में न जो प्रश्न न उत्तर सार॥
लक्षन जो असमर्थ कौ मिलत अवाचक मांहि।
संस्कार हत आदि तें जात वाक्य क्यों नांहि॥
लिख्यौ अपुष्ठारथ जहाँ दोष और गुन होइ।
तहाँ अधिक पद होत है दोष और गुन सोइ॥
कियौ अधिक पद गुन जहाँ तहाँ कथित गुन होई।
तजिकै पक्ष विचारियौ नीके करि बुधि लोइ॥
अर्थ साँहि संदिग्ध कौ उदाहरन जो ढार।
तापै व्यक्ति विभाव की होत सकष्ट निहार॥
एक लज्जा अस्लील हौ लिखौ अर्थ के माँहि।
ग्वाल अनर्गल दुहुन के उदाहरन है नाँहि॥
जो न अर्थ में सम्भवै तौ लिखनौ का हेत।
दूजे क्यों किस अर्थ गुन ग्लान अशुभ कहि चेत॥
जहाँ सलेष आदिक विषै निहितारथ गुन होत।
तहाँ असमर्थ न होत गुन किहि का न बुध गोत॥

केतिक इति—केतिक प्रश्न ऐसे हैं कि इनके लेखसों इनहीं में विरुद्धता आवै है। केते केवल प्रश्न ही हैं। लक्षन इति—लक्षन असमर्थ कौ लिख्यौ है—'यदर्थं पठ्यते न च तत्र तस्य शक्ति' याकौ अर्थ—जा निमित्त पढ़िये न तहाँ ताकी सक्ति होय ऐसौ लिख्यौ सो यह अवाचक में मिल्यौ क्योंकि जन्तु शब्द अदाता में पढ्यौ तहाँ ताकी शक्ति नहीं याते असमर्थ भयौ चाहिये ताते लक्षन में इतनी न्यूनता है जहाँ जानियत पढ़ियै तहाँ

ध्यान आकृष्ट नहीं किया। इस न्यूनता को केवल ग्वाल की सूक्ष्म बुद्धि ने देखा था। कहने का तात्पर्य यह है कि ग्वाल जिस आत्मविश्वास, दृढ़ता, योग्यता और व्युत्पन्नता के साथ संस्कृत के आचार्यों की आलोचना करते हैं और रीतिशास्त्र में वे जितने गहराइयों में उतरे हैं उतना निष्णात रीति का कोई अन्य आचार्य सम्भवतः नहीं दिखाई देता। उन्होंने रीति के जिस अंग को भी पकड़ा उसे मनोयोग के साथ पूरा-पूरा निभाने का सफल प्रयत्न किया। इस विषय में डा० महेन्द्र कुमार का कथन हमारे मत की कुछ सीमा तक पुष्टि करता है। वे लिखते हैं—"उनकी विवेचन शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यथा स्थान संस्कृताचार्यों का मत देकर उसे तर्क की कसौटी पर कसते हैं और अपने मत की स्थापना करते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उनमें संस्कृत के आचार्यों की आलोचना करने का साहस और प्रतिभा दोनों थीं। इनकी विवेचना शैली की दूसरी विवेचना यह है कि इन्होंने लक्षण और उदाहरण यद्यपि कुवलयानंद और चन्द्रलोक की शैली पर दिये तथापि यदि विषय इन्हें स्पष्ट होता हुआ दिखाई नहीं दिया तो ब्रजभाषा गद्य में उसकी व्याख्या भी कर दी है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस व्यक्ति ने आचार्य कर्म को अत्यन्त मनोयोग के साथ ग्रहण किया है।"[१]

जब दूषण की चर्चा चली तो लगते हाथ यहाँ यह भी निवेदन कर दिया जाय कि कवि ने इस प्रसंग को भी रस, अलंकार की भाँति गहराई पूर्वक ग्रहण किया है। साहित्यानन्द में सामान्यतः और कविदर्पण में विशेषतः केशव, बिहारी आदि हिन्दी के मान्य रससिद्ध कवियों के अनेक प्रसिद्ध छन्दों को ग्वाल ने शास्त्र की कसौटी पर कसा और उनको सदोष बतलाते हुए निर्दुष्ट बनाकर रखा है। कविदर्पण में रचना की पृष्ठभूमि में कवि की यही इच्छा बलवती दिखाई देती है कि सभी कवियों ने अपनी-अपनी कविता को शुद्ध करने की प्रार्थना विद्वानों से की है, परन्तु इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। और मैं 'ग्वाल' इन को निर्दुष्ट बनाकर दिखाऊंगा,[२] और यह सच है कि कवि ने अपनी इस प्रतिज्ञा का अनुपालन किया है।

ताकी अल्प शक्ति होय—ऐसो—कह्यौ चहियत है यही असमर्थ शब्द के अर्थ हैं और जाकौ नहीं है काह रीति ते वाचक में अवाचक सस्कार हत इति-गत संस्कृत औ निरर्थक औ असमर्थ ये तीनों वाक्य में नहीं होते हैं जैसो लिख्यो है परन्तु इसके कारन लिख्यौ क्यों नहीं ये वाक्य में होते हैं तो सो कुछ खोलो नही ताते याको निरनय हम लिखत हैं ये तीनों वाक्य में बनायें तो बनि सकें हैं परन्तु इनमें ते दोय तो नहीं ह्वै सकें। गत संस्कृत औ निरर्थक—क्योंकि इनके बनाने का कारन अति मूर्खत्व है। छंद में एक ठौर संस्कृत चूकें तो चूकें भी। एक ठौर निरर्थक पद पड़ि जाय तो भी पड़ि जाय। वाक्य भर में चूकें ऐसौ नहीं सकें। कोई पद चूकि कै कहै तौ वाक्य होय सो ऐसी भूल पंडितन ते नहिं हो सकें हैं। बालक या बाबरों या अमली कहें तो आश्चर्य नहीं। आगे रह्यौ असमर्थ सो यह दूषन निहितार्थ तो न्यून है। जहाँ निहितार्थ होयगौ। वहाँ असमर्थ क्यों न होयगौ। या हेत ते असमर्थ वाक्य में भी है सकें हैं। और निहितार्थवत् गुन भी है सकै है। अब तीनों के गुन वाक्य में दिखाइत हैं।" **कवि दर्पण ७।३२।४२ तथा टीका**

१. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास पृष्ठ भाग सं० डा० नगेन्द्र : पृ० ३८१—३८२।

२. **लिखित चले आये सबै अगिले सुकवि अपार।**
भूल होइ सो लखि सुकविलीजौ ताहि सुधार॥
कवित पुराने घरन कौ कारन यह सुविचार।

रस, अलंकार और पिंगल के निरूपण के प्रसंग में यह दिखाया जा चुका है कि ग्वाल ने अपने विवेचन में पर्याप्त ईमानदारी से काम लिया है। रस और अलंकार पर अच्छे विचार विमर्श किये गये हैं। मुख्यतः रस प्रसंगों में ग्वाल ने परंपरा के साथ-साथ चलते हुए भी नए आयामों की प्रतिष्ठापना की है और कहीं-कहीं परम्परा को नकारा भी है। उदाहरणार्थ हिन्दी के किसी रीति कवि ने रूप गोस्वामी द्वारा प्रतिस्थापित भक्ति-रस को ग्रहण नहीं किया है। भक्ति-रसामृत-सिन्धु और उज्ज्वल-नील-मणि से भक्ति उपासना के सख्य, दास्य और वात्सल्य रसों के निरूपण को रस विवेचन में प्रथम बार अंगीकार करने वाले आचार्य ग्वाल हैं। इससे रस निरूपण का अद्यतन समाहृत रूप बना। इस प्रसंग में दूसरी नवीन बातें ग्वाल ने यह कीं कि रीति परम्परा के विरुद्ध चल कर उन्होंने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र सर्व "भाव" निरूपण रस से पहले किया है तदनन्तर रस का प्रसंग उठाया। रस भावों से उद्‌बुद्ध होता है, प्रायः भाव या रस से पूर्व वर्णन करना तर्क सम्मत और समीचीन भी है। मित्र-अमित्र रसों की चर्चा हिन्दी के बहुत कम कवियों ने की है। ग्वाल ने अपने ग्रन्थों में इस प्रसंग को भी निभाया है। इस कवि ने नायिका की परिभाषा को भी अपनी सूझ से नया रंग देने का प्रयत्न किया है।[1] अलंकार के स्वरूप को भी कवि ने नये दृष्टि बिन्दु से देखा है।[2] अधिकांश रीति कवियों ने अर्थालंकारों का ही वर्णन किया है। ग्वाल ने अब तक के सभी अर्थालंकारों का विशद वर्णन करते हुए शब्दालंकारों को भी विवृत किया है। पिंगल निरूपण में पिंगलाचार्य का अनुगमन करते हुए कवि ने परम्परा का ही पालन किया है। शब्द शक्ति पर कवि ने जम कर लिखा है।

जिन काव्यांगों के वर्णन में ग्वाल की वृत्ति विशेष रूप से नहीं रमी है, उनमें रीति के अन्य आचार्यों ने भी रुचि नहीं दिखाई और वे हैं रीति, गुण, वृत्ति और शृंगारेतर रस। ग्वाल ने भी इनका वर्णन आनुषंगिक कर दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है—"हिन्दी में लक्षण ग्रन्थों की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए हैं वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे। उनमें आचार्यत्व के गुण नहीं थे। उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्य शास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ है। आगे चलकर वे लिखते हैं कि अपनी ओर से उन्होंने न तो अलंकार क्षेत्र में कुछ मौलिक विवेचन किया, न रस क्षेत्र में।[3] डा० नगेन्द्र ने भी आचार्य शुक्ल की इस धारणा की पुष्टि की है।[4] इस क्षेत्र में ग्वाल ने मौलिक उद्‌भावनाएँ तो नहीं कीं परन्तु जैसा कि हम इनके रीति निरूपण और आचार्यत्व के प्रसंग में निष्कर्ष निकाल चुके है वे एक समर्थ आचार्य है और उन्होंने आचार्यत्व कर्म को अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया और मनोयोगपूर्वक निभाया है। साहित्यशास्त्र के सर्वाङ्ग पर इन्होंने बहुत कुछ लिखा और विशदता एवं स्वच्छन्दतापूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है। रस-विवेचन से पहले मनोवैज्ञानिक आधार पर भाव वर्णन की वरीयता, रस सिद्धान्त की अनुशीलनात्मक और खंडन-मंडनात्मक विवेचना, भक्ति सम्प्रदाय के सख्य, दास्य और वात्सल्य रसों की हिन्दी में प्रथम बार विवृति, अलंकार सम्बन्धी नवीन दृष्टि, शास्त्रीय कसौटी पर कसकर हिन्दी के पूर्ववर्ती कवियों

दोष दिखाइ बनाइ पद दीयौ ताहि सुधार॥

१. साहित्यानन्द-स्कन्ध ४।

२. वही स्कन्ध १६।

३. देखिए, देव और उनकी कविता, पृष्ठ ३०५।

के काव्य-दोषों का सप्रमाण निर्दुष्टीकरण, लम्बी-लम्बी गद्य वार्ताओं और टीकाओं का सिद्धान्त-विवेचन में प्रचुरता के साथ प्रयोग आदि ग्वाल के आचार्यत्व कर्म की विशेषताएं हैं जिनके सर्वांशतः दर्शन केशव, चिन्तामणि, देव, मतिराम, भिखारीदास, जनराज, कुलपति मिश्र, गोविन्द, प्रतापसाहि आदि के निरूपण में भी नहीं मिलते। गद्य का प्रयोग कुलपति मिश्र, भिखारीदास, गोविन्द, प्रतापसाहि आदि कतिपय आचार्यों ने किया है परन्तु बहुत सीमित रूप में। पिंगल का ग्वाल के अतिरिक्त बहुत ही कम कवियों ने निरूपण किया है। इस कथन की आवृत्ति करने से हमारा अभिप्राय इस बात पर बल देने का है कि ग्वाल की दृष्टि और विवेचन पद्धति सर्वथा नवीन है और वैज्ञानिक भी। अतः मौलिक कहलाने की अधिकारिणी है। यह एक सफल आचार्य की सूझ-बूझ मात्र की ही परिचायक नहीं, बल्कि उसकी विषय की गहरी पैठ, पाण्डित्य-प्रखरता और निर्भीक आलोचना शक्ति पर भी प्रकाश डालने को पर्याप्त है। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[1] और डा० महेन्द्रकुमार[2] की तथ्यपूर्ण निष्पत्तियों से मेरी ग्वाल विषयक उक्त प्रतिष्ठापनाओं की अंशतः पुष्टि हो जाती है।

हिन्दी में आचार्यों के तीन वर्ग मिलते है—१. मम्मट और विश्वनाथ आदि की शैली पर काव्य के दशांग का विवेचन करने वाले आचार्य, २. शृंगार तिलक और रसमंजरी आदि के अनुसार केवल शृंगार रस और उसके प्रधान आलम्बन नायिका का वर्णन करने वाले आचार्य और ३. चन्द्रालोक और कुवलयानन्द आदि के आधार पर अलंकार मात्र का निरूपण करने वाले आचार्य। ग्वाल ने काव्य के सर्वाङ्ग का विवेचन किया है, अतएव स्पष्टतः उनका स्थान पहले वर्ग के अंतर्गत आता है। इस वर्ग में उनके प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी आचार्य हैं—केशव, चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, पदुमनदास, देव, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, जनराज, जगतसिंह, गोविन्द और प्रतापसाहि।

केशव को संस्कृत रीति शास्त्र को हिन्दी में उतारने का ऐतिहासिक श्रेय प्राप्त है। इन्होंने अलंकार और रस सम्प्रदायों की हिन्दी में प्रतिष्ठापना की। ग्वाल ने अनेकत्र इनकी मान्यताओं का प्रमाण रूप में उल्लेख करते हुए उनका आभार स्वीकार किया है और अनेकत्र इनके छन्दों को शास्त्रीय पद्धति से सदोष ठहराते हुए निर्दुष्ट भी बनाकर दिखाया है। इससे सिद्ध होता है कि ग्वाल में केशव के पाण्डित्य के प्रति मान्यता भी है और उनके कवित्व के प्रति आलोचक और सुधारक दृष्टि भी। केशव के लक्षण जहाँ अस्पष्ट है और अस्वच्छ हैं, वहाँ ग्वाल के स्पष्ट और स्वच्छ। ग्वाल का पिंगल निरूपण तथा गद्य प्रयोग उसे केशव से और ऊँचा उठा देते है। पाण्डित्य मे दोनों लगभग समान रूप से पारंगति रखते हैं, परन्तु ग्वाल ने आचार्यत्व कर्म का केशव से कहीं अधिक गम्भीरता से निर्वाह किया है।

चिन्तामणि ने दो चार स्थानो पर गद्य का आश्रय लेकर स्वनिर्मित लक्षणोदाहरणों का समन्वय मात्र दिखाया है, ग्वाल की भाँति शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत नहीं किया। चिन्तामणि की अधिकाधिक सामग्री संस्कृत का प्रायः दुरूह अनुवाद मात्र है, अतः लक्षण और उदाहरण स्वच्छ नहीं है। परन्तु चिन्तामणि का मम्मट

---

१. "कवि रूप में ग्वाल कवि का महत्व चाहे उतना न हो पर रीति ग्रन्थकार के रूप में इनका पूरा महत्व माना जाना चाहिए।" हिन्दी साहित्य का अतीत, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ६१।

२. "यह कहने में संकोच नहीं होता कि आचार्यत्व निरूपण की दृष्टि से चिन्तामणि, कुलपति आदि की परम्परा के कवि हैं।" हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, पृष्ठ भाग, पृष्ठ ३८२।

की पद्धति पर किया गया प्रथम प्रयास महत्व रखता है। ग्वाल के युग तक यह परम्परा पर्याप्त मँज चुकी थी। अतः यदि ग्वाल उनसे अच्छा विवेचन कर सके तो विशेष आश्चर्य की बात नही। चिन्तामणि रीति के शैशव काल के आचार्य हैं जबकि ग्वाल उसके प्रौढ़काल के। जो भी हो ग्वाल उनसे बहुत आगे हैं।

मम्मट की आधार परम्परा में कुलपति मिश्र ने आचार्यत्व को यत्किंचित् गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया गद्य का भी थोड़ा-थोड़ा आश्रय लिया और शास्त्रीय विवेचन भी किया, परन्तु यह ग्वाल की तुलना में परिमाण और गुण में कुछ -कुछ हलका है। कुलपति ने भी ग्वाल की भाँति मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्यों पर आक्षेप किये हैं, परन्तु दोनों के ही आक्षेप प्रायः विवादास्पद एवं अव्यवस्थित हैं। ग्वाल ने कुलपति के सिद्धान्तों के प्रमाणस्वरूप अनेकत्र उल्लेख किये हैं और उनके रससिद्धान्त का तर्कपूर्ण खण्डन करके अपने मत की प्रतिष्ठा भी की है। दोनों ही शास्त्रविद् पण्डित हैं। दोनों के लक्षण और उदाहरण स्वच्छन्न हैं, परन्तु एक तो ग्वाल का विषय-क्षेत्र व्यापक है, दूसरे इन्होंने विस्तृत गद्य का अपने विवेचन में लाभ उठाया है तीसरे उन्होंने भक्ति सम्प्रदाय तक के रस सिद्धान्त को अपनाकर शास्त्र को अद्यतन बनाया और चौथे पिंगल का भी उन्होंने विशद विवेचन किया है। कुल मिलाकर ग्वाल में कुलपति से अधिक विशेषताएँ हैं। हिन्दी को उनकी देन कुलपति से निश्चित रूप से अधिक है।

पदुमनदास रीति के सामान्य विविधांग निरूपक आचार्य हैं इनका रीति निरूपण अत्यन्त संक्षिप्त और शास्त्रीय विवेचन सामान्य कोटि का है। सम्पूर्ण विवेचन "काव्य मंजरी" के ७१६ दोहो में समाप्त हो गया है। गुण, परिमाण और विवेचन की शास्त्रीय पद्धति के निर्वाह में वे कही भी ग्वाल के समकक्ष नही ठहरते।

विषय क्षेत्र की दृष्टि से देव ग्वाल की तुलना में आने योग्य है, परन्तु आचार्य कर्म को ग्वाल के समान गम्भीरता और मनोयोगपूर्वक देव ग्रहण नहीं कर सके। ग्वाल पाण्डित्य के धनी आचार्य हैं तो देव सूक्ष्म एवं गहरी रस चेतना के अधिकारी आचार्य। देव में कहीं-कहीं निरर्थक विस्तार का आग्रह है, जबकि ग्वाल, उसी की प्रौढ़ विवेचना करके सिद्धान्तों की स्थिरता देने के पक्ष में है, ग्वाल आचार्य पहले हैं और तदनन्तर कवि देव कवि पहले हैं और तत्पश्चात् आचार्य। आचार्य रूप में ग्वाल देव से पर्याप्त आगे है।

चिन्तामणि और कुलपति मिश्र के पश्चात् शास्त्रीय विवेचन की शुद्धता के विचार से कुमारमणि का नाम प्रथम आता है। इनकी भाषा ग्वाल की भाषा से अधिक सरल और स्पष्ट हैं। भले ही इनमें ग्वाल की सी मौलिक धारणाओं का अभाव है परन्तु विवेचन में भाषा शैथिल्य, जो कही-कही ग्वाल में परिलक्षित है, कुमारमणि में देखने को नही मिलता। परन्तु ग्वाल का विषय क्षेत्र कुमारमणि से अधिक विस्तृत एवं व्यापक है। ग्वाल का विवेचन कुमारमणि के विवेचन से अधिक विशद और प्रौढ़ है। जो समन्वयक दृष्टि ग्वाल के विवेचन में पाई जाती है, कुमारमणि में उसका अभाव है।

कुलपति मिश्र के पश्चात् ग्वाल के समान अत्यन्त पांडित्यपूर्ण विवेचन करने वाले और पूर्ववर्ती कवियों तक के उद्धरण देने में संकोच न करने वाले आचार्य श्रीपति आते हैं। श्रीपति में ग्वाल के समान ही पांडित्य, प्रतिभा, साहित्यनिपुणता, आलोचना शक्ति और निर्णय देने का साहस मिलता है। इनका विषय क्षेत्र ग्वाल के समान ही व्यापक है परन्तु ये पिंगल नहीं लिख पाये। विवेचन विस्तार और समन्वय की दृष्टि से भी ग्वाल को इनसे ऊँचा उठा देती है।

गद्य का यत्र तत्र आश्रय लेकर लक्षण-उदाहरण लिखने वाले आचार्य सोमनाथ शास्त्र का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत नहीं कर सके। उनका उद्देश्य सुकुमार बुद्धि पाठको के लिए काव्यशास्त्रीय सामग्री प्रस्तुत

करना था, न कि गम्भीर विवेचन। इनकी काव्य-शास्त्र सामग्री कहीं-कहीं अत्यन्त संक्षिप्त और अपूर्ण रह गई है परन्तु भाषा सरल और स्वच्छ है। दोष प्रकरण नहीं के बराबर है। रस प्रकरण विशद है। विषय क्षेत्र ग्वाल के समान व्यापक है। सोमनाथ ने शास्त्र के दशांग का वर्णन किया है पिंगल निरूपण नहीं हुआ है। ग्वाल की विशेषताएं इनमें देखने को नहीं मिलतीं। पांडित्य की दृष्टि से भी ग्वाल से इनकी तुलना नहीं बैठती।

भिखारीदास ने काव्य शास्त्र के विवेचन को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करके कुलपति मिश्र और श्रीपति की शास्त्रीय विवेचना पद्धति को आगे बढ़ाया। इन्होंने काव्य के व्यापक क्षेत्र में कार्य किया और सफलता पूर्वक गद्य वार्तिकों का आश्रय लेकर विवेचन को स्पष्ट किया। दास के आचार्यत्व की विशेषताएँ हैं—मौलिक भावनाओं की प्रस्तुति का प्रयास, हिन्दी भाषा का आदर्श सामने रखकर ग्रन्थ निर्माण, व्यवहारिक विवेचन और तर्क सम्मत धारणाएँ ग्वाल में भी कुछ ऐसी ही विशेषताएं मिलती हैं। दास काव्य का लक्षण नहीं दे पाए। इनकी शक्ति के प्रसंग भी अपूर्ण हैं। इनकी कुछ अन्य विषय सामग्री भी अपूर्ण है। कतिपय स्थलों पर भाषा शैथिल्य भी उनके विवेचन में आ गया है। ग्वाल की भांति काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का ये परिपक्व विवेचन नहीं कर पाए परन्तु इन्होंने पिंगल को अवश्य ग्वाल की भाँति विशद एवं विस्तृत रूप से निरूपित किया है। दास का छन्दोऽर्णव पिंगल महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। गद्य की विशदता, भाषा की स्पष्टता, शास्त्रीय खण्डन-मण्डन पद्धति आदि का आद्योपान्त निर्वाह कुछ विषयों में ग्वालकवि दासजी से कुछ आगे है, परन्तु दास के कुछ सिद्धान्तों के उल्लेख करके ग्वाल ने उनकी श्रेष्ठता स्वीकार की है। अतः ग्वाल के आगे दास के महत्व को कम नहीं किया जा सकता। दोनों ही अपने-अपने युग के प्रसिद्ध रीति ग्रन्थकार हैं।

जनराज साधारण आचार्य हैं। इनका विषय क्षेत्र ग्वाल के समान ही व्यापक है। रीति का विवेचन सामान्यतः परम्परा के निर्वाहार्थ ही हुआ है। इनके शास्त्र निरूपण में शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचना का प्रायः अभाव है। इन्होंने कोई नवीन धारणा स्थापित नही की। ग्वाल के शास्त्रीय निरूपण की विशेषताएं इनमें दुर्लभ हैं।

जगतसिंह का रीति निरूपण सामान्य कोटि का है। काव्यांग में दोष प्रकरण किंचित् विस्तार के साथ और शेष अंगों का साधारण वर्णन हुआ है। ग्वाल के समान व्यवस्थित शास्त्रीय विवेचन का इनमें अभाव पाया जाता है परन्तु इनकी भाषा ग्वाल की भाषा से अधिक सरल और स्पष्ट हैं परन्तु अनेक क्षेत्रों में ग्वाल इनसे आगे हैं।

गोविन्द (रसिक गोविन्द) आचार्यत्व की दृष्टि से ग्वाल के अग्रवर्ती हैं। साहित्य शास्त्र पर इनका अच्छा अधिकार है। इनके अधिकांश लक्षण गद्य में होने के कारण स्वच्छ हैं और सुकुमार बुद्धि के पाठकों के उपयुक्त हैं। इन्होंने शास्त्र को अत्यन्त संक्षेप में निपुणतापूर्वक बोधगम्य बनाने का सफल प्रयास किया है। ग्वाल की भाँति ये गम्भीरतापूर्वक शास्त्रीय उहापोह के पचड़े में नहीं पड़े। इनके उदाहरण ग्वाल के उदाहरणों से सुन्दर बन पड़े हैं। ग्वाल की भाँति इतर पूर्ववर्ती प्रसिद्ध कवियों के छन्दों को इन्होंने उदाहृत करने में संकोच नहीं किया। काव्य के दशांग का इन्होंने एक सफल काव्य पण्डित की भाँति विवेचन किया है। गोविन्द कवि पहले हैं और आचार्य बाद में और ग्वाल मूलतः आचार्य हैं तदनन्तर कवि। कुछ स्थलों को गोविन्द चलता कर गये हैं जबकि ग्वाल ने प्रत्येक विषय को गम्भीर विवेचन का विषय बनाया है।

प्रतापसिंह उत्कृष्ट कोटि के रसवादी कवि और सामान्य कोटि के आचार्य हैं। ये काव्यशास्त्रीय विषय से भलीभाँति अवगत थे। इनके अधिकांश उदाहरण शास्त्र सम्मत, विशुद्ध और काव्य के उत्कृष्ट आदर्श हैं। ग्वाल की सी विवेचन प्रतिभा और विषय की विशदता का इनमें भी अभाव है। प्रतापसिंह का महत्व उनकी सूक्ष्म रस चेतना के कारण अधिक है। काव्य के अन्य क्षेत्रों में उनकी गति है, गहरी पैठ नहीं। इनका शास्त्र गम्भीर शास्त्रीय विवेचन का थोड़ा बहुत आभास मात्र देता है तथापि इनका आचार्यत्व प्रभावित करनेवाला है परन्तु ग्वाल के आचार्यत्व के आगे पर्याप्त हलका पड़ता है।

उपसंहार

ग्वाल ने संस्कृत तथा हिन्दी के पूर्ववर्ती और समसामयिक आचार्यों के रीति सिद्धान्तों को प्रमाण रूप में ग्रहण किया।

संस्कृत एवं हिन्दी के ऐसे आचार्यों के मतों को ग्वाल ने निर्भीकता एवं तटस्थतापूर्वक तर्क सम्मत रीति से खंडित करते हुए अपनी निजी उपस्थापनाएं की हैं, जिनसे उनका पांडित्यपूर्ण साहस प्रकट होता है।

ग्वाल ने कहीं-कहीं संस्कृत के व्याख्याकारों की पद्धति पर चल कर संस्कृत एवं हिन्दी के कई-कई आचार्यों के मतों पर एकत्र इतिहासानुशील की शैली में विचार किया है।

अपने मत को जहाँ स्पष्ट होते हुए नहीं पाया, वहाँ कवि ने कई-कई पृष्ठों में लम्बी गद्य टीकाओं एवं वार्त्ताओं का आश्रय लिया है।

ग्वाल ने संस्कृत एवं हिन्दी शास्त्र ग्रन्थों का निगूढ़ अध्ययन किया है। अपने प्रतिपाद्य पर उन्हे इतना अधिकार प्राप्त है कि संस्कृत के मम्मटाचार्य और हिन्दी के कुलपति आदि उद्भट आचार्यों के कतिपय मत-सिद्धान्तों को अपनी प्रज्ञा की कसौटी पर कसते हुए उनसे वैमत्य स्थापित किया है।

ग्वाल ने अपना मत तर्क-प्राण एवं वैज्ञानिक दिया है। कवि को जहाँ प्रामाण्य-साक्ष्य मिला है, वहाँ किसी भी पूर्ववर्ती दिग्गज को खंडित करने में कवि को हिचक नहीं हुई। कहीं कहीं तो उनकी खंडन-मंडन पद्धति कुछेक विद्वानों को उद्धतापूर्ण लग सकती है। किन्तु तर्क को आँच नहीं।

ग्वाल ने काव्य के दशांग का निरूपण किया है। इस दृष्टि से ग्वाल हिन्दी के इने-गिने आचार्यों में से एक हैं।

ग्वाल के लक्षण और उदाहरण प्रायः स्वच्छ और सुबोध हैं जहाँ आवश्यकता समझी है, उन्होंने वहाँ पूरक ब्रजभाषा गद्य-वार्ताओं के माध्यम से अपनी पूरी बात कह दी है।

ग्वाल ने आचार्यत्व कर्म को अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया और सतर्कता एवं मनोयोगपूर्वक उसे निभाया है।

इस कवि को अपने विषय पर पूर्ण अधिकार था, जिससे वह काव्य शास्त्र की शिक्षा के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण कर सका। इनके ग्रन्थों के पाठक का शास्त्र-ज्ञान अधूरा नहीं रह सकता।

ग्वाल रीति के परवर्ती आचार्य थे। इस नाते आचार्य निरूपण में उनसे जो जो अपेक्षाएं की जा सकती थीं, उनका उनमें समाहार मिलता है।

उन्होंने मौलिक उद्भावनाएं तो नहीं की। रीति के किसी भी कवि से यह संभव नहीं हुई, परन्तु

खन्डन-मन्डन गत तर्कपूर्ण व्याख्याओं तथा निष्कर्षों का उनके शास्त्र में प्राचुर्य मिलता है। लक्षणों को नया रंग देकर सटीक बनाने के भी प्रयत्न उनमें परिलक्षित होते हैं।

उनके लक्षण संस्कृत-ग्रन्थों पर आधृत हैं, परन्तु उदाहरण उनके अपने हैं और कहीं-कहीं एक से अधिक संख्या में भी हैं यही नहीं, अपनों के अतिरिक्त अन्य हिन्दी कवियों के छन्दों को भी उन्होंने प्रचुरता से उदाहृत करने में संकोच नहीं दिखाया।

परम्परा को कहीं कहीं नकारते हुए उन्होंने नये आयामों की भी प्रतिष्ठापना की है। इससे उनके काव्य शास्त्र में उस युग के प्रतिपादित समस्त संस्कृत और हिन्दी शास्त्र का समाहार हो गया है।

एक विशद पीठिका पर विशुद्ध आचार्यत्व की दृष्टि से गम्भीर अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य दिखता है। वे पंडितराज जगन्नाथ की परम्परा के हिन्दी के प्रथम और अन्तिम व्याख्याकार आचार्य ठहरते हैं। आलोचकों का यह मत कि हिन्दी में व्याख्याकार आचार्य नहीं है, ग्वाल के अध्ययन से उचित नहीं ठहरता। ग्वाल ने हिन्दी को निजी शास्त्र दिया और आचार्यत्व भी। इनके आचार्यत्व के आलोक में हिन्दी शास्त्र के पुनर्मूल्यांकन की आज बड़ी आवश्यकता है।

भारतीय आर्य भाषाओं में अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करने की परम्परा

⊙

आचार्य डा० श्रीपति शर्मा जोशी
[एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) पी-एच० डी०]

प्राचीन काल में सभ्यता की होड़ में अग्रसर मुख्य संस्कृतियाँ मिस्र, रोम बेबीलोनिया तथा भारत (आर्यावर्त) की थीं। इन संस्कृतियों ने विश्व को ज्ञान-विज्ञान की महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान की। इनमें पूर्व प्रदेश-स्थित आर्यावर्त की संस्कृति एक विशिष्ट संस्कृति थी। आगा हैदर हुसैन ने कहा है कि आरम्भिक सभ्यता और संस्कृति का स्थान अगर कोई हो सकता है तो वह हिन्दुस्तान है। एक अन्य इतिहासकार का मत है—

"Aryan religion must have migratid to Asia minor direct from India not through Persia."

वे ईरानियों को भी आर्यों की दूसरी धारा का अंग मानते हैं, जिनका कार्यकलाप वैदिक ऋचाओं में वर्णित असुरों जैसा है। एक ऋचा में उनके उत्तरीय, दूसरी में क्षौर पद्धति एवं तीसरी में युद्ध क्रन्दन 'हेलय' से यह पृथकता स्पष्ट हो जाती है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा का स्पष्ट मत है कि ईरान के निवासी स्वयं आर्यों का भारत से पश्चिम की ओर बहिर्गमन मानते हैं।

आर्यों के पारसीकों या ईरानियों से सम्बन्ध एवं पश्चिम का इतिहास हमें ऋग्वेद में भी मिल जाता है "शतमहं तिरिन्दरे सहस्रं पर्शावाददे" मंत्र इस तथ्य का साक्षी है। पाणिनि ने पर्शु नामक आयुधजीवी संघ का "पैश्वादि योधेयादिभ्यो अणञौ" सूत्र में उल्लेख किया है। डा० आर० भाण्डारकर का विश्वास है—

"Parsus are certainly the Parsis or old Parsians and Asuras the Assyrians"

बाल्मीकि रामायण और बौद्ध काल में आर्यों एवं पारसीकों का निकट सम्पर्क पाया जाता है। भारत एवं ईरान के सांस्कृतिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों की अविच्छिन्न परम्परा को अनेक विद्वानों ने सप्रमाणसिद्ध किया है। "बाह्लीक भाषोदीचानां खशानांच स्वदेशजाः" से बलख का आर्यों से प्राचीन सम्बन्ध सिद्ध होता है। भारत तथा ईरान के निवासियों के पूर्वज आर्य ही थे। ईरान का नामकरण स्वयं इस बात का प्रमाण है। 'आर्यायनम्' या 'आर्याणाम्' का अपभ्रंश ही 'ऐर्यानम' है, जो कालान्तर में ईरान हो गया है। अवेस्ता में अरमुज्द (असुरमहत्) द्वारा ज्ञात किया हुआ प्रथम स्थान 'ऐर्यानम्' कहलाया जिसे उसके पुजारी 'ऐर्य' कहते थे। हेलानिकस नामक इतिहास लेखक फारस को 'एरिया' कहता है। दसवीं शताब्दी ई० पू० के असीरी पुरालेखों में संकेत है कि आर्यजनों का ईरान में आगमन बहुत पहले का नहीं जान पड़ता। इस प्रकार यह मत भी इन दोनों जातियों के सम्पर्क को ३००० वर्ष प्राचीन तो सिद्ध कर ही देता है। प्राचीन वैदिक

भाषा तथा पुरातन फारसी के सादृश्य से जान पड़ता है कि पारसीक आर्यों एवं भारतीय आर्यों को अलग हुए अधिक समय नहीं हुआ था। अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषा की तुलना से यह निष्कर्ष निकलता है कि अतीत में आर्य संस्कृति के चिह्न ईरान में असंदिग्ध रूप से विद्यमान थे। अवेस्ता का 'हफ्तहिन्दवः' ऋग्वेद के 'सप्त सिन्धवः' से पूर्णतः मेल खाता है। दारा के शिलालेखों के आधार पर ईरान के आर्य निम्नलिखित वर्गों एवं उपवर्गों में विभक्त थे जो हेरोडोटस कृत विभाजन से भी मिलते जुलते हैं—**मीड़, पशियन्स, हिक-नियन, पार्थियन, आर्यन, डेजियन,** अरोकोटियन (पुश्तो, वैक्ट्रियन (आख्तरी) सोदियन (फा० सुद), वोरा-स्मियन (रूबारिन्मियन), मार्गियन, सगार्शियन।' इनमें वे से रेखांकित का क्रमशः संस्कृत, मद्र, पारसीक, (पर्शु या पार्शव), पार्थव, आर्य एवं स्रुघ के साथ पूर्ण साम्य है।

समय बदला। भारतीय आर्यों की शक्ति क्षीण हुई या इतिहास ने करवट ली और फारस वालों का सितारा चमका। ५५८-५३० ई० पू० में साइरस ने गेडरोशिया के मार्ग से भारत पर आक्रमण किया। काबुल घाटी में उसे बहुत सफलता मिली। डेरियस (५१८ ई० पू०-४८७ ई० पू०) ने सिन्धु घाटी पर विजय प्राप्त की।

किसी देश पर विदेशी शासन की स्थापना ऐसा तथ्य है कि कोई देश उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। विभिन्न क्षेत्रों में अवश्यम्भावी होने वाले प्रभाव की भाँति पर्यटकों एवं व्यापारियों द्वारा कुछ शब्द अस्थायी रूप से आते और चले जाते हैं पर शासन स्थापना के बाद अन्य वस्तुओं के साथ साथ उनमें से अनेक स्थायी रूप से भाषा के अविभाज्य अंग बन जाते है। भारत में मुसलमानों का आगमन ईसा की आठवीं शती के प्रथम चरण से आरम्भ हो गया था। तभी उन्होंने सिन्ध पर विजय प्राप्त की, पर राजनी-तिक दृष्टि से अरबों की सिन्ध-विजय इस्लाम और भारत के इतिहास में एक महत्वहीन घटना थी : पर शनैः-शनैः मुसलमानी प्रभाव पश्चिमी प्रान्तों (अफगानिस्तान, सिन्ध और पंजाब) पर पड़ने लगा था। देश के केन्द्रीय भाग अर्थात् दिल्ली पर उनकी शासनस्थापना ११९२ ई० में हुई जब कि मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज चौहान को पराजित किया और राज्य का कार्यभार अपने योग्यतम गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक को सौंप दिया तभी से यहाँ शासकों के द्वारा उनके शब्दों का भी विविध क्षेत्रों में प्रचलन हुआ, किन्तु शब्द ग्रहण की यह परम्परा और भी पुरानी बतायी जाती है—

भारतीय भाषाओं में फारसी के शब्द सम्भवतःईसवी काल के आरम्भ से आने लगे होंगे, जब शाक्य एवं अन्य आप्रवासियों के नवीन उत्साह उन्हें अपने साथ लाये होंगे। बाद में पंजाब फारस के प्रभाव के अन्तर्गत आ गया। इसके अतिरिक्त भारत और ईरान में किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध बराबर बना रहा, यहाँ तक कि अजन्ता की एक गुफा में भी भारतीय राजदरबार में फारस के दूत के आगमन का दृश्य है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त अधिकतम फारसी शब्द और प्रशासनिक शब्द फारसी के मुगल दरबारों की भाषा हो जाने के बाद आये। आर्यों ने अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करने में कभी संकोच नहीं किया। कुमारिल भट्ट ने कहा है कि आर्य विदेशी भाषाओं के शब्द छाँट लेते थे और आवश्यक परिवर्तन के बाद संस्कृत में बदल लेते थे।

शासन स्थापना के उपरान्त शब्द ग्रहण की परम्परा में राजनीतिक प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। अब भारत की सभी भाषा जाने अनजाने फारसी शब्द भंडार से श्रीवृद्धि करने में गौरव अनुभव करने लगीं। तुलसी, सूर, मीरा, केशव, बिहारी, पद्माकर, सेनापति आदि सभी की रचनायें फारसी-

अरबी शब्दों से अलंकृत हैं। तुलसी ने मानस के कलिवर्णन में तत्कालीन राजनीतिक दुर्व्यवस्था का विशद वर्णन किया गया पर तुर्कों के शब्दों के बहिष्कार की चर्चा नहीं चलायी अपितु उनको सादर ग्रहण भी कर लिया। दरबार, साहब, गनी, गरीबनवाज, बख्शीश आदि हजारों शब्द इनके ग्रन्थों में गौरव प्राप्त कर सके हैं। चन्दवरदायी ने तो खुले आम प्रतिज्ञा की और उसको निभाया––

"उक्ति धर्मविशालस्य राजनीति नवं रसम्,
षट् भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया॥"

आचार्य भिखारीदास ने नियम बना कर फारसी शब्दों के व्यवहार की अनुमति दी :

"ब्रज भाषा भाषा रुचिर कहे सुमति सब कोय।
मिले संस्कृत फारिसिहु सो अति प्रघट जु होय।"

मुसलमानों के शासन ने हिन्दी में विदेशी शब्दों का प्रयोग भाषा में अनिवार्य सा ही बना दिया था। कश्मीरी ब्राह्मणों, कायस्थों में तो फारसी का प्रचार गीता रामायण की भाँति प्रतिष्ठित हो गया था। आबेहयात में लिखा है––पन्द्रहवी सदी में सिकन्दर लोदी के जमाने में कायथ फारसी पढ़कर शाहीदफ्तर में दाखिल हुए और अब इन लफ्जों को उनकी जबानों पर आने का ज्यादा मौका मिला यह प्रभाव यहीं नहीं रुक गया बल्कि और व्यापक हुआ, हिन्दुओं की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक महत्ता को कम न होने देने के लिए समय समय पर विशिष्ट हिन्दुओं ने अपने ढंग पर काम किया; हिन्दुओं में फारसी की शिक्षा बढ़ जाने के कारण अथवा किसी अन्य विचार से १५८१ ई० में राजा टोडरमल ने महकमा माल के दफ्तर हिन्दी के बदले फारसी में कर दिये। इस प्रकार शासकों के राजनीतिक एवं कानूनी शब्द जनसामान्य में स्वतः प्राधान्य पा गये। तब जनसामान्य ने शासकों की भाषा अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रसन्न या अन्य-मनस्क होकर स्वीकार कर ली हो और उसमें प्रयुक्त अनेक कठिन या सरल शब्द ग्रहण कर लिए हों तो आश्चर्य ही क्या ? **धार्मिक परिस्थितियाँ**––विजेता द्वारा उसका धर्म ग्रहण करने का प्रश्न विजित के समक्ष तलवार द्वारा या धन द्वारा बाध्यता की स्थिति में आता है। इस्लाम का भारत में प्रचार तलवार के बल पर जितना हुआ उतना धन के बल पर नहीं। सामाजिक हीनता से मुक्ति एवं प्रेम-प्रसंग पूर्ति के लिए भी धर्मपरिवर्तन होता है। हिन्दुओं में इन परिस्थितियों से बाध्य होकर नहीं अपितु पड़ोसी के रूप में कतिपय धार्मिक क्षेत्र के शब्द समाविष्ट हो गये और जो उनके साहित्य में भी आ गये। नमाज, बन्दा, खुदा, अल्लाह, बन्दगी, सलाम, आदाब-अर्ज आदि ऐसे ही कुछ शब्द हैं। मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा लिखित 'आखिरी कलाम' इस्लाम सिद्धान्त का ग्रन्थ होने के फलस्वरूप ऐसे शब्दों से भरपूर है, पर कबीर, मंझन आदि बहुत थोड़े कवियों ने कुछ ही धार्मिक विदेशी शब्दों का हिन्दी में प्रयोग किया है। प्रारम्भिक धार्मिक क्षेत्र में घृणा आदि के कारण कुछ शब्दों के अर्थ में परिवर्तन भी आ जाता है जैसे 'काफिर' शब्द का अर्थ वस्तुतः ईश्वर की सत्ता नकारने वाला व्यक्ति है किन्तु मसलमान प्रायः हिन्दुओं को काफिर मानते हैं अतः हिन्दुओं ने भी कहीं कहीं इसका रूपान्तर' काफर कर दिया है और अर्थ मुसलमान।

हिन्दुओं ने यवन शासन भले ही स्वीकार कर लिया पर यह निश्चित है कि इस्लाम की ओर कभी प्रवृत्त नहीं हुए क्योंकि हिन्दू धर्म में बुद्धिवाद एवं तर्क को जितना अवसर प्राप्त है, इस्लाम में उसका सहस्रांश भी नहीं अतः भारतीय साहित्य में इस्लाम संबंधी शब्दों की संख्या नगण्य ही रह पायी। **भौगोलिक परिस्थितियाँ**––यह एक निर्विवाद तथ्य है कि भूगोल और इतिहास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी स्थान

की भौगोलिक परिस्थिति ने वहाँ के धर्म, संस्कृति, खानपान, वेशभूषा, इतिहास एवं साहित्य को अनिवार्य रूप से प्रभावित किया है। पड़ोसी की वस्तुओं के नाम, रीति रिवाज भाषा में स्थायी महत्व प्राप्त कर लेते हैं। फारस और भारत दो पड़ोसी देश रहे हैं और उनका सम्बन्ध दीर्घ काल से किसी न किसी रूप से चला आ रहा है अतः यह कैसे सम्भव हो सकता था कि जीवन के विविध क्षेत्रों में दोनों देश परस्पर प्रभावित न होते। ये दोनों देश समान कटिबन्धों में स्थित हैं। अतः गेहूँ, मक्का, जौ आदि फसलें दोनों देशों में सामान्य हैं। फिर इन देशों में एक ही नस्ल के लोगों का उद्गम स्थान रहा है और दोनों देशों की स्थिति पास-पास है। ऐसी स्थिति में यदि भारतीय भाषाओं में ईरान की भाषा फारसी के हजारों शब्द प्रचलित हो गये तो कोई अनहोनी घटना नहीं मानी जा सकती।

भौगोलिक परिस्थिति सम्पर्क की कई विधाओं को प्रभावित करती है। धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं व्यापारिक सम्पर्क भौगोलिक स्थिति पर सब से अधिक निर्भर करता है। यही कारण है कि उत्तर भारतीय भाषाएँ अंग्रेजी से उतनी प्रभावित नहीं हुई जितनी फारसी से, क्योंकि अंग्रेजी से हमने प्रायः संज्ञा शब्द ही ग्रहण किये हैं जबकि फारसी से संज्ञा, विशेषण, क्रिया एवं अव्यय शब्द भी ग्रहण किये। भौगोलिक स्थिति उच्चारण यन्त्रों को भी प्रभावित करती है। भाषा सम्बन्धी आवश्यकतायें कुछ ऐसी भी आवश्यकतायें हैं जो बाह्य जीवन की अपेक्षा आन्तरिक जीवन से सम्बद्ध होती हैं। राजनीतिक, धर्म और व्यापार सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जहाँ हम विदेशी शब्द ग्रहण करते हैं वहाँ भाषा की अपनी विशिष्ट आवश्यकतायें होती हैं जिनके कारण हमें विदेशी शब्द ग्रहण करने होते हैं। ये कारण निम्न-लिखित कुछ हैं—

(१) शब्दों का अभाव—एक भाषा में किसी वस्तु या भाव का द्योतक शब्द न होने के कारण अन्य भाषाओं से शब्द लेने पड़ते हैं जैसे फारसी के 'जलेबी' और अरबी का 'हलवा' इसके उदाहरण है।

(२) विदेशी शब्दों की सरलता—अपनी भाषा में कठिन शब्द के स्थान पर विदेशी भाषा के सरल शब्द को उच्चारण की सुविधा के लिए प्रायः ग्रहण कर लिया जाता है।

(३) विदेशी शब्दों की सरसता भी देशी शब्दों को कभी कभी प्रयोग से निष्कासित कर देती हैं।

(४) भावों की उचित अभिव्यंजना—किसी विदेशी भाव को, प्रकट करने की दशा में उपयुक्त शब्दों की खोज करते समय कई बार विदेशी शब्दों को अपनाना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार हम सही भाव अपने श्रोताओं या पाठकों तक पहुँचाने में समर्थ हो सकते हैं। बिहारी की 'किबुलनुमा लौं दीठि' जो अभि-व्यंजना है, वह सम्भवतः अपने किसी कृत्रिम शब्द से न हो पाती। कभी कभी अपने भावों को प्रकट करने के लिये भी कवि और लेखक अलंकारों के लिए विदेशी भाषाओं से उपमान लेकर साहित्य को सम्पन्न बनाते हैं। उनके द्वारा इस प्रकार अभिनव एवं चमत्कारिक भावाभिव्यंजन के माध्यम से पाठकों का समुचित मनोरंजन ही होता है। वीरता के लिए 'रुस्तम', प्रेम के लिए 'पतंग', 'लैला मजनूं' शीरीं-फरहाद', लम्बाई के लिए 'सरु' का प्रयोग करके घिसी-पिटी लकीरों से बाहर निकलने का स्तुत्य प्रयास है।

दूसरों का आकर्षण—अन्य भाषा-भाषियों को अपनी भाषा के प्रति आकृष्ट करने के लिए भी कभी कभी हम अपनी रचनाओं में उनके अतिप्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं और बाद में उन्हें अपनी भाषा का प्रेमी बना लेते हैं। हिन्दी लेखकों ने अपनी इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप अमीर खुसरो, जायसी, रहीम और रसखान को हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवियों में ला बिठाया है।

इस प्रकार उपर्युक्त परिस्थितियों ने हिन्दी साहित्य को फारसी के शब्द ग्रहण करने को बाध्य कर दिया था। बाद में अंग्रेजी के आने पर हमने अंग्रेजी के भी हजारों शब्दों का प्रयोग किया। सुविधानुसार हिन्दी में हिन्दी, फारसी, फारसी हिन्दी, फारसी-अरबी, अरबी-फारसी का शब्द-सांकर्य भी अबाधगति से आता रहा। बढ़ई गिरी, घड़ी-साज, तकियाकलाम, गरीब नवाज आदि इस वर्ण-सांकर्य के ही उदाहरण हैं।

ब्रजभाषा के विविध सोपान

डा० आनन्द स्वरूप पाठक

[एम० ए० (हिन्दी संस्कृत) पी-एच०डी० साहित्यरत्न, साहित्याचार्य]

सौभाग्य से संस्कृत युग के पश्चात् ही शूरसेन प्रदेश जिसे हम आज ब्रज प्रदेश के नाम से अभिहित करते हैं उसकी भाषा ने साहित्य में अपना स्थान बनाना प्रारंभ कर दिया था। प्राकृत भाषाओं के युग में शौरसेनी प्राकृत ईसा की प्रथम शताब्दी में ही अन्य सभी प्राकृतों की अपेक्षा प्रोन्नत, शिष्ट, भद्र एवं अभिजातवर्ग की भाषा मानी जाती थी। अपभ्रंश काल में भी शौरसेनी अपभ्रंश का जैसा मर्यादापूर्ण स्थान किसी अपभ्रंश को प्राप्त नहीं था। लगभग ८०० ई० से १३०० ई० तक शौरसेनी अपभ्रंश जो नागर अपभ्रंश भी कहलाती थी उत्तर भारत की सर्वोत्कृष्ट विराट साहित्यिक भाषा के पद पर समासीन रही एवं उसका अन्तः प्रादेशिक रूप था, या भाषा रूप शिष्ट जनों में तथा विभिन्न प्रदेशों में विचार विनिमय का साधन रहा। हिन्दी के जन्म काल से ही ब्रजभाषा हिन्दी की प्रधान भाषा रही। मध्यकाल में तो साहित्यज्ञ कहलाने के लिए ब्रजभाषा रचना करना एक प्रकार से अनिवार्य जैसा ही हो गया। यह ब्रजभाषा पृथ्वीराज चौहान से पूर्व ही साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी, समय और स्थानान्तरजन्य अल्पांशों में व्यक्त रूपान्तरों को छोड़ दें तो कनौजी और बुन्देलखण्डी भी जो भिन्न हैं प्रतीत होती हैं वस्तुतः ब्रज ही हैं।

ब्रजभाषा के, ब्रजभाखा, माखा, पिङ्गल मध्यदेशी, अन्तर्वेदी, ग्वालियरी आदि नाम भी कवियों और विद्वानों ने दिये हैं। ब्रजमंडल की भाषा होने से ब्रजभाखा या ब्रजभाषा कहलाती है। पहले इसके एक रूप के लिए पिंगल शब्द का प्रयोग भी किया जाता रहा है। भाखा शब्द यद्यपि हिन्दी के विभिन्न रूपों के लिए प्रयुक्त होता रहा है पर इस शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा के लिए भी हुआ है। मध्यदेश में बोली जाने के कारण इसे मध्यदेशी नाम से भी अभिहित किया गया है। कुछ कवियों ने ग्वालियरी नाम का भी प्रयोग किया है। गंगा और यमुना के अन्तर्वेद प्रदेश में बोली जाने के कारण इसे अन्तर्वेदी भी कहा गया है, परन्तु इनमें से ब्रजभाषा को छोड़कर कोई भी नाम सटीक एवं समस्त क्षेत्र का ज्ञापक नहीं है। डा० ग्रियर्सन के अनुसार इस भाषा का विस्तार क्षेत्र निम्न प्रकार है :—

"यदि मथुरा को केन्द्र माना जाये, तो दक्षिण में ब्रजभाषा, आगरा, भरतपुर के अधिकांश भाग, धौलपुर, करौली, ग्वालियर के पश्चिमी भाग तथा जयपुर के पूर्वी भाग में यह बोली जाती है। उत्तर में इसका विस्तार गुड़गाँव के पूर्वभाग तक है। उत्तरपूर्वी दोआब में यह बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, तथा गंगा के उस पार बदायूं बरेली तथा नैनीताल की तराई में बोली जाती है। इस प्रकार इसका विस्तार दक्षिण पश्चिम से उत्तरपूर्व की ओर जाने वाले नियमित आकार के एक क्षेत्र में है। यह भूमिभाग सामान्यतः ९० मील चौड़ा तथा ३०० मील लम्बा है। इसका क्षेत्रफल मोटे रूप से २७००० वर्गमील है। (१) डा० धीरेन्द्र वर्मा ने मथुरा, अलीगढ़, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी बदायूं तथा बरेली के जिले

गुड़गाँवा जिले का पूर्वी भाग राजस्थान के भरतपुर, धौलपुर, करौली तथा जयपुर का पूर्वी भाग, मध्यभारत में ग्वालियर का पश्चिमी भाग, इसका प्रसार क्षेत्र माना है वे कनौजी को स्वतन्त्र बोली नहीं मानते अतएव पीलीभीत, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा और कानपुर के जिले भी ब्रज में सम्मिलित कर लिए हैं।[1]

ब्रजभाषा के विकास की पृष्ठभूमि में शताब्दियों की परम्परा अन्तर्निहित है। उसमें आर्य अनार्य द्रविड़ कोल आदि ज्ञाताज्ञात अनेक प्रभाव समाहित हैं। प्रा० भा० आर्यभाषा को म० भ० आ० भाषा से न० आ० भाषा तक की स्थिति में पहुँचने तक अनेक मोड़ लेने पड़े हैं तथा अनेक प्रावस्थाओं से गुजरना पड़ा है, उन सभी की विशिष्टताओं का अनिवार्य दायभाग ब्रजभाषा को रिक्थ स्वरूप मिला है। भाषातत्ववेत्ता विपश्चितों ने ब्रजी की पूर्वज भाषा शौरसेनी प्राकृत से उद्भूत शौरसेनी अपभ्रंश को माना है। भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षक तथा प्रसिद्ध विद्वान जार्ज ग्रियर्सन का मत है कि :—

"The dilect of Braj is most faithful representative of Saursani speech. The apbhramsa verses quoeted in the Prakrit Grammar of Hc. (1018-1117 A. C.) are in a Saurseni speech which represents the pre-modern state of western Hindi".

ब्रजभाषा का विकास :—शौरसेनी प्राकृत से उद्भूत शौरसेनी अपभ्रंश भाषा और उसका साहित्य १००० ई० तक उत्तरी भारत का कण्ठहार बना रहा। यों तो इसके उपरान्त शताब्दियों तक अपभ्रंश में रचना की जाती रही किन्तु इस समय से प्रादेशिक अपभ्रंश आधुनिक भारतीय भाषाओं का रूप लेने लगीं और आंशिक रूप से अपभ्रंश और आंशिक रूप से नवीन भाषा साहित्यिक रूप में विकसित हुई। राजस्थान में यह भाषा डिंगल और पृथ्वीराज रासो आदि पिंगल के रूप में आई। पिंगल और ब्रजभाषा में कोई मूलभूत पृथकता तो नहीं है किन्तु इसे ब्रज की चारणशैली ही कहना उपयुक्त होगा, पश्चिम में उदय हो रहे इस रूप की भाँति पूर्व में भी भाषा का अवहट्ठ रूप विकसित हो रहा था। ब्रजभाषा के रूप विकास के चिन्ह तत्कालीन भाषा साहित्य में दृष्टिगोचर होने लगे थे। ब्रजभाषा के भाषागत विकास की स्थितियों का विवेचन नीचे किया जा रहा है। यह भाषागत विकास तीन अवस्थाओं में हुआ :—

ब्रजभाषा के भाषागत विकास की निम्नलिखित तीन अवस्थायें हैं :—

(१) आरम्भकालीन	—	१००० ई० से १४०० ई० तक
(२) मध्यकालीन	—	१४०० ई० से १८०० ई० तक
(३) आधुनिक	—	१८०० ई० से अब तक

आरम्भकालीन ब्रजभाषा की दो अवस्थायें मिलती हैं। इसकी प्रथम अवस्था उदय कालीन है तथा दूसरी अवस्था संक्रान्ति कालीन है। उदयकालीन ब्रजभाषा का रूप हमें आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के उदाहरणों की भाषा में मिलता है। जैसे :—

"बाहु बिछोडवि जाहि तुहुँ हउँ तेवई को दोस।
हियट्ठिय जइनीसरई जाणऊँ मुंज सरोस॥"

---

१. भारत का भाषा सर्वेक्षण—डा० ग्रियर्सन पृ० ५९।

हेमचन्द्र के उदाहरणों की भाषा यद्यपि अपभ्रंश है परन्तु उसमें ब्रजभाषा की प्रकृति स्पष्टतः दृष्टि-गोचर होती है।[1]

हेमचन्द्र की अपभ्रंश की समस्त स्वर ध्वनियाँ जिनमें ह्रस्व ऐ और ओ भी सम्मिलित हैं, ब्रजभाषा को रिक्थ स्वरूप मिली है। कारक विभक्ति 'हि' का प्रयोग जो अपभ्रंश में करण और अधिकरण कारक में होता था, ब्रजभाषा को यहीं से प्राप्त हुआ है और ब्रजभाषा में यह प्रयोग करण, अधिकरण और सम्प्रदान कारकों के लिए पाया जाता है। ब्रजभाषा के माँझ, माँहि का पूर्वरूप मज्झें और 'ऊपर' 'पै' 'पर' का पूर्वरूप 'उप्परि' तथा ब्रजभाषा के 'तें' का पूर्वरूप 'तण' 'तणेण'—इसी हेम अपभ्रंश से ब्रजभाषा में आया है।

संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा (१२००-१४००)

संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा का रूप "सन्देश रासक" (१२वीं शती—अब्दुलरहमान कृत) प्राकृत पैंगलम् (१२से १४ शती तक की रचनाएँ) पृथ्वीराज रासो तथा प्रद्युम्नचरित (१३५४ ई० सधारुकृत) में मिलता है। इस अवस्था में हमें ब्रजभाषा की तीन शैलियों के दर्शन होते हैं—अवहट्ठ, पिंगल तथा औक्तिक। अवहट्ठ और पिंगल ब्रजभाषा की साहित्य शैलियाँ थीं और औक्तिक लोक की बोली विषयक पिंगल की अपेक्षा अवहट्ठ में प्राचीन साहित्य एवं भाषा परम्परा का अनुसरण अधिक मिलता है और औक्तिक शैली में लोक भाषा तथा लोक परम्परा का। सन्देश रासक तथा प्राकृत पैंगलम् अवहट्ठ शैली की, रासउ पिंगल की तथा प्रद्युम्न चरित औक्तिक शैली की कृतियाँ कही जा सकती हैं। (१) प्रद्युम्न चरित में इस शैली का आद्याभास मिलता है, इसकी भाषा से ज्ञात होता है कि चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों तक ब्रजभाषा का स्पष्ट और व्यवस्थित रूप निर्मित हो चुका था।

अवहट्ठ शैली

"प्राकृत पैंगलम की भाषा में ध्वनि और रूप दोनों ही दृष्टियों से प्राचीन ब्रज के प्रयोगों का बाहुल्य है। वाक्य विन्यास की दृष्टि से तो यह भाषा ब्रज के और निकट दिखाई पड़ती है। निर्विभक्तिक प्रयोग वर्तमान कृदन्तों का सामान्य वर्तमान में प्रयोग, सर्वनामों के अत्यन्त विकसित रूप इसे ब्रजभाषा का पूर्वरूप सिद्ध करते हैं। क्रिया के भविष्यत काल के रूप में यद्यपि इस काल तक 'गा' वाले रूप नहीं दिखाई पड़ते किन्तु 'आविह' 'करिह' आदि में 'ह' प्रकार के रूपों का प्रयोग हुआ है। ब्रजभाषा में 'गा' प्रकार के रूप भी मिलते हैं परन्तु 'ह' प्रकार के 'चलि है' 'करि है' आदि रूप भी बहुत मिलते हैं।" प्राकृत पैंगलम् की भाषा में प्राचीन ब्रजी के तत्व विद्यमान हैं, ब्रजभाषा के सर्वनामों के (ता, का, वा, या, जा आदि) के बीज बिन्दु इसमें मिलते हैं, तथा 'जु' अव्यय का प्रयोग भी मिलता है।

पिंगल शैली

प्राकृत पैंगलम् में पिंगल (या ब्रजभाषा की चारणशैली) भाषा का किंचित रूप मिलता है किन्तु,

---

१. ब्रजभाषा का विकास—डा० उपेति, मुरारीलाल—मध्यकालीन हिन्दी भाषा-अवधी और ब्रज खण्ड २, पृष्ठ २।

पृथ्वीराज रासो, विजयपाल रासो, श्रीधर का रणमल्ल छन्द ही वस्तुतः इसके महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। ध्वनितत्व, वाक्यगठन रूप तत्व की दृष्टि से ब्रजभाषा के अनेक बीज विन्दु इनमें निहित हैं। यद्यपि इस चारणशैली की ब्रजभाषा में कृत्रिमता बहुत है संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग हैं तथापि इसमें आत्मा ब्रज की है। यह दरबारों की साहित्यिक कृत्रिम भाषा थी और बोली जाने वाली ब्रजभाषा से भिन्न थी परन्तु भाषातात्विक दृष्टि से और साहित्यिक दृष्टि से इसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता है।

औक्तिक शैली

जिस समय राजदरबारों में पिंगल पनप रही थी उसी अवधि में (१२ से १४ शती के मध्य) शूर-सेन प्रदेश या मध्यप्रदेश में लोकभाषा भी विकसित हो रही थी। इस अवधि में औक्तिक वोलियों के कुछ ग्रन्थों की रचनाएँ भी हुईं। ब्रजभाषा का भी औक्तिक रूप विकसित हुआ यह रूप प्राकृत पैंगलम् की विकसित भाषा का जैसा ही था किन्तु पिंगल की कृत्रिमता से अलिप्त था। यद्यपि ब्रजभाषा का कोई औक्तिक ग्रन्थ तो प्राप्त नहीं है परन्तु राजस्थानी और गुजरात के औक्तिक ग्रन्थ ब्रजभाषा के निकट की भाषा होने के कारण ब्रजभाषा के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यही औक्तिक रूप निखर कर विष्णुदास, सूर आदि अष्टछाप के कवि तुलसी एवं रीतिकालीन कवियों में दृष्टिगत हुआ प्राचीन ब्रजभाषा में तीन लिंग होते थे। ग्रियर्सन ने भी लिंग्विस्टिक सर्वे में नपंसुक लिंग प्रयोगों की ओर निर्देश किया है। संग्रामसिंह ने भी वालशिक्षा (वि० सं० १३३६) में लिखा है कि :—

"लिंगु तीन (पुलिंग स्त्री लिंगु, नपुंसक लिंगु। भलु पुलिंगु भलो स्त्रीलिंग। भलुंनपुंसक लिंग।[1]

१२वीं से १४वीं शती की इस अवधि में उक्त तीनों प्रकार की शैलियों के प्रयोग से ब्रजी के विकास की मुख्यतः ये प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। स्वर संकोचन, व्यञ्जनद्वित्व का सरलीकरण मध्यग व का उ में परिवर्तन अनुस्वार का ह्रस्वीकरण आदि ध्वन्यात्मक विशेषताएँ तथा निर्विभक्तिक कारकों के प्रयोग की प्रवृत्ति, परसर्गों का विकास और उनमें विविधता, सर्वनाम के विविध रूपों के प्रयोग निश्चित वर्तमान में तिङन्त+सहायक क्रिया का प्रयोग, भविष्यत काल में 'ह' वाले रूपों का प्रयोग, संयुक्त काल और संयुक्त क्रिया का प्रयोग आदि।[2]

साहित्य में यह अवधि भक्तिकाल व रीतिकाल के नाम से सुज्ञात है, इस काल की रचनाओं के अव-लोकन के उपरान्त ज्ञात होता है कि ब्रजभाषा में ऋ-और ऌ का प्रयोग नहीं होता अतएव रितु, रिजु आदि शब्दों का प्रयोग होता है। श, ण, क्ष और ड क्रमशः स, न, ख और र में परिवर्तित हो जाते हैं जैसे ससि खन (क्षण) झगरो आदि। मध्यवर्तीय य और व क्रमशः ए और ओ में परिवर्तित होते हैं जैसे नैन (नयन), भौन (भवन) आदि, वर्गों के पंचम वर्ण अनुस्वार में परिवर्तित होते हैं तथा पंकज, कंप, छंद, आदि। ब्रज-भाषा के शब्द रूपों में ओकारान्त प्रवृत्ति प्रबल है झगरो, छोटो, खोटो, आदि। यही प्रवृत्ति सर्वनामों के सम्बन्धकारक रूपों में तथा क्रिया के भूतकालिक कृदन्त रूपों में मिलती है उदाहरणार्थ तुम्हारी, मेरो, गयो, खायो, पीयो आदि। ओकार की भाँति उकार-बहुला प्रवृत्ति भी ब्रजभाषा में मिलती है जैसे खेलु, पूतु

---

१. सूरपूर्व ब्रजभाषा—डा० शिवप्रसाद सिंह पृ० ३४९।

२. बाल शिक्षा संज्ञा प्रक्रम—प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ पृ० २०५।

जासु, तासु ब्रजभाषा के मध्यम पुरुष एक वचन कर्ता के साथ क्रिया में इकार का आगम हो जाता है जैसे करि, विचरि, सुमरि, तजि, हठि आदि।

उत्तरमध्यकाल में भी उक्त सभी प्रवृत्तियाँ ब्रजभाषा में मिलती हैं। इस काल का ब्रजभाषा साहित्य प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। इस युग की भाषा सर्वोत्कृष्ट प्रौढ़ प्राञ्जल एवं परिनिष्ठित है। यही पूर्व और उत्तर मध्य काल ब्रजभाषा के चरमोत्कर्ष का काल है। इस मध्यकाल में भारत के ब्रजभाषेतर प्रदेशों के लोगों ने रचनाएँ की हैं जिनमें प्रान्तीय पुट एवं भाषा में अनुकरणपरक प्रयोग हैं जो बहु प्रयुक्त एवं अल्पप्रयुक्त दोनों प्रकार के तो हैं ही कुछ प्रयोग अप्रयुक्त भी मिल जाते हैं। मध्यकाल में ब्रजभाषा में गद्य भी लिखा गया है।

ब्रजभाषा का आधुनिक काल अठारह सौ से प्रारम्भ होता है। इस युग के लगभग एक सौ पिचत्तर वर्षों तक ब्रजभाषा का साहित्य के क्षेत्र में एकमात्र आधिपत्य रहा। श्रेष्ठ रचनाओं में भाषा के सवाँर-सुधार के अनेक प्रयत्न हुए। श्री लल्लू जी लाल के समय से तो पारस्परिक शैली को त्याग कर ब्रजभाषा ने नवीन शैली को भी अपनाया। शैली तत्व के साथ साथ भाषा में भी परिष्कार आया, वाक्य गठन के अभिनव प्रयोग हुए। खड़ी बोली के प्रचार से सं० १९७५ के पश्चात् ब्रजभाषा का स्थान धीरे धीरे खड़ी बोली लेती चली गई। इसका आशय यह कदापि नहीं कि ब्रजभाषा रचना होना बन्द हो गया, आज भी ब्रजभाषा के सहस्रों कवि और साहित्यिक अवस्थित हैं। आधुनिक ब्रजभाषा के सात रूप मिलते हैं :—

(१) केन्द्रीय ब्रज—अलीगढ़, मथुरा पश्चिमी आगरा।
(२) बुन्देली से प्रभावित ब्रज—ग्वालियर के उत्तर पश्चिम में बोली जाती है।
(३) भदावरी ब्रज—आगरा का पूर्वी भाग एवं ग्वालियर में।
(४) जयपुरी से प्रभावित ब्रज—भरतपुर और उसके दक्षिण में बोली जाती है।
(५) सिकरवारी ब्रज—ग्वालियर के उत्तर पूर्व में।
(६) जादोवाटी ब्रज—करौली तथा चम्बल के भूभाग में।
(७) कन्नौजिया ब्रज—एटा, तहसील अनूपशहर और तहसील अतरौली।

खड़ी बोली का ब्रजभाषाकरण

आधुनिक ब्रजभाषा में खड़ी बोली के प्रयोगों को आत्मसात् करने की नवप्रवृत्ति आई है जो बोलचाल और लिखित दोनों ही रूपों में विद्यमान है। 'आधुनिक बोलचाल की ब्रजभाषा पर स्टैन्डर्ड हिन्दी का प्रभाव दिन दिन बढ़ता चला जाता है। व्याकरण रूप, शब्द समूह यहाँ तक कि वाक्य विन्यास में भी इस प्रभाव की छाया देखी जा सकती है। आगरा जिले की बोली के नमूनों से स्पष्ट पता चलता है कि इस क्षेत्र के काफी शिक्षित और संस्कृत लोग अब भी आपस की बोलचाल में ब्रजभाषा का प्रयोग करना पसन्द करते हैं, पर उनके भाव आधुनिक चिन्तन से सम्बद्ध हैं जिन्हें ठेठ ब्रजभाषा में समुचित रूप से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इसका फल यह होता है कि वक्ता के विचार तो स्टैण्डर्ड हिन्दी की शैली से लिये होते हैं पर उन्हें ब्रजभाषा में ढाला जाता है'।[१]

---

१. खड़ी बोली का ब्रजभाषाकरण—डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी-राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ५०५।

ब्रजभाषा की रचनाओं में भी यही प्रवृत्ति पनप रही है 'पूंछरी कौ लौठा' में तो ऐसे प्रयोगों की प्रबलता है।

आज भी ब्रजभाषा का प्रयोग करने वाले और बोलने वालों की संख्या संसार के अनेक राष्ट्रों की भाषाओं के बोलने वालों से अधिक है, आज भी यह जीवन्त भाषा है। इसमें रचना करने वालों की संख्या सहस्त्रों में है तथा साम्प्रतिक युग की सभी विधाओं का साहित्य सृजन होता है। भाषा की दृष्टि से नवीन प्रयोग, नवीन शिल्प और नव शब्दावली का समावेश, इसे प्रत्यात्मक रूप में उन्नत पथ पर प्रगामी बना रहा है।

खुसरो का जनकाव्य

⊙

श्री महावीर सिंह शर्मा

उर्दू के शेर को लोग किसी भी उपयुक्त अवसर पर सुना कर जहाँ अपनी बहुज्ञता का परिचय देते हैं वहाँ सभी का मनोरंजन भी करते हैं। उर्दू के शेरों की नाजुक खयाली और कवि का उक्ति वैचित्र्य जहाँ वाक् चातुरी का प्रतिदर्श होता है वहाँ उसमें जनमनग्राहकता भी प्रचुर मात्रा में होती है और वह श्रोता और पाठक के मानस पटल पर सहज ही अल्पायास से अंकित हो जाता है। भारतीय साहित्य नीति रचनाओं के क्षेत्र में, जिसमें मनोरंजन का अभाव रहता है पर मनोज्ञता बहुलांश में होती है, प्रभूत समृद्ध है। ज्ञान और मनोरंजन दोनों ही दृष्टियों से समृद्ध प्रकीर्ण साहित्य जिसे क्लब लिट्रेचर की कोटि में लिया जा सकता है की रचना हिन्दी में अल्पमात्रा में हुई है। विदेशी साहित्य ऐसी रचनाओं से भरापूरा है। इसका कारण तो यह है कि भारतीय मानस अध्यात्म की ओर प्रवृत्त था, उसे ऐहिक सुखों और लिप्साओं में रुचि न थी। फलतः भारत में ऐसा साहित्य प्रचुरमात्रा में सृजित नहीं हुआ परन्तु उसका सर्वथा अभाव भी नहीं रहा। हिन्दी के आदिकाल में इस विधा को पनपाने के प्रयास किये गये थे। उनके मूल में प्रेरणा फारसी और अरबी के साहित्य की ही रही परन्तु आपाततः वे भारतीय ही थे। वैभव और राजसी वातावरण में पोषित एवं जीवन यापन करने वाले कवि अमीर खुसरो हिन्दी के एक ऐसे कवि थे जिन्होंने जन मानस को उल्लसित करने वाले काव्य की रचना की। उन्होंने जहाँ सामान्य ज्ञानवान व्यक्तियों के लिए रचना की वहाँ स्त्रियों और बच्चों के मनोरंजन के लिए भी, साहित्यिक मानदण्डों के अनुसार वह श्रेष्ठ कोटि का तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें अश्लीलता की गंध आती है यद्यपि वह श्लील साहित्य है पर श्लीलता की सीमा का उल्लंघन उसमें पदे पदे दृष्टिगत होता है। खुसरो के इसी प्रकार के साहित्य का परिचय निम्न पंक्तियों में नीचे प्रस्तुत है :–

(१) कसके छाती पकड़े रहे। मुंह से बोले न बात कहै।
ऐसा है कामिनि का रंगिया। ऐ सखि साजन ना सखि अंगिया।

(२) पड़ी थी मैं अचानक चढ़ आयो। जब उतर्‌यो तो पसीनो आयो।
सहम गई नहिं सकी पुकार। ऐ सिख साजन ना सखि बुखार॥

(३) बन ठन के सिंगार करे। घर मुंह पर मुंह प्यार करे।
प्यार से मोपैं देत है जान। ए सखि साजन ना सखि पान॥

(४) छोटा मोटा अधिक सोहाना। जो देखे सो होय दिवाना।
कभी वह बाहर कभी वह अंदर। ऐ सखि साजन ना सखि बंदर॥

(५) वाको रगड़ा नीको लागे। चढ़े जोबन पै मजा दिखावै।
उतरत मुंह का फीका रंग। ऐ सखि साजन ना सखि भंग।

(६) रात समय वह मेरे आवे। भोर भये वह घर उठ जावे।
यह अचरज है सबसे न्यारा। ऐ सखि साजन ना सखि तारा॥

(७) लौंड़ी भेज उसे बुलवाया। नंगी होकर मैं लगवाया।
हमसे उससे हो गया मेल। ए सखि साजन ना सखि तेल॥

(८) मोको तो हाथी को भावे। घटे बढ़े पर मोय न सुहावे।
ढूंढ़ ढांढ़ के लाई पूरा। क्यों सखि साजन ना सखि चूड़ा॥

(९) न्हायधोय सेजमेरी आयो। ले चूंमा मुंह मुंहहिं लगायो।
इतनी बात पै थुक्कम थुक्का। ए सखि साजन ना सखि हुक्का॥

(१०) सारी रैन मोरे संग जागा। भोर भये तब बिछुरन लागा।
वाके बिछुरत फटै हिया। ए सखि साजन ना सखि दीया॥

(११) मेरा मुंह पौंछे मोकों प्यारे करे। गरमी लगें तो बयार करे।
ऐसा चाहत सुन यह हाल। ए सखि साजन ना सखि रूमाल॥

(१२) सेज पड़ी मेरी आंखों आया। डाल सेज मोहि मजा दिखाया।
किससे कहूं मजा मैं अपना। ए सखि साजन ना सखि सपना॥

(१३) बाट चलत मोरा अचरा गहे। मेरी सुने न अपनी कहे।
ना कुछ मोसो झगड़ा झांटा। ए सखि साजन ना सखि कांटा॥

(१४) धमक चढ़ै सुध बुध बिसरावे। दाबत जांघ बहुत सुख पावै।
अति बलवंत दिनन का थोड़ा। ए सखि साजन न सखी घोड़ा॥

(१५) उठा दोनों टांगन बिच डाला। नाप तोल में देखा भाला।
मोल तौल में है वह महंगा। ए सखि साजन ना सखि लंहगा॥

(१६) आठ अंगुल का है वह असली। उसके हड्डी ना उसके पसली।
लटा धारी गुरु का चेला। ए सखि साजन ना सखि केला॥

(१७) देखन में वह गांठ गठीला। चाखन में वह अधिक रसीला।
मुंख चूंमूं तो रस का भांडा। ए सखि साजन ना सखि गांडा॥

(१८) उमड़ घुमड़ कर वह जो आया। अंदर मैंने पलंग बिछाया।
मेरा वाका लागा नेह। ए सखि साजन ना सखि मेह॥

(१९) मुख मेरा चूमत दिन रात। होठ लागत कहत नहीं बात।
जासे मेरी जगत में पत। ऐ सखि साजन ना सखि नथ॥

(२०) सगरी रैन छतिअन पर राखा। रंग रूप सब वाका चाखा।
भोर भई जब दिया उतार। ए सखि साजन ना सखि हार॥

(२१) हुमक हुमक पकड़े मेरी छाती। हंस हंस मैं वा खेल खिलाती॥
चौक पड़ी जो पायो खड़का। ए सखि साजन ना सखि लड़का॥

इसी प्रसंग में दिल्ली की भटियारिन चम्मू के विषय में लिखा हुआ एक ढकोसला उद्धृत करना विषयानुकूल होगा। ढकोसला इस प्रकार है :—

"औरों की चौपहरी बाजे। चम्मू की अठपहरी।
बाहर का कोई कोई आए नांही। आएं सारे सहरी॥

साफ साफ करें आगे राखें, जा में नाहीं तूसल।
औरों के जहाँ सींक समाए, चम्मू के वहाँ मूसल॥

इस चम्मू भटियारिन के पास नगर के लुच्चे लफंगे भांग पीने जाते थे और जब कभी अमीर खुसरो उधर से निकलते थे वह हुक्का लेकर सामने खड़ी हो जाती थी। एक दिन उसने अमीर खुसरो से कहा कि बंदी के नाम पर भी कुछ कह दें। तब ही अमीर खुसरो ने यह ढकोसला लिखा। उन दिनों बादशाह के महल पर चौपहरी नौबत बजती थी पर चम्मू के यहाँ आठों पहर भांग घुटती रहती थी। भांग इतनी गाढ़ी बनती थी कि लोग कहते थे कि इसमें मूसल भी खड़ा रह सकता है। उक्त ढकोसला बड़ा जनप्रिय बना और अमीर खुसरो के सम्पर्क से चम्मू भटियारिन अमर हो गई।

स्त्रियों और बच्चों के लिए भी अनेक रचनाएँ अमीर खुसरो ने रचीं जो अत्यन्त रुचिकर हैं।